प्रचारक :
भारती पुस्तक मन्दिर
(चौबुर्जा) भरतपुर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण १९७०

मूल्य : बीस रुपये

प्रकाशक : भारती प्रकाशन
पुराना लक्ष्मण मन्दिर
भरतपुर (राजस्थान)

मुद्रक : शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस
अलवर (राजस्थान)

समर्पण !

मैंने इस ग्रन्थ का समर्पण श्री विष्णुदत्त शर्मा को किया था। वे राजस्थान में प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र-जीवन के मेरे एक मात्र सहपाठी थे। मेरे राजस्थान में आने पर इस पूर्व-सम्बन्ध को उन्होंने अभिज्ञान और अनुराग का जो बहुमान दिया उसकी आत्मीयता मेरे सम्पूर्ण जीवन की विभूति बन गई। राजस्थान सचिवालय के उच्च पदों पर रहते हुए, वे अपने एक शिक्षक और साहित्यकार सहपाठी को जो अनुराग एवं आदर देते रहे, वह आज स्मृति की अक्षय निधि बन गया !

उनके इस अनुराग का व्याज चुकाने के लिए मैंने इस ग्रन्थ को उन्हें समर्पित करना चाहा था। किन्तु नियति के वज्रपात ने उस समर्पण को अश्रुमयी श्रद्धाञ्जलि में बदल दिया। उनके आकस्मिक निधन ने परिवार के साथ-साथ एक विशाल सुहृद्वर्ग को अपार शोक-सागर में निमग्न कर दिया। शोक की करुणा से द्रवित होकर मेरे समर्पण की पुष्पाञ्जलि आज अश्रुमयी जलाञ्जलि बनकर उनकी उदार आत्मा का तर्पण कर रही है। इस विडम्बना की करुणा से पीड़ित उनका यह अकिंचन सहपाठी कवि आजीवन कल्पना के अन्तरिक्ष में स्मरण की अञ्जलि उनकी दिवंगत आत्मा को अर्पित करता रहेगा !

सन्दर्भ और समर्पण

सन्दर्भ—

'शिक्षा और संस्कृति' नामक इस ग्रन्थ में मेरे शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी निबन्धों का संकलन है। इनमें से कुछ निबन्ध संस्कृति, भारती, विश्वज्योति आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रन्थ के पूर्वार्ध में शिक्षा सम्बन्धी निबन्ध हैं और उत्तरार्ध में संस्कृति सम्बन्धी निबन्ध हैं। शिक्षा मनुष्य जीवन का संस्कार है। शिक्षा के द्वारा ही संस्कृति के आदर्श समाज में प्रतिष्ठित होते हैं। शिक्षा और संस्कृति के इसी सम्बन्ध के आधार पर शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी निबन्धों का संकलन इस ग्रन्थ में एकत्र किया गया है। आरम्भ के शिक्षा सम्बन्धी लेखों में शिक्षा के सजीव स्वरूप के विषय में कुछ सिद्धान्तों का विवेचन है। मध्य के कुछ निबन्धों में शिक्षा और संस्कृति के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृति सम्बन्धी आरम्भिक निबन्धों में संस्कृति के स्वरूप का निरूपण है। अन्तिम निबन्धों में जीवन, अन्तर्राष्ट्रीयता, मानवता, सभ्यता, कला, प्रकृति आदि के साथ संस्कृति के सम्बन्ध का विवेचन है।

इन निबन्धों में शिक्षा और संस्कृति के तत्वों के गम्भीर और विशद विवेचन का प्रयत्न किया गया है। भाषा और शैली के साहित्यिक सौन्दर्य की धुंधली छाया में तत्वों और सिद्धान्तों की रूपरेखाओं को धुंधला नहीं बनाया गया है। भाषा और शैली का सौन्दर्य अभीष्ट होते हुए भी विचारों की रेखाओं को स्पष्ट रखने का प्रयत्न किया गया है। शिक्षा के सम्बन्ध में जो मेरी धारणाएँ हैं, उनके स्रोत प्राचीन भारतीय शिक्षा में विद्यमान हैं और आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान भी उनका समर्थन करता है। संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ मौलिक स्थापनाएँ प्रकाशित करने का दुस्साहस मैंने किया है। अधिक विस्तृत और व्यवस्थित रूप से लिखने पर इन स्थापनाओं को अधिक मान्य रूप देने की कामना कुछ विलम्ब से ही पूरी हो सकेगी। तब तक इन निबन्धों में उन धारणाओं के संकेत देकर ही मैं सन्तुष्ट हूँ।

समर्पण—

'शिक्षा और संस्कृति' नामक इस ग्रन्थ का समर्पण मैंने अपने आत्मीय और सुहृद श्री विष्णुदत्त शर्मा को करना चाहा था, जो एक दीर्घकाल तक राजस्थान सरकार के शिक्षा सचिव रहे थे। हाल में वे सिंचाई आयुक्त थे। उनके आकस्मिक निधन ने मेरे इस समर्पण को श्रद्धांजलि में बदल दिया। वे राजस्थान में प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र-जीवन के मेरे एकमात्र सहपाठी थे। उच्च पदों पर रहते हुए भी वे अपने शिक्षक और साहित्यकार सहपाठी को बहुत अनुराग और आदर देते रहे। शिक्षा और संस्कृति के साथ उनका गहरा सम्बन्ध था, इसी नाते मैंने इस ग्रन्थ को उन्हें समर्पित करना चाहा था। शिक्षा की समस्याओं और आवश्यकताओं का उन्हें बहुत अनुभव था। शिक्षा-सचिव के रूप में एक दीर्घकाल तक वे जिस दृढ़ता और कुशलता के साथ राजस्थान की शिक्षा-नीति का संचालन करते रहे, उससे शिक्षा-विभाग से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोग परिचित हैं।

संस्कृति के प्रति भी उनका गहन अनुराग था। प्रयाग विश्वविद्यालय में वे दर्शन और संस्कृत के छात्र थे। संस्कृत-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष डा० प्रसन्नकुमार आचार्य के मानसार स्थापत्य के अनुरूप निर्मित 'स्वस्तिक भवन' की सांस्कृतिकता हम लोगों को बहुत प्रेरित एवं प्रभावित करती रही। मैं तो अपने सांस्कृतिक अनुराग को स्थापत्य का मूर्त्त रूप नहीं दे सका और उसे साहित्यिक रचनाओं में ही प्रकट कर सका हूँ। किन्तु श्री विष्णुदत्तजी ने जयपुर के अशोकनगर में मालवीय मार्ग पर स्थित अपने निवास को स्वस्तिक भवन का रूप देकर अपने सांस्कृतिक अनुराग को स्थापत्य के मूर्त्तरूप में स्थायी बनाया है।

शिक्षा और संस्कृति के अनुरागी अपने स्नेही सहपाठी को जीवन-काल में यह ग्रन्थ समर्पित कर मुझे जो प्रसन्नता होती वह नियति के विधान से आज करुणा की अश्रुपूर्ण श्रद्धांजलि बन गई है।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलेज
भरतपुर (राजस्थान)

रामानन्द तिवारी 'भारतीनन्दन'

अनुक्रम

१—शिक्षा और जीवन

समाज की व्यवस्था में 'शिक्षा' ज्ञान और जीविका के उपार्जन का साधन बन गई है। समाज की आर्थिक विषमताओं, कठिनाइयों और समस्याओं के कारण प्रायः जीविका ज्ञान से भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा शिक्षा व्यवस्था में तो जीविका ने ज्ञान को अत्यन्त अभिभूत कर दिया है। बेकारी की आशंका और जीविका के सम्बन्ध में अनिश्चय के कारण भविष्य की आर्थिक आशंकायें सम्पूर्ण शिक्षा-काल में युवकों को पीड़ित करती रहती हैं। इसीलिए उनकी धारणा में ज्ञान का अधिक महत्व नहीं रहता। वे परीक्षा और जीविका को ही शिक्षा का परम लक्ष्य मानने लगते हैं। परीक्षा का ज्ञान से सम्बन्ध है। परीक्षा में ज्ञान की ही परीक्षा होती है। किन्तु छात्रों की धारणा में ज्ञान का महत्व घट जाने के कारण परीक्षा और ज्ञान का स्वाभाविक एवं आवश्यक सम्बन्ध भी शिथिल हो रहा है। परीक्षार्थियों और परीक्षकों दोनों की ओर से अनेक प्रकार के अनुचित साधनों को अपनाने की प्रथा बढ़ती जा रही है। जीवन के अन्य पक्षों से तो शिक्षा का सम्बन्ध पहले से ही बहुत कम था। अब ज्ञान से भी उसका सम्बन्ध शिथिल हो रहा है। 'ज्ञान' व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन के उत्कर्ष का मुख्य मन्त्र है। अतः ज्ञान के गौरव का यह ह्रास हमारे ह्रास का कारण भी बन रहा है।

ज्ञान सात्विक होता है। सात्विकता के कारण वह निर्दोष होता है। निर्दोष होने के कारण वह पवित्र होता है। भगवद्गीता में भगवान ने कहा है कि संसार में ज्ञान के समान पवित्र कोई दूसरी वस्तु नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते—गीता ४-३८)। ज्ञान रूपी नौका के द्वारा मनुष्य समस्त पापों से पार हो सकता है (सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि—गीता ४-३६)। व्यापक अर्थ में जीवन के अन्य अनेक मूल्यों का समाहार ज्ञान में किया जा सकता है, किन्तु सीमित अर्थ में ज्ञान जीवन का एक अंग ही है। हमारी वर्तमान शिक्षा ज्ञान के महत्व को भी भली-भाँति सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं है। किन्तु सीमित अर्थ में ज्ञान वस्तुतः जीवन का सर्वस्व तथा शिक्षा का परम लक्ष्य नहीं है।

शिक्षा और संस्कृति

जीवन बहुत व्यापक है। शिक्षा केवल ज्ञान अथवा जीविका का उपार्जन नहीं है। वास्तविक अर्थ में शिक्षा सम्पूर्ण जीवन के परिष्कार एवं विकास की प्रणाली है। शिक्षा-शास्त्रों में व्यक्तित्व के संतुलित एवं सम्पूर्ण विकास को शिक्षा का लक्ष्य माना जाता है। वस्तुतः शिक्षा व्यक्तिगत जीवन की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण सामाजिक विकास का तन्त्र है। विकास ही जीवन है। वही जीवन का सार है, उसमें ही जीवन की सार्थकता एवं कृतार्थता है। अतः यह मानना उचित होगा कि शिक्षा ही जीवन है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य-जीवन मनुष्य के योग्य बनता है। व्यक्ति और समाज के जीवन में जो कुछ भी विकास हुआ है, वह शिक्षा के द्वारा ही हुआ है। सामाजिक जीवन में जो कुछ दोष, अभाव और अपूर्णतायें दिखाई देती हैं, वे शिक्षा के दोषों के कारण ही रह गई हैं, तथा वे शिक्षा में सुधार करके ही दूर की जा सकती हैं। शिक्षा जीवन के विकास का मार्ग होने के साथ-साथ स्वयं अपने सुधार और विकास का साधन भी है।

मनुष्य के जीवन और समाज में सभ्यता और संस्कृति की जो संभावनायें विकसित हुई हैं, उनके पीछे शिक्षा की प्रेरणा रही है। शिक्षा के सूत्र ही सभ्यता और संस्कृति के रंगीन वस्त्र बुनते रहे हैं, जिन्होंने पशु अथवा दानव के तुल्य मानव को ईश्वर की दिव्यता एवं कला का उत्तराधिकारी बनाया है। सभ्यता एवं संस्कृति के इन वस्त्रों ने ही पशुता का आवरण कर मनुष्य की उच्च साधनाओं को सम्भव बनाया है। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा की निरन्तर साधना ही मनुष्य को मनुष्यता की दिशा में बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही है। इस प्रकार हम शिक्षा को मनुष्य के मानवीय जीवन की प्रणाली और उसका पर्याय कह सकते हैं।

मनुष्य के जन्म और शारीरिक विकास की स्थिति ने शिक्षा के महत्व को अधिक बढ़ा दिया है। उसके मानसिक एवं सांस्कृतिक विकास की अपार सम्भावनाओं ने शिक्षा के महत्व को बढ़ाने के साथ-साथ शिक्षा और जीवन के सम्बन्ध को और घनिष्ठ बनाया है। पशुओं के जीवन की सम्भावनायें बहुत सीमित हैं। पशुओं में मन और बुद्धि का अत्यन्त अभाव चाहे न हो, किन्तु उनका मानसिक विकास अधिक नहीं होता। सामान्यतः संगति और अनुभव से उनका थोड़ा सा मानसिक विकास होता है, जो

उनके पशु जीवन के निर्वाह के लिए पर्याप्त होता है। पशुओं का यह मानसिक विकास व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। उस सीमित विकास की ही भावी पीढ़ियों में आवृत्ति होती रहती है। उनका यह मानसिक विकास ऐसी सामाजिक परम्परा नहीं बनता, जैसा कि मनुष्य का मानसिक विकास बन गया है। मनुष्य की विकासशील परम्परा की भांति पशुओं के जीवन में इस परम्परा का निरन्तर विकास भी नहीं होता। लाखों वर्षों से पशुओं का मानसिक विकास एक छोटी-सी सीमा में रुका हुआ है और उसी सीमा के बीच उस की व्यक्तिगत आवृत्ति होती रहती है।

इसके विपरीत मनुष्य के जीवन में मानसिक और सांस्कृतिक विकास की अनन्त सम्भावनायें उदित हुई हैं। मानसिक ही नहीं, मनुष्यों का शारीरिक विकास भी जन्म के बाद जीवन काल में पशुओं की अपेक्षा कहीं अधिक होता है अथवा यह कह सकते हैं कि प्रकृति के विधान में गर्भ के भीतर मनुष्य के मानसिक विकास की समृद्ध भूमिका बनती है। इसलिए मनुष्य का शारीरिक विकास पशुओं की भांति गर्भ में ही पूरा नहीं हो जाता, वरन् जीवन में पूरा होने के लिए शेष रह जाता है। मानसिक विकास का आधार मस्तिष्क है, वही मानसिक जीवन का पीठ है। मनुष्य के मस्तिष्क का आकार शरीर के अनुपात में पशुओं की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा होता है। गर्भ की अधिकांश शक्ति मस्तिष्क के निर्माण में ही लग जाती है। कदाचित् मस्तिष्क की वृद्धि जन्म के बाद अधिक नहीं हो सकती। गर्भ में मस्तिष्क की वृद्धि अधिक अपूर्ण रहने पर तथा जन्म के बाद शरीर की वृद्धि की भाँति यौवन पर्यन्त मस्तिष्क की वृद्धि होते रहने पर मनुष्य के जीवन में मानसिक विकास की इतनी अधिक सम्भावना कदाचित् न रहती। आरम्भ से ही पूर्ण-प्राय मस्तिष्क मिलने के कारण मनुष्य के जीवन में मानसिक विकास की चमत्कारी सम्भावनायें फलित होती हैं।

किन्तु आकार और भार की दृष्टि से मनुष्य का मस्तिष्क जन्म-काल में लगभग पूर्णतः विकसित होते हुए भी मानसिक विकास की समस्त सम्भावनायें धीरे-धीरे जीवन-क्रम में चरितार्थ होती हैं। दूसरी ओर जन्म के बाद शरीर के अंगों का विकास भी यौवन-पर्यन्त होता रहता है। इसी प्रकार जन्म के बाद मनुष्य का दुहरा विकास यौवन पर्यन्त होता रहता है।

बुद्धि का विकास तो मनोविज्ञानी यौवन के बाद नहीं मानते, किन्तु ज्ञान-सम्पत्ति, भाव, कला, संस्कृति, अध्यात्म आदि अनेक रूपों में मनुष्य का मानसिक विकास यौवन के बाद भी होना सम्भव है और होता है। शरीर के अंगों के विकास के साथ-साथ शारीरिक क्रियायें और कुशलतायें भी मनुष्य का बालक जन्म के बाद धीरे-धीरे सीखता है। पशुओं के बालकों की भाँति ये क्रियायें और कुशलतायें उसे जन्म से ही प्राप्त नहीं रहतीं। पशुओं के बालक जन्म से ही चलते, दौड़ते, तैरते हैं। मनुष्य का बालक दो पैरों पर अच्छी तरह चलना भी काफी समय में सीखता है। तैरना तो उसके लिए एक कठिन कला बन जाती है। सभ्यता के विकास-क्रम में क्रीड़ा, उद्योग, व्यवसाय आदि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शारीरिक कुशलतायें मनुष्य के लिए एक समृद्ध शिक्षा का विषय बन गई हैं। इन कुशलताओं को प्राप्त करने में मानसिक दक्षता का योग भी देना पड़ता है। इनके अतिरिक्त अधिक प्रखर रूप से मानसिक विकास के अनन्त क्षितिज सभ्यता की प्रगति के साथ खुलते रहे हैं।

शरीर के अंगों की वृद्धि, शारीरिक कुशलता तथा मानसिक विकास की इन समस्त सम्भावनाओं को देखने पर मनुष्य का जीवन विकास का पर्याय-सा जान पड़ता है। ऐसा विदित होता है मानों विकास ही जीवन है तथा विकास जीवन का दूसरा नाम है। शारीरिक विकास की तो एक सीमा भी होती है, जो यौवन तक जाकर पूर्ण हो जाती है। मानसिक विकास भी यौवन तक बहुत कुछ परिपूर्ण हो जाता है, किन्तु यौवन के बाद भी उस विकास की गति बनी रहती है। विज्ञान, साहित्य, विद्या, भाव, कला, संस्कृति, अध्यात्म आदि अनेक दिशाओं में विकास के अनन्त क्षितिज जीवन की धरती के छोरों पर फैलते जाते हैं। मनुष्य के इस समस्त विकास में भाषा का विशेष स्थान है। भाषा इस विकास का मुख्य सूत्र है। आरम्भ से ही भाषा के इस सूत्र के सहारे ही मनुष्य प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है। मनुष्य की भाषा ध्वनियों के संकेतों का संग्रह मात्र नहीं रह गई है। इन संकेतों में मानसिक, बौद्धिक तथा अर्थ एवं भाव सम्बन्धी सूक्ष्म और गम्भीर तत्वों का समवाय हुआ है। भाषा का यह सरल और सूक्ष्म सूत्र विकसित और सुदृढ़ होकर जीवन के लक्ष्यों के उच्च शिखरों से प्रवाहित होने वाली अनेक वेगवती धाराओं को पार करने

के लिए रज्जु-सेतु के समान बन गया है। भाषा के इस सेतु के द्वारा ही जीवन की तीर्थ यात्रा के अभिलाषी साधक कला के किन्नर लोक और संस्कृति के गन्धर्व लोक तथा अध्यात्म के मानसरोवर एवं कैलास तक पहुँचते हैं।

अस्तु विपुल शारीरिक एवं मानसिक विकास ही मनुष्य के जीवन का वास्तविक एवं आदर्श रूप है। विकास के इस सामान्य रूप को ही सार्थक जीवन की संज्ञा देना उचित है। शिक्षा इस विकास की प्रणाली है। शिक्षा के द्वारा ही यह विकास सम्भव होता है। एक प्रकार से विकास का नाम ही शिक्षा है। परिवार और समाज के वातावरण से जन्म काल से ही बालक को शिक्षा मिलती है। शिक्षा ग्रहण करना उसका सहज स्वभाव है। अध्यापन के रूप में उसे जो शिक्षा दी जाती है, वह इस व्यापक शिक्षा का ही एक विशेष और सीमित रूप है। व्यापक और विशेष दोनों ही रूपों में मनुष्य के जीवन में शिक्षा का विशेष महत्व है। यदि जीवन विकास है और विकास ही जीवन है तथा यह विकास शिक्षा के द्वारा सम्भव होता है, तो जीवन, विकास और शिक्षा एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। शिक्षा विकास का साधन अथवा विकास की प्रणाली ही नहीं है, वरन् वह जीवन का स्वरूप है। अत: शिक्षा को जीवन का एक अंग तथा जीवन और जीविका का साधन मानना अनुचित है। कुछ अंश में उसको ऐसा माना जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण और व्यापक रूप में शिक्षा जीवन का पर्याय ही है।

विकासशील जीवन के साथ शिक्षा का कितना तादात्म्य है, यह वृक्षों के विकास में भी प्रकट होता है। वृक्ष जीवन के निम्नतम रूप हैं, उनमें पशुओं के समान गति और चेतना भी नहीं होती। किन्तु वृक्षों में भी विकास के रूप में ही जीवन चरितार्थ होता है। वे बढ़ते हैं और ऊपर की ओर बढ़ते हैं। वे बढ़ते ही नहीं फलते-फूलते भी हैं। उनके फल-फूल सफलता की अनन्त परम्परा का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञानों, कला-साहित्य, संस्कृति-अध्यात्म आदि के फल-फूलों की अनन्त परम्परा के निर्माण में ही मनुष्य समाज का विकासशील जीवन सार्थक होता है। शिक्षा जीवन की इसी सार्थकता की साधना है। सामान्य और व्यापक अर्थ में वह जीवन और विकास का पर्याय है।

किन्तु अनेक विशेष रूपों में भी शिक्षा जीवन के विकास, उसकी सफलता और उसकी सार्थकता को परिपूर्ण बनाने में योग देती है। जीवन बहुत व्यापक है। मनुष्य-जीवन के विकास की बहुमुखी सम्भावनाएँ जीवन की एक समृद्ध एवं सम्पन्न धारणा को उन्मीलित करती हैं। शारीरिक एवं भौतिक धरातलों से लेकर क्रीड़ा, कला, साहित्य, विज्ञान, संस्कृति, धर्म, अध्यात्म आदि के ऊर्ध्व लोकों तक जीवन का अनन्त विश्व फैला हुआ दिखाई देता है। इन सब लोकों की विजय के लिए चन्द्र-यानों का निर्माण और चन्द्रयात्रियों का प्रशिक्षण ही शिक्षा का दायित्व है।

जीवन के साथ शिक्षा का केवल इतना ही सामान्य सम्बन्ध नहीं है कि जीवन विकासशील है तथा शिक्षा जीवन के विकास की प्रणाली है। इस सामान्य सम्बन्ध के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की विविध सम्भावनायें और बहुमुखी आकांक्षाएँ भी शिक्षा के द्वारा ही पूर्ण होती हैं। जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास के द्वारा ही जीवन का विकास सर्वांगीण बनता है। इस सर्वांगीण विकास में ही जीवन पूर्ण होता है। बौद्धिक शिक्षा इस सम्पूर्ण विकास का एक अङ्ग है। जीवन में बुद्धि का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि ही जीवन की आस्था है। वही आत्मिक और लौकिक जीवन के बीच का सेतु है, जो जीवन के इन दोनों पक्षों का समन्वय कर आत्मा के अनुग्रह से लौकिक जीवन का उन्नयन करता है तथा आत्मिक भाव को साक्षात् जीवन में मूर्तिमान बनाता है। किन्तु इस सेतु के रूप में बौद्धिक शिक्षा भी अधिक विकसित नहीं हुई है। बौद्धिक ज्ञान का विकास लौकिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ही अधिक हुआ है। आत्मा के साथ बुद्धि तथा इन लौकिक क्षेत्रों के सम्बन्ध सूत्र का अनुसंधान बहुत कम हुआ है। भारतीय वेदान्त को ही इस अनुसंधान का प्रमुख श्रेय दिया जा सकता है। वेदान्त में भी आत्मा के स्वरूप का ही अनुसंधान अधिक हुआ है। लौकिक क्षेत्रों का वेदान्त में तिरस्कार ही किया गया है। आत्मा के साथ इनके अन्वय को वेदान्त में सम्भव और वांछनीय नहीं माना गया।

शिक्षा के क्षेत्र में जिस बौद्धिक ज्ञान का विकास हुआ है, वह लौकिक विषयों को स्वतन्त्र और अपने आप से पूर्ण मानकर उनका

अध्ययन करता है। इस अध्ययन की प्रणाली बौद्धिक और वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने जहाँ एक ओर ज्ञान को तटस्थ और निष्पक्ष बनाया है, वहाँ दूसरी ओर जीवन के दृष्टिकोण को भी अधिक विषयनिष्ठ बना दिया है। विषय सत्ता का निम्नतम रूप है। विषयनिष्ठ दृष्टिकोण के प्रभाव से ही जीवन की अधोगति हो रही है तथा सभ्य समाज में जीवन को निरर्थक एवं निष्फल बनाने वाली विडम्बनायें बढ़ रही हैं। शिक्षा के बौद्धिक दृष्टिकोण से जीवन में बौद्धिकता बढ़ रही है। बुद्धि नीरस और उदासीन है। अपने में रूढ़ होकर वह अधोवर्ती विषयों का विश्लेषण तो कर सकती है, किन्तु ऊर्ध्ववर्ती आत्मा के अनुग्रह के बिना इन विषयों का उन्नयन करके जीवन को सरस और सार्थक नहीं बना सकती। ऐसी कृतार्थता बुद्धि को आत्मा का सेतु बनकर ही मिल सकती है।

बौद्धिकता और विषयनिष्ठता की प्रधानता के कारण हमारी शिक्षा एकांगी और नीरस बन गई है। विषयनिष्ठता के द्वारा उपयोगिता की दिशा में शिक्षा का विकास अवश्य हुआ है। इससे सफलता और सुख की समृद्धि भी हुई है। किन्तु यह उपयोगिता मुख्यतः भौतिक है, इससे आन्तरिक जीवन का सन्तोष नहीं होता। आत्मा का सेतु बनकर ही बुद्धि जीवन के पूर्णतर सन्तोष का सूत्र बन सकती है। शिक्षा को अधिक सन्तुलित और अधिक सफल बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था में जीवन के अन्य पक्षों को भी उचित स्थान देना आवश्यक है। भौतिक विषयों, शरीर, मन, समाज आदि का स्वतन्त्र विषयों के रूप में अध्ययन करने के साथ-साथ साक्षात् जीवन के पक्षों के रूप में भी उनका अध्ययन अपेक्षित है। शिक्षा के ऐसे दृष्टिकोण को अपनाने के लिए इन सबका जीवन के साथ समन्वय करना होगा। इस समन्वय का सूत्र अन्ततः आत्मिक होगा। किन्तु इसके साथ-साथ जीवन के विभिन्न पक्षों की प्रत्यक्ष भूमियों पर ज्ञान के विषयों की प्रतिष्ठा करनी होगी।

जीवन के जिन विभिन्न पक्षों के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है, उनमें जीविका, क्रीड़ा, कला, संस्कृति, परिवार, दाम्पत्य, समाज, राजनीति प्रशासन, व्यवसाय आदि को मुख्य माना जा सकता है। इनको अध्ययन के विषय के रूप में तो शिक्षा-व्यवस्था में कुछ स्थान दिया गया है, किन्तु साक्षात् जीवन के साथ इनका अधिक सफल समन्वय नहीं हो सका है।

जीविका जीवन के निर्वाह का आवश्यक साधन है। वह हमारी शिक्षा का परम लक्ष्य बन गई है। अधिकांश विद्यार्थी जीविका के लिए ही पढ़ते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान का इतना महत्व नहीं है। किन्तु यह जीविका के साथ शिक्षा का समुचित समन्वय नहीं है। सम्पूर्ण शिक्षा जीविका के लिए नहीं हो सकती। अतः शिक्षा, ज्ञान और शिक्षाकाल के एक अंश से जीविका का प्रयोजन पूर्ण होने पर ही जीविका के भौतिक पक्ष से शिक्षा के व्यापक उद्देश्य का समुचित समन्वय हो सकता है। राजनीति, प्रशासन, व्यवसाय आदि भौतिक एवं लौकिक विषयों का भी शिक्षा एवं जीवन के साथ ऐसा ही सामंजस्य अपेक्षित है।

खेल-कूद और क्रीड़ा को मुख्यतः शारीरिक व्यायाम माना जाता है। व्यायाम के रूप में ही इनका कुछ प्रचार है। किन्तु व्यायाम के साथ-साथ ये जीवन में कला और लीला के आनन्द का समवाय करते हैं। व्यायाम के रूप में भी सभी छात्रों के लिए खेल-कूद की व्यवस्था नहीं है। व्यायाम के अतिरिक्त जीवन के लीलापक्ष के रूप में इनका समन्वय शिक्षा में अपेक्षित है। लीला के सूत्र से नृत्य, संगीत, अभिनय आदि की कलाओं के साथ भी इनका समन्वय हो सकता है, तथा कला के सौन्दर्य का जीवन में समवाय हो सकता है। कलाएँ केवल अध्ययन का विषय नहीं हैं। उनकी व्यावहारिक शिक्षा ही जीवन में कला का सौन्दर्य समन्वित करती है। हमारी शिक्षा में बौद्धिक ज्ञान की प्रमुखता है। कलाओं की व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था विद्यालयों में बहुत कम है। नृत्य, संगीत आदि को बालिकाओं का विषय समझा जाता है। जीवन के साथ शिक्षा के समुचित सामंजस्य के लिए तथा शिक्षा को पूर्णतर बनाने के लिए विद्यालयों में कलाओं की व्यापक व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता है।

भौतिक और लौकिक विषयों को शिक्षा के एक अंश में समाहित करके ही क्रीड़ा, कला, संस्कृति आदि जीवन के अन्य पक्षों की सन्तोष-जनक साधना हो सकती है। क्रीड़ा और कला की व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा जीवन की सांस्कृतिक भूमिका बनाई जा सकती है। संस्कृति जीवन का एक अङ्ग मात्र नहीं है, वह कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की सामूहिक संज्ञा भी नहीं है। अपने पूर्ण रूप में संस्कृति समृद्ध जीवन का पर्याय है। भाव और सौन्दर्य की अपार निधि के द्वारा संस्कृति

जीवन को समृद्ध बनाती है। भौतिक और बौद्धिक जीवन के सन्तुलित समन्वय के द्वारा तथा क्रीड़ा एवं कला की व्यावहारिक शिक्षा के सूत्र से जीवन की परिणति संस्कृति में होती है। अपने पूर्णरूप में शिक्षा इसी परिणति की प्रणाली है। इसी परिणति में कृतार्थ होकर शिक्षा मानवीय जीवन और उसके विकास का प्रशंसनीय पर्याय बनती है।

२–शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना कई प्रकार से की जा सकती है। शिक्षा के पाठ्यक्रम में संस्कृति को अध्ययन का एक विषय माना जाता है। संस्कृति के स्वतन्त्र एवं परिपूर्ण विषय की कल्पना तो अभी हमारे शिक्षा अधिकारी नहीं कर सके हैं। फिर भी संस्कृति, इतिहास और समाजशास्त्र के विषयों के अन्तर्गत एक प्रश्नपत्र अथवा प्रश्नपत्र के एक अंश के रूप में संस्कृति को पाठ्यक्रम में कुछ स्थान दिया जाता है। एक प्रश्नपत्र अथवा उसके एक अंश के रूप में संस्कृति को स्थान देना, उसका सम्मान नहीं वरन् वस्तुतः संस्कृति का अनादर और अवमूल्यन है। संस्कृति का यह आंशिक अध्ययन बहुत कुछ ऐतिहासिक होता है तथा संस्कृति को अतीत की सम्पत्ति मानता है। इस अध्ययन में मुख्यतः प्राचीन संस्कृति का ही परिचय होता है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन में संस्कृति को कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की सामूहिक संज्ञा माना जाता है। उक्त दोनों ही कारणों से संस्कृति के उस सजीव और व्यापक रूप को ध्यान नहीं दिया जाता, जिसमें संस्कृति के सम्पूर्ण जीवन के समृद्ध एवं सुन्दर रूप का पर्याय बन जाती है।

कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि भी संस्कृति के रूप हैं। वे मनुष्य के सांस्कृतिक अध्यवसाय के ही फल हैं। किन्तु इन आंशिक रूपों के अतिरिक्त संस्कृति का एक सामान्य और व्यापक रूप भी है, जिसमें संस्कृति सम्पूर्ण जीवन को अपने सौन्दर्य में समाहित करके समृद्ध जीवन की संज्ञा बन जाती है। कला, साहित्य आदि जीवन के पक्ष हैं, किन्तु वे समस्त जीवन के पर्याय नहीं हैं। दूसरे इनमें जीवन को विषय बनाया जाता है। इनमें जीवन का अंकन होता है। ये साक्षात् जीवन के रूप नहीं हैं। इसके विपरीत संस्कृति का एक दूसरा रूप है, जो जीवन को विषय नहीं बनाता, वरन् साक्षात् जीवन को अपना सौन्दर्य समर्पित करके उसे समृद्ध बनाता है। इसे हम जीवन्त संस्कृति का नाम दे सकते हैं। लोक-संस्कृति इसका उदाहरण है। इसकी तुलना में कला, साहित्य आदि की आंशिक संस्कृति को अभिजात संस्कृति कह सकते हैं।

यह जीवन्त संस्कृति भारतवर्ष में सबसे अधिक समृद्ध रूप में विकसित हुई है। अन्य देशों में इसका इतना अधिक विकास नहीं हो सका। इसीलिए संस्कृति के पश्चिमी परिभाषा में इसको प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सका तथा कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की सामूहिक संज्ञा के रूप में ही संस्कृति की धारणा अधिक प्रचलित हो गई। संस्कृति की इसी सामूहिक धारणा के अनुरूप ग्रन्थों में संस्कृति का विवेचन किया जाता है तथा पाठ्यक्रम में उसका अध्यापन होता है। संस्कृति के इस रूप को भी इतिहास, समाजशास्त्र आदि में एक प्रश्नपत्र का स्थान दिया जाता है। कदाचित् ही किसी विश्वविद्यालय में संस्कृति को एक सम्पूर्ण विषय का स्थान दिया गया है।

संस्कृति की इस सामूहिक धारणा में जीवन्त संस्कृति की ही नहीं, वरन् संस्कृति के अन्य कई पक्षों की उपेक्षा हो जाती है, जो संस्कृति की धारणा को पूर्ण बनाते हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम में एक सम्पूर्ण धारणा के रूप में संस्कृति को एक स्वतन्त्र विषय का स्थान मिलना चाहिए। शिक्षा के साथ संस्कृति के सम्बन्ध का यह केवल एक रूप है। इस रूप में भी शिक्षा में संस्कृति को उचित स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि पाठ्यक्रम में संस्कृति को एक परिपूर्ण और स्वतन्त्र विषय का स्थान नहीं मिला है। एक प्रश्नपत्र के रूप में जो कुछ भी अधूरा-सा स्थान संस्कृति को मिला है, उसमें भी जीवन्त संस्कृति तथा संस्कृति के व्यापक स्वरूप स्वरूप का विवेचन आदि पक्ष समाहित नहीं हो सके हैं। कला, साहित्य, धर्म आदि की सामूहिक संज्ञा के रूप में प्राचीन संस्कृति का विवेचन ही इसमें स्थान पा सका है। अतः शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी संस्कृति को अधिक परिपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है।

शिक्षा का एक विषय होने के अतिरिक्त संस्कृति का शिक्षा के साथ अन्य कई प्रकार का सम्बन्ध है। पाठ्यक्रम की दृष्टि से संस्कृति शिक्षा का एक विषय अर्थात् अंग है। किन्तु एक दूसरी दृष्टि से शिक्षा को भी संस्कृति का एक अंग माना जा सकता है। संस्कृति की संकलनात्मक धारणा में कला, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि के साथ शिक्षा को भी संस्कृति के एक पक्ष के रूप में स्थान दिया जाता है। संस्कृति की परिधि में शिक्षा को सम्मिलित कर शिक्षा प्रणाली की चर्चा की जाती है। सामान्यतः

शिक्षा को ज्ञान का उपार्जन कह सकते हैं। ज्ञान जीवन के विकास का साधन है तथा जीवन का एक लक्ष्य भी है। ज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज है। एक ओर ज्ञान के प्रकाश से जीवन के विविध पक्ष विकसित होते हैं तथा दूसरी ओर ज्ञान का अनुराग जीवन की साधना बन जाता है। सत्य के प्रति अनुराग से ही ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है। शेषनाग के फणों की भाँति इस ज्ञान की अनन्त शाखाएँ हैं। मुख्यत: यह ज्ञान बौद्धिक होता है। किन्तु श्रेय और सौन्दर्य की भाँति जीवन के उन लक्ष्यों को भी अनुसंधान का विषय बनाया जाता है, जो पूर्णत: बौद्धिक नहीं होते। किन्तु सत्य जीवन का सर्वस्व नहीं है। श्रेय और सौन्दर्य का भी जीवन में स्थान है। यदि संस्कृति सम्पूर्ण जीवन का परिष्कार एवं निर्माण है, तो नि:सन्देह ज्ञान के उपार्जन और सत्य के अनुसन्धान के रूप में शिक्षा संस्कृति का केवल एक अंग है।

किन्तु शिक्षा को केवल बौद्धिक ज्ञान के अर्थ में न लेकर जीवन के व्यापक रचनात्मक और व्यावहारिक निर्माण के रूप में समझा जाय, तो 'शिक्षा' संस्कृति की प्रणाली बन जाती है। संस्कृति मुख्यत: सत्य के आधार पर जीवन में श्रेय और सौन्दर्य का अनुष्ठान है। जिस प्रणाली के द्वारा जीवन में श्रेय और सौन्दर्य का अनुष्ठान किया जाता है, उसे शिक्षा ही कहा जा सकता है। 'शिक्षा' के शब्द में ही जीवन के विकास का यह रचनात्मक संस्कार अन्तर्निहित है। 'शिक्षण' अथवा 'प्रशिक्षण' में यह संस्कार अधिक स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा और संस्कार के द्वारा ही मनुष्य का जीवन विकसित होता है। इसी विकास को सभ्यता और संस्कृति का नाम दिया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन इसी विकास के द्वारा समृद्ध होता है। सभ्यता और संस्कृति जीवन की इसी समृद्धि का नाम है। शिक्षा इस समृद्धि की प्रणाली है। व्यावहारिक कौशल की ही नहीं, कलाओं की भी शिक्षा होती है। शिक्षा प्राकृत मनुष्य को सभ्यता और संस्कृति के लोक तक पहुँचाने वाला सेतु है। इसके बिना मनुष्य का जीवन पशुओं के समान रह जाएगा। समाज और शिक्षा से बिछुड़ कर वन में पशुओं के साथ पले हुए कुछ अद्भुत और अभागे बालकों के उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। शिक्षा आध्यात्मिक संस्कार की एक सामाजिक परम्परा है। इस परम्परा के

प्रभाव से ही मनुष्य के बालक की विकासमुखी सम्भावनाएँ फलित होती हैं तथा एक प्राकृतिक जीव सभ्य एवं संस्कृत मनुष्य बनता है। यह शिक्षा का व्यापक रूप है। इस व्यापक रूप में शिक्षा जीवन की संस्कृति का व्यापक साधन बन जाती है। संस्कृति साध्य है तथा शिक्षा उसका साधन है।

संस्कृति का साधन होते हुए भी शिक्षा में कुछ वे मौलिक तत्व अन्तर्निहित रहते हैं, जो शिक्षा को साध्य बनाते हैं। आत्मिक संकल्प इनमें मुख्य है। इन तत्वों से शिक्षा को साध्य के अनुरूप गौरव भी मिल जाता है। संकल्प ही मनुष्य के विकास का मुख्य सूत्र है। संकल्प मूलतः आत्मिक अध्यवसाय है, यद्यपि वह प्राकृतिक क्रियाओं एवं व्यावहारिक मार्गों में ही फलित होता है। मनुष्य की जो क्रियायें सहज प्राकृतिक विधानों से प्रेरित होती हैं, उनमें संकल्प का मुख्य योग नहीं होता। यदि उनमें संकल्प का कुछ योग दिखाई भी देता है, तो वह संकल्प प्राकृतिक प्रेरणा का अनुगामी रहता है। जीवन के सामान्य रूपों में प्रायः प्राकृतिक प्रेरणा का ही प्रभाव अधिक रहता है। किन्तु जीवन के परिष्कृत, उन्नत और संस्कृत रूप के लिए आत्मिक संकल्प की प्रधानता अपेक्षित होती है। संस्कृति इसी संकल्प का फल है। शिक्षा भी संकल्प के सूत्र से ही संचालित होती है।

संस्कृति में सत्य के पीठ पर श्रेय और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है। श्रेय जीवन का मंगल एवं कल्याण है। सौन्दर्य जीवन का रमणीय रूप है। मनुष्य के मन में सौन्दर्य की कुछ स्वाभाविक रुचि अवश्य होती है, किन्तु शिक्षा की परम्परा के बिना वह फलित नहीं होती। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। उपयोगिता से अतीत होने के कारण वह विरोध एवं संघर्ष का कारण नहीं बनता। विरोध एवं संघर्ष उपयोगिता के क्षेत्र में ही होते है। उपयोगिता का सम्बन्ध मुख्यतः तत्व से होता है। श्रेय अथवा शिवम् पूर्णतः उपयोगिता से अतीत नहीं होता, वह उपयोगिता का समुचित समाधान करके उपकार के रूप में उसका अतिक्रमण करता है। किन्तु उपकृत की दृष्टि से उपकार भी उपयोगिता बन जाता है। तत्व उपयोगिता का उपादान है, वह पूर्णतः तो नहीं किन्तु अधिकांश में प्राकृतिक होता है। अतः शिवम् में विरोध और संघर्ष की सम्भावना अधिक रहती है। इसी-

लिए शिवम् के अनुष्ठान के लिए संकल्प की अधिक आवश्यकता होती है। तन्त्रों में संकल्प को ही इच्छाशक्ति का नाम दिया है। शिव को शक्ति से अभिन्न मानने का यही रहस्य है।

जीवन के निर्माण में श्रेय अथवा शिवम् शील एवं चरित्र का रूप ग्रहण करता है। चरित्र नैतिक गुणों की समष्टि है। मनुष्य का सहज संस्कार बन कर वह शील बन जाता है। आचार उसका व्यावहारिक रूप है। नैतिकता उसका लक्षण है। मानवीय व्यवहार की नीति का अभीष्ट आधार होने के कारण शील अथवा चरित्र नैतिक कहलाता है। यह नैतिकता आत्मिक संकल्प के द्वारा प्रकृति के वेग को मर्यादित एवं अनुशासित करने से ही प्राप्त होती है। यह मर्यादा और अनुशासन आत्मिक संकल्प के द्वारा ही सम्भव होते हैं। शिक्षा इस अनुशासन की प्रणाली है। सौन्दर्य की साधना और कलाओं की शिक्षा में भी यह संकल्प अपेक्षित होता है, क्योंकि चाहे सौन्दर्य के निरुपयोगी होने के कारण उसकी साधना सामाजिक संघर्ष का कारण भले ही न बने किन्तु सौन्दर्य के निरुपयोगी होने के कारण उसकी साधना के लिए प्राकृतिक स्वार्थ के अनुराग को सीमित करने का संघर्ष करना पड़ता है, जो संकल्प के द्वारा ही सम्भव होता है। इस प्रकार ज्ञान के उपार्जन, श्रेय के सम्पादन और सौन्दर्य की साधना— इन तीनों ही अर्थों में आत्मिक संकल्प से प्रेरित शिक्षा ही जीवन को सुसंस्कृत बनाती है। संस्कृति के साधन के रूप में आरम्भ होकर अनन्तः वह स्वयं संस्कृति के ही रूप में परिणत होकर संस्कृति का पर्याय बन जाती है।

संस्कृति के साथ शिक्षा के सम्बन्ध का एक अन्य रूप कलाओं की व्यावहारिक शिक्षा तथा विद्यार्थियों के जीवन में संस्कृति के विभिन्न रूपों का व्यावहारिक समन्वय है। कलाओं की शिक्षा को हमारे पाठ्य-क्रम में बहुत कम स्थान मिला है। कन्या-विद्यालयों में संगीत की कुछ शिक्षा होती है। नृत्य तथा अन्य कलाओं की शिक्षा का बहुत कम प्रबन्ध है। कलाओं की शिक्षा को पुरुषों के योग्य नहीं माना जाता। युवकों के विद्यालयों में कलाओं की शिक्षा का बहुत कम प्रबन्ध है। जीवन्त संस्कृति के अन्य रूपों का तो मानों विद्यालयों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सांस्कृतिक पर्वों के अवसर विद्यालयों में अवकाश के दिन माने जाते हैं तथा

उन दिनों विद्यालय बन्द रहते हैं। संस्कृति की जीवन्त धारा से मानों हमारी शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा और संस्कृति के सम्बन्ध की घनिष्ठता को चरितार्थ करने के लिए यह आवश्यक है कि बालिकाओं और युवकों के विद्यालयों में विभिन्न कलाओं की शिक्षा की व्यापक व्यवस्था हो, सभी विद्यालयों में अभिनय के मंच हों तथा विद्यालयों में सांस्कृतिक पर्वों के समारोह आयोजित हों। शिक्षा केवल ज्ञान का उपार्जन नहीं है, वह जीवन का सर्वांगीण विकास है। कलाओं की व्यापक शिक्षा तथा सांस्कृतिक समारोहों के आयोजन से शिक्षा अधिक परिपूर्ण बनकर अधिक सर्वांगीण बन सकेगी।

आधुनिक युग में एक नवीन रूप में कला और संस्कृति को शिक्षा-व्यवस्था में स्थान मिला है। प्रायः सभी विद्यालयों में कुछ कार्य-क्रम होते हैं, जिन्हें 'सांस्कृतिक' कहा जाता है। इन समारोहों में संगीत, नृत्य, अभिनय आदि की कलाओं का प्रदर्शन होता है। इसी प्रदर्शन को सांस्कृतिक कहा जाता है। युवक-समारोह में भी ऐसे ही कार्यक्रम होते हैं। इन आयोजनों और समारोहों में कला के कुछ रूपों को ही संस्कृति का सर्वस्व मान लिया जाता है। कला संस्कृति का एक अंग अवश्य है, किन्तु वह संस्कृति का सर्वस्व नहीं है। कलाओं के औपचारिक प्रदर्शन में संस्कृति चरितार्थ नहीं होती। स्वतंत्र सामाजिक संकल्प ही संस्कृति की प्रेरणा है। इन आयोजनों और समारोहों में औपचारिकता अधिक रहती है, जो इनके अंशतः सांस्कृतिक रूप को भी मन्द बनाती है। औपचारिकता के अतिरिक्त इन आयोजनों और समारोहों में मनोरंजन का उद्देश्य अधिक रहता है। अधिकांश छात्र इन समारोहों में केवल दर्शक का स्थान पाते हैं और मनोरंजन के ही अभिलाषी होते हैं। कलाओं की समुचित शिक्षा न होने के कारण वे कलाओं के सौन्दर्य का भी अधिक आस्वादन नहीं करते। मनोरंजन भी कला एवं संस्कृति का सहज फल है किन्तु केवल मनोरंजन का उद्देश्य इनके साध्य पद का अनादर कर इनका मूल्य कम करता है। कला और संस्कृति के उदात्त आनन्द का तरंगे मनोरंजन के रूप में सहज ही विलसित होती हैं। कलाओं की व्यापक शिक्षा होने पर तथा विद्यालयों में सांस्कृतिक पर्वों का समायोजन होने पर ही संस्कृति के साथ शिक्षा का समुचित समन्वय हो सकता है और

सभी विद्यार्थी सांस्कृतिक सौन्दर्य एवं आनन्द के समान रूप से भागी बन सकते हैं।

यह सत्य है कि नृत्य और गान कला के श्रेष्ठ रूप हैं तथा कला का संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। यह भी सत्य है कि कला शिक्षा का आवश्यक अंग है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कला संस्कृति का सर्वस्व नहीं है। संस्कृति जीवन की एक व्यापक कल्पना है, जिसमें कला केवल एक अंग है। संस्कृति की कल्पना में मानव प्रकृति का जो परिष्कार और उत्कर्ष अपेक्षित है उसको देखते हुए कला के प्रचलित रूपों का उसके अन्तर्गत समाधान भी सरल नहीं है। शिक्षा और संस्कृति का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शिक्षा में कला का रूप और स्थान तथा संस्कृति के साथ शिक्षा और कला का सम्बन्ध विचारणीय है।

शिक्षा, कला और संस्कृति की धारणायें एक दूसरे से सम्बन्ध होते हुए भी कुछ भिन्न हैं। शिक्षा मुख्य रूप से ज्ञान का उपार्जन है। सत्य ज्ञान का लक्ष्य है। अतः शिक्षा सत्य की साधना है। कला प्रधानतः सौन्दर्य की आराधना है। संस्कृति की व्यापक कल्पना में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तीनों का समाहार है। संस्कृति की कल्पना में सत्यम् और सुन्दरम् का शिवम् में समन्वय होता है। शिवम् सामाजिक मंगल की भावना है। कला का सौन्दर्य प्रायः व्यक्तिगत माना जाता है। सौन्दर्य में मंगल की अपेक्षा अनुरंजन का भाव अधिक है। सौन्दर्यशास्त्र में प्रायः कला को शिवम् से स्वतंत्र माना जाता है। संस्कृति केवल कला का सौंदर्य नहीं है, लोक मंगल की भावना से पूर्ण होने के कारण उसमें शिवम् ही प्रधान है। शिवम् ही संस्कृति का मूल तत्व है। एक दृष्टि से शिवम् ही सत्य है। सत्य के अन्य रूप संस्कृति के आधार और उपादान हैं। सुन्दरम् संस्कृति के मंगलमय विधानों का भव्य रूप है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में आध्यात्मिक सत्य और नैतिक चरित्र का महत्व होने के कारण यह शिक्षा संस्कृति के अधिक अनुरूप थी। विज्ञानों और शास्त्र के ज्ञान के साथ-साथ नैतिक चरित्र की प्रतिष्ठा उसका लक्ष्य थी। इसलिए शिक्षा का ब्रह्मचर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्रह्मचर्य इन्द्रियों के संयन के अर्थ में रूढ़ हो गया है। किन्तु इन्द्रियों के संयम, स्वास्थ्य और

शक्ति साधन की आवश्यक भूमिका है। व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य, शक्ति और चरित्र के साथ-साथ ज्ञान का सम्पादन है। कला और सौन्दर्य का प्राचीन शिक्षा में भी बहिष्कार नहीं था। लव-कुश का वीणा-वादन और रामायण-गान इसके प्रमाण हैं। प्राचीन युग में संगीत, चित्रकला, मूर्त्तिकला, नृत्य आदि की अपार विभूति मिलती है। यह विभूति शिक्षा में कला के गौरव का ही फल है।

आधुनिक मनोविज्ञान शिक्षा को व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास मानता है। वस्तुत: स्वास्थ्य, शक्ति, चरित्र, ज्ञान और कला के समन्वित सम्पादन में ही यह विकास पूर्ण होता है। चरित्र व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है। श्रेय का सम्पादन होने के कारण वह शिक्षा और संस्कृति का संयोजक सेतु है। वर्तमान शिक्षा में ज्ञान के उपार्जन की ही प्रधानता है। हाल में सांस्कृतिक समारोहों के नाम पर उसमें कला का महत्व भी बढ़ने लगा है। युवक समारोहों में छात्रों की कला प्रदर्शन ही मुख्य होता है। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा में सत्यम् और सुन्दरम् का संगम हो रहा है। किन्तु स्वास्थ्य, शक्ति और चरित्र के विकास का समुचित योग आधुनिक शिक्षा में नहीं दिखाई देता है। इस विकास के द्वारा ही युवकों की शिक्षा संस्कृति में समन्वित होकर लोक-मंगल की साधक बन सकती है।

कला और संस्कृति का समन्वय इस प्रसंग में सबसे कठिन और सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। कला का अन्तिम स्वरूप चाहे आध्यात्मिक हो किन्तु उसके सामान्यत: प्रचलित रूपों में ऐन्द्रिक अनुरंजन की प्रधानता रहती है। युवक समारोहों में भी कलाओं का यही रूप अधिक दिखाई देता है। ऐन्द्रिक अनुरंजन मनुष्य की प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। उसमें स्वरूपत: कोई अनौचित्य या अनैतिकता नहीं है। 'प्रकृति' जीवन और संस्कृति का नैसर्गिक आधार है। किन्तु नैतिक शील और मर्यादा के शासन के बिना ऐन्द्रिक अनुरंजन कला के नाम पर अमंगलकारी तत्वों का पोषण करता है। इसी कारण मध्ययुग में विशेषत: उत्तर भारत में शिष्टवर्गों में कला का आदर कम हो गया था। इसी कारण आज भी प्राचीन भारतीय आदर्शों के आराधक कला के सामूहिक प्रदर्शनों और कलात्मक प्रदर्शनों को सन्देह दृष्टि से देखते हैं।

प्राचीन नैतिक आदर्शों को रूढ़िवादी कहना स्वयं रूढ़िवादिता का द्योतक है। और न नवीनता के कारण ही आधुनिक आदर्श प्रगतिवादी हैं। प्रकृति और इन्द्रियों के अनुरजंन में मनुष्य की रुचि आदिकाल से रही है। जीवन और कला के जिन रूपों में इसका पोषण होता है, वे न सांस्कृतिक हैं और न प्रगतिवादी हैं। वे मनुष्य की आदिम और नैसर्गिक प्रकृति के प्रोत्साहन मात्र हैं। जिन्हें प्राचीन आदर्श कहा जाता है वे मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के परिष्कार और उन्नयन द्वारा संस्कृति में प्रकृति के समन्वय के प्रयास मात्र हैं। इस दृष्टि से वे ही सनातन सांस्कृतिक आदर्श है।

जिसे पश्चिम में संस्कृति कहा जाता है वह प्रमुखतः प्रकृति का पोषण है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव और प्रवाह में भारतीय शिक्षित वर्ग भी आज संस्कृति की इस विडम्बना का आराधक बन रहा है। इस भ्रान्त संस्कृति की आराधना में कोई गौरव की बात नहीं है, क्योंकि इसके पीछे प्रकृति के अनुरंजन की सहज और उद्दाम प्रेरणा है। संयम और साधना के द्वारा प्रकृति का परिष्कार और उन्नयन उसे संस्कृति के अनुरूप बनाता है। भारतीय संस्कृति की यही मूल धारणा है। इसके विपरीत प्रकृति और इन्द्रियों की प्रेरणाओं के द्वारा कला और संस्कृति का शासन उन्हें प्राकृतिक बनाता है। पश्चिमी संस्कृति का यही प्रचलित रूप है। किन्तु प्राकृतिक संस्कृति एक प्रकार का आत्म विरोध है।

वस्तुत: संस्कृति एक आध्यात्मिक साधना है। प्रकृति से उसका कोई मौलिक विरोध नहीं है। प्रकृति के परिष्कृत आधार पर ही संस्कृति का निर्माण होता है। किन्तु प्रकृति के अनुरजंन के अनुकूल चलने वाली संस्कृति एक विडम्बना मात्र है। इसलिये भारतीय संस्कृति का स्वरूप मूलत: आध्यात्मिक है। सांस्कृतिक अध्यात्म कोई रहस्यवाद नहीं। नैतिक शील और संस्कारों में अभिव्यक्त होकर अध्यात्म की मर्यादायें प्रकृति का उन्नयन और संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करती है। इस-लिए संयम, शील और चरित्र का भारतीय संस्कृति में अधिक महत्व है। इसलिये प्राचीन भारतीय शिक्षा में ब्रह्मचर्य की महिमा थी। ब्रह्मचर्य क़ोई प्राचीन रूढ़ि नहीं है। वह नवयुवकों के सांस्कृतिक निर्माण का सनातन मन्त्र है। संयम और साधना उसके बीज हैं। 'संयम' स्वास्थ्य,

शक्ति और विद्या के त्रिशूल का धारक दण्ड है। संयम ही नैतिक शील का विधायक है। 'संयम' प्रकृति और इन्द्रियों की प्रवृत्ति का घातक नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का शासन अवश्य है। संयम और मर्यादा के दो कूलों के बीच ही संस्कृति की पावन गंगा प्रवाहित होती है। इन कूलों के भंग होने पर जीवन में प्रकृति का अनियन्त्रित प्लावन होता है, जो सब प्रकार से अमंगलकारी है। संयम और मर्यादा के संस्कारों को आत्मसात् करके ही शिक्षा और कला स्वस्थ प्रकृति के पीठ पर संस्कृति की प्रतिष्ठा कर सकती है। नैतिक शील के शिवम् में अन्वित होकर ही शिक्षा का सत्य और कला का सौन्दर्य संस्कृति के उस पुनीत संगम का निर्माण कर सकता है जिसके पुण्य-क्षेत्र में लोक-मंगल का अक्षयवट अपनी सनातन स्थिति में पल्लवित होता है।

३–शिक्षा के सांस्कृतिक सूत्र

शिक्षा में संस्कृति का स्थान :

शिक्षा और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध के विषय में हम प्राय: केवल इतना ही जानते हैं कि शिक्षा की व्यापक परिधि में संस्कृति का भी एक स्थान है। शिक्षा के अनेक विषयों में संस्कृति को एक विषय अथवा विषयांश मानकर पाठ्यक्रम में कुछ स्थान दे दिया जाता है। सामान्य ज्ञान तथा इतिहास के विषयों के अन्तर्गत संस्कृति का इतिहास भी छात्रों पढ़ाया जाता है। हमारी शिक्षा की वर्तमान धारणा में संस्कृति अभी एक स्वतन्त्र विषय का स्थान नहीं पा सकी है, यह एक महान् और प्राचीन संस्कृति के अभिमानी देश की शिक्षा की विडम्बना है। संस्कृति इतिहास के अतीत वृत्त का एक अंग-मात्र मानी जाती है तथा इतिहास के एक परिशिष्ट का पद उसे दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान समाज की न कोई संस्कृति है और न वर्तमान समाज के लिए संस्कृति का कोई महत्व है। संस्कृति केवल अतीत की धरोहर मानी जाती है और प्राय: उसे भारत के प्राचीन इतिहास के अध्ययन का एक अंग बना दिया गया है। अतीत के ऐतिहासिक अवशेषों की भाँति संस्कृति भी केवल हमारे संरक्षण और कौतूहल का विषय मात्र रह गई है।

एक प्राचीन और महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी भारत के शिक्षा-शास्त्रियों ने कभी यह विचार नहीं किया कि संस्कृति मनुष्य के सभ्य जीवन का पर्याय है। इतिहास अथवा किसी अन्य विषय का एक अंग बनाना तो संस्कृति को अत्यन्त तुच्छ बनाना है। सम्पूर्ण शिक्षा भी संस्कृति का केवल एक अंग है। ऐसी विशाल और महत्वपूर्ण संस्कृति को कम से कम शिक्षा के पाठ्यक्रम में एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विषय का स्थान तो अवश्य देना चाहिये। इतिहास के अंग के रूप में जो संस्कृति पढ़ाई जाती है उसमें केवल प्राचीन काल की कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि का विवरण बताया जाता है। संस्कृति के सिद्धान्त एवं

संस्कृति के सामान्य स्वरूप का विवेचन नहीं किया जाता। जो इतिहास स्वयं संस्कृति का एक अंग है, उस इतिहास की संस्कृति एक अंग बन गई है। मानों संस्कृति इतिहास के साम्राज्य का एक उपनिवेश है। है। वस्तुतः संस्कृति सम्पूर्ण सभ्य जीवन का पर्याय है। वह एक समग्र विषय है और शिक्षा के पाठ्यक्रम में एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विषय के रूप में उसका अध्यापन आवश्यक है। संस्कृति को केवल कला, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि का संकलन मानना भी उचित नहीं है। ये सब संस्कृति के अंग अवश्य हैं किन्तु वह इन अंगों का संघात मात्र नहीं है। संस्कृति का अपना स्वरूप और उसके अपने सिद्धान्त हैं। इनकी गवेषणा होनी चाहिए। कला, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के अतिरिक्त संस्कृति का एक जीवन्त रूप भी है जो लोक-जीवन के साथ समवेत हो गया है। इसे हम लोक संस्कृति कह सकते हैं। अन्य सभ्य देशों में लोक संस्कृति आदिम समाज की संस्कृति है जो सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक ऐतिहासिक कौतूहल की वस्तुमात्र रह गई है। किन्तु भारत की जीवन्त लोक संस्कृति पर्व, व्रत, त्यौहार, संस्कार, उत्सव आदि के रूपों में नागरिक सभ्य समाज की विभूति बनी हुई है। कला आदि के ऐतिहासिक एवं वर्तमान रूपों के साथ-साथ भारत की इस जीवन्त लोक संस्कृति के स्वरूप एवं महत्व का अध्ययन भी संस्कृति के विषय का महत्वपूर्ण पक्ष होगा। अभी तो स्थिति यह है कि इस जीवन्त संस्कृति की हमारी शिक्षा में कहीं चर्चा भी नहीं है। अभिलेखों का विषय न होने के कारण इतिहास ने इसे ध्यान नहीं दिया। जो संस्कृति हमारे जीवन को सुन्दर और समृद्ध बनाती रही है, उसी संस्कृति को हमारी शिक्षा में समुचित स्थान नहीं मिल सका, यह शिक्षित भारतीय समाज की कृतघ्नता का ही सूचक है।

शिक्षा भी संस्कृति है :

संस्कृति को शिक्षा का एक स्वतन्त्र विषय बनाना संस्कृति के समुचित अध्ययन की दृष्टि से उचित एवं आवश्यक है। किन्तु दूसरी ओर यह समझना भी आवश्यक है कि शिक्षा भी संस्कृत है। शिक्षा संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति की आत्मा से अनुप्राणित होकर ही शिक्षा सफल हो सकती है। संस्कृति मनुष्य के स्वभाव का संस्कार है।

उस संस्कार के अनेक रूप हैं। उनमें शिक्षा भी एक रूप है। संस्कृति का अर्थ सम्यक् कृति है। कृति का अर्थ निर्माण है। शिक्षा मनुष्य का निर्माण है। सम्यक् तथा साम्यपूर्ण होने पर वह भी संस्कृति का एक रूप बन जाती है। ऐसी शिक्षा ही सार्थक एवं सफल होती है। शिक्षा का कृतित्व तो स्पष्ट है। वह ज्ञानार्जन की क्रिया है। कृति क्रिया का फल अथवा उसकी परिणति है। कृतित्व में शिक्षा की क्रिया पूर्ण एवं सफल होती है। ज्ञानार्जन की क्रिया से मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यह निर्माण ही शिक्षा की कृति है। गुरु से विद्याध्ययन शिक्षा की इस प्रक्रिया का आधार है। शिक्षा वस्तुतः गुरु की आत्मा से शिष्य की आत्मा में ज्ञान एवं शील के संस्कारों का प्रसार है। अतः ज्ञानार्जन के रूप में शिक्षा शिष्य का कृतित्व है। किन्तु दूसरी ओर विद्यादान के रूप में शिक्षा गुरु का कृतित्व है। गुरु के इस कृतित्व का शिष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहता है।

अस्तु, शिक्षा के द्वारा मनुष्य के सांस्कृतिक निर्माण में शिष्य और गुरु दोनों का समान योग रहता है। दोनों के इस कृतित्व में साम्य अपेक्षित है। साम्य रहने पर ही यह कृतित्व शिक्षा को संस्कृति (सं+कृति) बनाता है। शिष्य और गुरु का शिक्षा सम्बन्धी अध्यवसायों में जो साम्य अपेक्षित है और जो साम्य उन्हें संस्कृति का पद देता है उसके अनेक रूप हैं। ज्ञानोपार्जन और सम्बन्ध का साम्य इनमें विशेष महत्वपूर्ण है। ज्ञानोपार्जन के साम्य का अभिप्राय यह है कि शिक्षा केवल शिष्य का ही ज्ञानार्जन नहीं, गुरु का भी ज्ञानार्जन है। अध्यापन से शिष्य का ही ज्ञान नहीं बढ़ता वरन् गुरु का भी ज्ञान बढ़ता है। अध्यापन से गुरु के विचार स्पष्ट और गम्भीर होते हैं। दान से गुरु की विद्या बढ़ती है। सरस्वती के कोष की जिस विचित्रता का निर्देश नीतिकारों ने किया है कि वह दान से बढ़ता है उसका यही अभिप्राय है। ज्ञानोपार्जन का यह साम्य गुरु के अहंकार के संवरण में सहायक हो सकता है। इस अहंकार के मन्द होने पर गुरु-शिष्य दोनों में आत्मीय भाव उदय होता है और आत्मिक साम्य की भूमि पर वे तेजस्वी विद्या की साधना करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के शान्ति पाठ में विद्योपार्जन के इसी साम्य को लक्ष्य करके गुरु-शिष्य दोनों को द्वेष-रहित

सद्भाव के साथ विद्या की साधना का निर्देश किया गया है। उक्त शान्ति पाठ में गुरु-शिष्य दोनों प्रार्थना करते है कि 'हम एक दूसरे से द्वेष न करें। हमारी विद्या तेजस्वी हो।' (मा विद्विषावहै। तेजस्विनावधीत-मस्तु)। गुरु-शिष्य दोनों को ही साम्य के लिये इस द्वेष से बचना उचित है। गुरु को शिष्य की प्रतिभा से द्वेष हो सकता है। शिष्य को विद्या का दम्भ द्वेष की दिशा में प्रेरित करता है। दोनों ओर द्वेष अहंकार की भूमि पर ही फलता है और आत्मा की भूमि पर संवृत होता है। आत्मा ही सम है।

अस्तु विद्योपार्जन तथा व्यक्तित्व के निर्माण के अर्थ में शिक्षा भी संस्कृति का एक रूप है। किन्तु संस्कृति की शिक्षा का साम्य इससे अधिक है। संस्कृति का साम्य केवल साम्यपूर्ण कृतित्व में पूरा नहीं होता। समाज की निरन्तर परम्परा बनकर वे साम्य और कृतित्व दोनों कृतार्थ होते हैं। संस्कृति का सजीव रूप समाज की निरन्तर परम्परा है। शिक्षा भी ऐसी ही परम्परा बनकर संस्कृति के साथ अपने सम्बन्ध को सार्थक बनाती है। शिक्षा केवल ज्ञान तो नहीं है, कला आदि भी शिक्षा एवं संस्कृति में स्थान रखते हैं। इनकी भी शिक्षा होती हैं, फिर भी शिक्षा में ज्ञान की प्रमुखता रहती है। ज्ञान स्वयं एक परम्परा है। व्यक्ति में भी वह स्मृति के सूत्र से परम्परा के रूप में वर्तमान रहता है। अध्यापन के रूप में भी वह परम्परा ही बनता है। गुरु-शिष्य की विद्यादान और विद्या-लाभ की परम्परा ही शिक्षा का सूत्र है। अपने विकास क्रम में शिष्य ही गुरु बन जाता है। इस प्रकार विद्या की परम्परा उत्तरोत्तर आगे बढ़ती है। इस परम्परा के क्रम में स्वयं ज्ञान भी विकसित होता है; ज्ञान के नये क्षेत्र, क्षितिज, विषय, सिद्धान्त और रहस्य प्रकाशित होते है। शिष्य गुरुओं के ज्ञान का संवर्धन करते हैं। एक विकासशील परम्परा बनकर ज्ञान समाज की सांस्कृतिक निधि बनता है। विद्यादान के क्रम से गुरु का ज्ञानकोष ही नहीं, सरस्वती का समग्र ज्ञान भाण्डार भी बढ़ता है। एक निरन्तर विकासशील परम्परा बनकर विद्या का सांस्कृतिक वैभव फलित होता है।

विद्यादान की सांस्कृतिक परम्परा :

शिक्षा का अर्थ विद्याग्रहण और विद्यादान दोनों ही है। शिष्य के लिये वह विद्याग्रहण है। गुरु की ओर से वही विद्यादान बन जाता है। गुरु के विद्यादान से ही शिष्य की शिक्षा सम्भव होती है। शिष्य में विद्या के ग्रहण की आकांक्षा एवं सम्भावना तो स्वाभाविक होती है किन्तु वह गुरु के अनुग्रह एवं सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। अत: शिक्षा के प्रसंग में गुरु का विद्यादान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ज्ञान, कला, विज्ञान, संस्कृति आदि की परम्पराओं का संरक्षण एवं विकास गुरु के विद्यादान पर ही निर्भर करता है। शिष्य को विद्यादान करने के लिए गुरु का सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपेक्षित है। साम्यपूर्ण होने के साथ-साथ संस्कृति एक कृति अथवा रचना है। गुरु का विद्यादान केवल बौद्धिक अनुदान नहीं है। वह एक सांस्कृतिक रचना है। शिक्षा केवल ज्ञान का प्रकाशन नहीं वरन् शिष्य के प्रबुद्ध व्यक्तित्व का निर्माण है। इसके लिए शिष्य के प्रति गुरु का साम्यपूर्ण दृष्टिकोण अपेक्षित है। किन्तु साम्य के साथ रचनात्मक दृष्टिकोण भी आवश्यक है। उदारता से साम्य संभव होता है। किन्तु रचना आत्मा के गहन संकल्प की प्रेरणा से संभव होती है। संकल्प ही रचनात्मक क्रिया की शक्ति है। इसीलिये शैवतन्त्रों में संकल्प के रूप में ही शक्ति की आराधना होती है। संकल्प आत्मा की शक्ति है जो उदार क्रियाओं को प्रेरित करती है।

शिक्षा अथवा विद्यादान की इस सांस्कृतिक परम्परा में भाव की रचना प्रधान होती है। भाव रचना का तत्व है। रूप से भेदकर के हम उसे स्पष्ट कर सकते हैं। कलाओं को संस्कृति का मुख्य अंग माना जाता है। कला रूप की रचना है। रूप की रचना में सौन्दर्य प्रकाशित होता है। कला की शिक्षा में तो रूप की रचना का ही शिक्षण होता है। किन्तु ज्ञान, विज्ञान, दर्शन आदि की शिक्षा में भाव-तत्व की रचना होती है। 'भाव' प्रज्ञानमय मानसिक तत्व है। अपनी प्रज्ञा की उदार स्फूर्ति से गुरु शिष्य के मानस में भाव की रचना करता है; जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से वनस्पति जगत् में फल-फूल खिलाता है उसी प्रकार गुरु भी अपने तेज से शिष्य के मानस में भाव के गन्धमय कमल खिलाता है। सृजनात्मक होने के कारण ही सूर्य को 'सविता कहते हैं। गुरु भी विद्या

जगत् का सविता सूर्य है। वैदिक परम्परा में गायत्रीमन्त्र में सूर्य के प्रतीक के द्वारा प्रज्ञा की इसी सृजनात्मक शक्ति की आराधना का विधान किया गया है। इसी महिमा के कारण गायत्रीमन्त्र उपनयन का दीक्षा-मन्त्र बना। विद्या की सृजनात्मक परम्परा की प्रतिष्ठा के लिये ही भारतीय संस्कृति के आचार में गुरु की वन्दना की जाती है तथा गुरुपूर्णिमा का पर्व मनाया जाता है। इसी महिमा के कारण गुरु का इतना उत्कर्ष हुआ कि वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के पद तक पहुँच गये।

शिष्य के विनय और उसकी श्रद्धा से गुरु का ज्ञान-स्रोत खुलकर शिष्य की ओर प्रवाहित होता है। किन्तु गुरु के अपने नियम से विद्या का सांस्कृतिक साम्य सन्तुलित एवं पूर्ण होता है। ज्ञान के अपार भाण्डार और उसकी अनन्त महिमा का आभास गुरु का विनय देता है। विद्या की देवी के रूप में सरस्वती की प्रतिष्ठा विद्या के साधकों के विनय-पूर्ण साम्य को सुरक्षित रखने के लिये ही की गई है। उनका हंस उज्ज्वल विवेक का प्रतीक है। वीणा और वेद कला की रूपसृष्टि तथा विज्ञान-दर्शनों की भाव-सृष्टि का संकेत करते हैं। सरस्वती की यह प्रतिष्ठा हमारी संस्कृति में विद्या को दिव्य पद प्रदान करती है। सरस्वती की निरन्तर आराधना से ही विद्या की परम्परा अखण्ड रहती है। अखण्ड परम्परा में ही विद्या 'अमृत' बनती है। प्रश्नोत्तरी के अनुसार सच्छिष्य को अर्पित विद्या ही अमृत है। शिष्य केवल विद्या का ग्राहक ही नहीं है वह गुरु बन कर अपने शिष्यों का अनुग्राहक भी बनता है। इस प्रकार एक अनन्त परम्परा में विद्या अमृत बनती तथा समृद्ध होती है। शिक्षा का सांस्कृतिक प्रयोजन केवल शिष्यों के निर्माण में पूर्ण नहीं होता; वह शिष्यों के योग्य गुरु बनने पर पूर्ण होता है। अतः अध्यापन कोरा विद्यादान नहीं है, वह विद्या की परम्परा के संवर्धक गुरुओं के निर्माण में सफल होता है। संस्कृति कला की भाँति केवल सृष्टि नहीं है; वह स्रष्टाओं का सृजन भी है। स्रष्टाओं की सृजनात्मक परम्परा बनकर ही शिक्षा एवं संस्कृति सफल होती है। यह संस्कृति के साम्य और सृजन की परम मर्यादा है।

शिक्षा का आध्यात्मिक शील :

शील और आचार के अर्थ में भी 'संस्कृति' का प्रयोग होता है। शीलवान् और आचारवान व्यक्ति को सुसंस्कृत व्यक्ति कहा जाता है।

शील और आचार भी शिक्षा के द्वारा प्राप्त होते हैं। सामान्य धारणा में शील एवं चरित्र के विकास को भी शिक्षा का अंग माना जाता है। हमारी ज्ञान-प्रधान शिक्षा-प्रणाली में इनका समुचित स्थान नहीं है। यह हमारी वर्तमान शिक्षा की अपूर्णता है। शिक्षा के प्रसंग में शील और चरित्र के विकास की बात ज्ञानात्मक आग्रह के साथ ही कही जाती है। नैतिक और धार्मिक शिक्षा की चर्चा प्राय: सुनने में आती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि केवल बौद्धिक ज्ञान के धरातल पर शील और चरित्र का निर्माण नहीं होता। शील और चरित्र केवल ज्ञान नहीं है। वे आत्मा अथवा व्यक्तित्व के सक्रिय संस्कार हैं। गुरुजनों के आत्मा तथा व्यक्तित्व के साक्षात् और सक्रिय प्रभाव तथा इनकी प्रेरणा से ही शिष्यों में शील का विकास हो सकता है। इसी साक्षात् और सक्रिय प्रभाव एवं प्रेरणा की भूमिका में महापुरुषों तथा ग्रन्थों के आदर्श प्रेरणा के स्रोत बनते हैं। ये प्रभाव और प्रेरणा नैतिक ज्ञान को भी सफल बना देते हैं। इनके अभाव में वह निष्फल रहता है। ज्ञान की शिक्षा बुद्धि तक ही सीमित रहती है। शील के धरातल पर पहुँचकर वह आत्मा के क्षितिज का स्पर्श करती है। शील के विकास के द्वारा शिक्षा की सांस्कृतिक सृजनात्मकता अधिक सार्थकता प्राप्त करती है।

यह आत्मा के अध्यात्म के साथ शिक्षा के प्रसंग में शील के सम्बन्ध का एक रूप है। इसमें हम व्यक्तित्व की सक्रिय प्रेरणा के द्वारा शील के माध्यम से आत्मा की भूमि तक पहुँचते हैं। शील के साथ अध्यात्म के सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें हम शिक्षा एवं शील के विकास की प्रेरणा आत्मा के अध्यात्म में खोजते हैं। ज्ञान के रूप में भी शिक्षा आत्मा का विस्तार है। आत्मा चिन्मय और प्रज्ञानघन है। स्वार्थ और अहंकार के संकोच आत्मा के प्रकाश का अवरोध करते हैं। वे शिक्षा और ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं। शील चरित्र और आचार का औदार्य है। स्वार्थ और अहंकार से ऊपर उठ कर ही वह सम्पन्न होता है। आत्मा के क्षितिज का आरम्भ भी स्वार्थ और अहंकार की भूमि से परे ही होता है। इस दृष्टि से शील और चरित्र का आधार एवं स्वरूप भी आध्यात्मिक है। वह व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही सम्पन्न होता है, किन्तु उसका स्वरूप परार्थ के अध्यात्म में ही प्रमाणित होता है। स्वार्थ की प्रकृति उसका माध्यम मात्र है।

शील और आचार का माध्यम बन कर वह स्वार्थ की प्रकृति भी मृदुल एवं अध्यात्म-प्रवण बन जाती है। इस प्रकार शील का अध्यात्म प्रकृति एवं स्वार्थ का संस्कार करके उन्हें अध्यात्म के सेतु पर आरोहण करने के लिये प्रेरित करता है। शिक्षा भी इसी सेतु के निर्माण में अपना योग देती है।

अस्तु शील और चरित्र का अध्यात्म ज्ञान के मार्ग को प्रकाशित करता है। इस प्रकार शील और चरित्र शिक्षा के प्रेरक एवं अनुग्राहक हैं। किन्तु सामान्य धारणा प्रायः इसके विपरीत है। शिक्षा को शील के विकास का मार्ग माना जाता है। विद्या हमें विनय देती है। ऐसा नीतिकार कहते हैं। इस धारणा में सत्य भी है। किन्तु यही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। दूसरी ओर शील विद्या का साधक भी है। उपनिषद् और गीता दोनों में शिष्य की श्रद्धा को ज्ञान का द्वार माना गया है। यह श्रद्धा विनय पर ही आश्रित होती है। अपने अहंकार का सम्प्रमोष विनय है। गुरु का आदर श्रद्धा है। दोनों एक दृष्टि के दो पक्ष हैं। विद्या विनय अवश्य देती है। किन्तु वह विनय के द्वारा ही प्राप्त होती है। शिक्षा से शील और चरित्र का भी विकास होता है। किन्तु शील के द्वारा ही विद्या प्रशस्त होती है। यह अन्योन्याश्रय एक भ्रान्तिचक्र नहीं है। चक्र का आरम्भ खोजना कठिन है। किन्तु विद्या का आरम्भ शील और विनय से ही होता है, यद्यपि विद्या इनका संवर्धन भी करती है। विद्या के विकास के लिये साक्षात् प्रभाव और प्रेरणा के द्वारा शील का विकास करना आवश्यक है। 'शील' चरित्र के निर्माण के अर्थ में सांस्कृतिक रचना है। परार्थमूलक होने के अर्थ में वह आध्यात्मिक है। शील का यह अध्यात्म विद्या का एक निगूढ़ रहस्य है, जिसकी हम प्रायः उपेक्षा करते हैं, किन्तु जिसका अवगाहन करके ही हम विद्या के शिखरों का आरोहण कर सकते हैं।

४–शिक्षा का अध्यात्म

सामान्य रूप से शिक्षा बालक के व्यक्तित्व एवं ज्ञान तथा उसकी कुशलता का विकास है। शिक्षा के साथ अध्यात्म के सम्बन्ध की कल्पना से यह आशंका हो सकती है कि शिक्षा के सामान्य रूप को अनावश्यक रूप से गम्भीर और दार्शनिक बनाया जा रहा है। शिक्षा का दर्शन भी मिलता है, जिसमें जीवन के मूल्यों के साथ शिक्षा के सम्बन्ध का विवेचन किया जाता है। ज्ञान और नैतिकता उन मूल्यों में सम्मिलित हैं। विद्या और चरित्र के विकास का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के साथ दर्शन की संगति का यही सूत्र है। अध्यात्म का दर्शन से सम्बन्ध है। इस प्रकार अध्यात्म के साथ शिक्षा का सम्बन्ध भी संगत बन जाता है।

किन्तु हमारा प्रयोजन अध्यात्म के साथ शिक्षा के दार्शनिक अथवा सामान्य सम्बन्ध से नहीं है, वरन् अध्यात्म के साथ शिक्षा के विशेष सम्बन्ध से है। विशेष सम्बन्ध से हमारा अभिप्राय यह है कि किस प्रकार अध्यात्म के स्रोत से शिक्षा की साधना सफल होती है अर्थात् किस प्रकार अध्यात्म का प्रभाव ज्ञान को समृद्ध और चरित्र को उन्नत बनाता है। अध्यात्म के साथ शिक्षा का यह विशेष सम्बन्ध अध्यात्म को नहीं वरन् शिक्षा को ही लक्ष्य मानता है। अध्यात्म शिक्षा का साध्य नहीं है, जैसा कि अध्यात्मवादी शिक्षा-दर्शन मान सकते हैं, वरन् अध्यात्म शिक्षा को समृद्ध बनाने वाला साधन है।

अध्यात्म के साथ शिक्षा के सम्बन्ध को समझने के लिए अध्यात्म का अर्थ स्पष्ट करना होगा। अध्यात्म का सम्बन्ध आत्मा से है। भारतीय दर्शनों में, विशेषकर वेदान्त, में आत्मा को जीवन और जगत् का परम तत्त्व माना गया है। आत्मा को ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म का अर्थ 'वर्धनशील' है। ब्रह्म जगत् का कारण है। किन्तु वेदांन्त के ब्रह्म-कारणवाद से हमारा विशेष प्रयोजन नहीं है। सृष्टि के तत्व दुरूह हैं। उनके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करना कठिन है। यदि चिन्मय ब्रह्म को सृष्टि का कारण मान लिया जाये तो भी शिक्षा का आध्यात्मिक आधार स्वीकार

करना होगा। कार्य में कारण का भाव अनुगत रहता है और ब्रह्म के भाव का योग-विद्या के विकास को प्रेरित करता है।

जगत् का कारण मानने के साथ-साथ वेदान्त में ब्रह्म को मनुष्य की अन्तरात्मा भी माना गया है। अन्य दर्शनों के अनुसार यह आत्मा ज्ञान का अधिष्ठान है। यही आत्मा चेतना का स्रोत है। आत्मा की प्रतिभा से ही विद्या का विकाश होता है। यह अध्यात्म के साथ शिक्षा के संबंध का रहस्यमय सूत्र है। आत्मा के स्वरूप का अधिक विवरण करने पर अध्यात्म के साथ विद्या का सम्वन्ध समझ में आ सकता है। आत्मा मनुष्य की सत्ता का अन्तर्तम मर्म है। दर्शनों में उसे इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि से परे माना गया है। यह अहंकारतीत आत्मा ही विद्या का प्रकाश और उसकी प्रेरणा है। यह आत्मा सच्चिदानन्द है। परम सत् होने के साथ-साथ यह चिन्मन्य तथा आनन्दमय है। मन, बुद्धि और इंद्रियाँ आत्मा की शक्ति से ही प्रेरित होती हैं। आत्मा के निर्विषय चैतन्य की स्फूर्ति से ही वे विषयों के अधिगम में समर्थ होती है। यह आत्मा समस्त ज्ञान का आधार है, अतः विषय रूप में इनका ज्ञान कठिन है। वाणी के द्वारा उसका वर्णन भी कठिन है। इसलिये उसे मन, वाणी और इंद्रियों से परे माना है। इन्द्रियों के धर्मों, मन के विकारों और अहंकार के अवच्छेदों के अतिक्रमण के द्वारा हमें इस आत्मा के स्वरूप का कुछ आभास हो सकता है। अहंकार के अतिक्रमण में आत्मा का आभास सबसे अधिक सरल और स्पष्ट होता है। अहंकार की सीमा को पार करके उसके कठोर अवच्छेदों के विगलित होने पर सम्भावन से युक्त अद्वैत भाव में हमें आत्मा का आभास मिल सकता है। इस अभास के तेज और आलोक से आत्मा की महिमा का संकेत मिल सकता है। वस्तुतः यह आत्मा विद्या की ही नहीं, मनुष्य जीवन और उसकी समस्त सुन्दर सम्भावनाओं का आधार है।

आत्मा के साथ शिक्षा के सम्वन्ध को हमें अनेक संदर्भों में समझना होगा। विज्ञानों और शास्त्रों के विषय की अहंकारातीतता, गुरु और शिष्य दोनों के आत्म-भाव के द्वारा विद्या की समृद्धि, गुरुओं के प्रति शिष्यों की श्रद्धा, गुरुओं का अनुग्रह-भाव, विनय से प्रतिभा का प्रकाश, बुद्धि की सात्त्विकता, विद्या का शक्ति-भाव तथा सरस्वती के रूप में विद्या की आराधना इन संदर्भों में मुख्य है।

'विद्या' ज्ञान की साधना है। विद्या का मुख्य प्रयोजन ज्ञान का उपार्जन है। ज्ञान चेतना का विकास है। इस प्रकार विद्या चेतना का ही संवर्धन है। चेतना आत्मा का गुण अथवा स्वरूप है। दर्शनों में आत्मा को अनन्त अथवा विभु मानते हैं। आत्मा की अनन्तता तत्वदर्शन की मान्यता अथवा आवश्यकता हो सकती है। किन्तु सामान्यतः मनुष्य के लिए अनन्तता की कल्पना करना कठिन है। अतः मनुष्य की दृष्टि से चेतना अथवा ज्ञान के विकास की बात कर सकते हैं। उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया को निरन्तर मानकर इस बात को अनन्त भी कहा जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि से चाहे आत्मा एक अनन्त तत्व हो, किन्तु मनुष्य की दृष्टि से विद्या को चेतना के विकास की अनन्त प्रक्रिया मानना ही उचित है। यह विद्या मनुष्य की एक दिव्य विभूति है। उपनिषदों और धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि श्रद्धा के द्वारा ही विद्या प्राप्त होती है। प्रेम, आदर और आस्था के समन्वित भाव को श्रद्धा कहते हैं। विनय श्रद्धा का ही दूसरा पक्ष है। वह अहंकार तथा अभिमान के विपरीत है। विद्या चेतना का विस्तार है। श्रद्धा और विनय से इस विस्तार के अनुकूल भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत अहंकार से चेतना का संकोच होता है। यह विद्या के विकास और चेतना के प्रतिकूल है। विद्या के प्रति श्रद्धा के द्वारा ही हम विद्या प्राप्त कर सकते हैं। अहंकार के विपरीत होने के कारण यह श्रद्धा एक प्रकार का आध्यात्मिक भाव ही है। भारतीय परम्परा में विद्या को देवता के समान पवित्र एवं पूज्य मानकर तथा उसे सरस्वती देवी का रूप देकर इस श्रद्धा के आध्यात्मिक भाव को धार्मिक रूप दे दिया गया है। धार्मिक रूप में श्रद्धा का यह आध्यात्मिक भाव अधिक सरल, सुगम और सुदृढ़ बन गया है। दोनों ही रूपों में यह श्रद्धा विद्या का आध्यात्मिक आधार है।

सरस्वती देवी के रूप में विद्या की प्रतिष्ठा विद्या के प्रति हमारी श्रद्धा को धार्मिक बना देती है। धर्म और अध्यात्म में अधिक अन्तर नहीं है। अध्यात्म का आत्मिक भाव धर्म में हार्दिक बन जाता है। हृदय की भावना उसे अधिक सरस और अधिक आस्थापूर्ण बनाती है। अर्चना और उपासना के आधार श्रद्धा एवं आस्था को व्यवहार में भर देते हैं। देवत्व के प्रतीक धार्मिक भावों को साकार रूप देकर आराधना को सुगम बनाते

हैं। सरस्वती के भव्य रूप में कला-समेत विद्या की प्रतिष्ठा की गई है। किन्तु, अन्ततः आराधना आध्यात्मिक ही रहती है। अहंकार का अतिक्रमण करके ही देवताओं में श्रद्धा सम्भव होती है। सरस्वती देवी के प्रति धार्मिक एवं सांस्कृतिक भाव से श्रद्धा रखने के लिए तथा सरस्वती की आराधना के द्वारा विद्या के वर्धन के लिए अहंकार का अतिक्रमण करके अध्यात्म की भूमि का स्पर्श करना आवश्यक हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धि को अहंकार से परे माना जाता है। अहंकार एक व्यक्तिगत इकाई है। इस इकाई में व्यक्तित्व का संकोच होता है। बुद्धि एक सामान्य, विभु और व्यापक तत्व है। वह सब के लिए समान है। व्यक्तिगत अहंकारों के विषय अलग-अलग होते हैं और उसमें अपनी विशेषतायें होती हैं। किन्तु बुद्धि के विषय सामान्य और एक समान होते हैं। अनेक व्यक्ति उन्हें समान भाव से स्वीकार करते हैं। बुद्धि के इसी लक्षण के द्वारा ज्ञान का आदान-प्रदान एवं शिक्षण सम्भव होता है। बुद्धि में कुछ भेद अवश्य रहता है। इसीलिए वह आत्मा का पर्याय तो नहीं है, फिर भी अहंकार से अतीत होने के कारण वह आत्मा के सबसे निकट है। सांख्य के सर्ग-क्रम का प्रथम चरण बुद्धि ही है और यह अहंकार से पूर्वतर है। समाधि के लय-क्रम में वह अहंकार से परे है। समाधि का विषय-क्रम अहंकार पर समाप्त हो जाता है। बुद्धि सविकल्प समाधि का विषय नहीं है। अहंकार के बाद मानों समाधि का उद्योग समाप्त हो जाता है तथा निर्विकल्प समाधि की गति सहज हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि आत्मा के अत्यन्त निकट है। आत्मा को समस्त विषयों का विज्ञाता मानते हैं। किन्तु आत्मा को विषय नहीं बनाया जा सकता। यह आत्मा के साथ बुद्धि की समानता है। वस्तुतः आत्मा विषय-ज्ञान का अधिष्ठान नहीं, आधार है। बुद्धि रूप में ही आत्मा अथवा आत्मा के आधार से बुद्धि विषय-ज्ञान अधिष्ठान बनाती है। अस्तु, अहंकारातीतता, व्यापकता, विषयत्वाभाव आदि अनेक रूपों में आत्मा के साथ बुद्धि की समानता एवं निकटता है। बुद्धि ही विद्या का आधार भी है। शिक्षा का अभिप्राय बुद्धि का विकास है। बुद्धि अहंकारातीत है। अतः विद्या ही श्रेष्ठ साधना के लिए अहंकार का अतिक्रमण आवश्यक है। अहंकार का अतिक्रमण करने पर हमारी गति आत्माभिमुख हो जाती है। इस दृष्टि से

विद्या की बौद्धिक साधना भी मूलतः आध्यात्मिक ही है। प्रकृति के गुणों की दृष्टि से बुद्धि में सत्वगुण की प्रचुरता होती है। साधना की दृष्टि से सत्वगुण अध्यात्म का उपकारक है। गीता के अनुसार सत्वगुण से दैवी सम्पद प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म का पथ प्रशस्त होता है। सत्वगुण प्रकाशक और ज्ञान-वर्धक है। सत्वगुण उदार है। अहंकार के मन्द होने पर ही सत्वगुण का विकास होता है। बुद्धि की अहंकारातीतता और और सात्विकता के द्वारा ज्ञान की बौद्धिक साधना भी अध्यात्म के अनुकूल बन जाती है।

विद्या ज्ञान का उपार्जन है। इस ज्ञान के अनेक विषय होते हैं। किन्तु विद्या के इन विषयों में हमारा अपना कोई स्थान नहीं होता। हम अपने अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार विषय की दृष्टि से भी विद्या अहंकारातीत है। इसीलिए विद्या के उपार्जन के लिए विनय अपेक्षित है। विनय ही श्रेष्ठ विद्या का मार्ग खोलता है। अहंकार विद्या के द्वार का अवरोध करता है। किन्तु प्रकृति के अनुरोध से वह अपना मार्ग खोजता है। विषय के रूप में स्थान न मिलने पर वह ज्ञान-सम्पत्ति के स्वामी के रूप में अपना अधिकार प्रकट करता है। इसीलिए प्रायः साहित्यकारों और विद्वानों में अहंकार बढ़ जाता है। किन्तु यह अहकार विद्या के विकास और साहित्य की साधना में बाधक होता है। ज्ञान के विषय और अधिकरण दोनों ही रूपों में अहंकार का विसर्जन विद्या का अत्यन्त उपकारक है। अपने अतिरिक्त अन्य विषयों का अध्ययन होने के कारण विद्या हमें अहंकार के विसर्जन एवं उदार आत्मिक भाव के अनुशीलन का आमन्त्रण देती है। आत्मा अहंकार और विषयों से अतीत है, किन्तु वही विषयों को प्रकाशित करती है। विषयों के ज्ञान के रूप में विद्या के उपार्जन के लिए निरहंकार और उदार दृष्टिकोण आत्म-भाव के अनुरूप होने के कारण उत्तम विद्या का मार्ग प्रशस्त करता है।

विद्या ज्ञान का उपार्जन है। इसके लिए गुरु के अनुग्रह की अपेक्षा होती है। ज्ञान-बुद्धि गुरु के सहयोग से ही होती है। गुरु के सहयोग से ही बालक विद्या के मार्ग में आगे बढ़ता है। गुरु का यह सहयोग श्रद्धा और सेवा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा और सेवा का मूल स्रोत विनय ही है। अहंकार के विपरीत होने के कारण विनय का आधार

भी अध्यात्म ही है। विनय के भाव में अहंकार की सीमायें विलीन हो जाती हैं और आत्मा का उदार भाव प्रकाशित होता है। आत्मा के इसी प्रकाश में विद्या का विकास होता है। श्रद्धा अपने से श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर, प्रेम और निष्ठा की मिश्रित भाव है। श्रद्धा से प्रेरित व्यवहार ही सेवा बन जाता है। विनय पर आश्रित श्रद्धा का भाव गुरु के ज्ञान-कोष के द्वार खोलता है। श्रद्धा से प्रसन्न होकर ही गुरु शिष्य को विद्यादान की ओर अभिमुख होता है। गीता, उपनिषद आदि शास्त्रों में इसी आधार पर यह कहा गया है कि 'श्रद्धवान् लभते ज्ञानम्'। शिष्य की श्रद्धा भीतर से गुरु के अनुग्रह को प्रेरित करती है। सेवा का व्यवहार बाहर से उस अनुग्रह की गति को तीव्र बनता है। विद्या गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आत्मदान है। अतः वह अध्यात्म की भूमि पर ही सम्पन्न होता है। विद्या का व्यवसाय नहीं हो सकता। व्यवसाय से शासित विद्या अधिक श्रेष्ठ नहीं हो सकती। वह अत्यन्त साधारण कोटि की और व्यवहारिक ही होगी। शास्त्रों, कलाओं तथा दर्शनों आदि की उत्तम विद्या धन से नहीं प्राप्त हो सकती। इसीलिए कोई धनी केवल धन के बल से न विद्यावान बन सका और न बन सकेगा। विनय और श्रद्धापूर्वक अपनी आत्मा तथा गुरु की आत्मा के द्वार खोलने पर तथा दोनों की आत्माओं का सम्मिलन होने पर ही विद्या का ज्योतिःस्रोत प्रवाहित होता है। उपनिषदों में वेदों को ब्रह्म का 'निःश्वास' कहा गया है। उसका तात्पर्य यही है कि विद्या आत्मा को ही संजीवन शक्ति प्रदान करने वाली है।

किन्तु गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा, विनय और सेवा का एक दूसरा दूसरा पक्ष भी है, जिसके सम्बन्ध में गुरुओं को सतर्क रहना आवश्यक है। जिस प्रकार शिष्य का अहंकार उसके विद्योपार्जन में बाधक होता है, उसी प्रकार गुरु का अहंकार गुरु की विद्या के विकास और गुरु के विद्यादान में बाधक होता है। सभी रूपों में अहंकार विद्या का प्रतिबन्धक है और आत्मा ही विद्या की अनन्य अनुग्राहक है। शिष्य की श्रद्धा का उद्देश्य शिष्य के अहंकार का विगलन करना ही नहीं, वरन् गुरु के अहंकार का संवरण कर गुरु के अध्यात्म को भी दीप्त करना है। विद्या की इस आध्यात्मिक भूमिका में वस्तुतः गुरु-शिष्य का भेद भी विलीन हो जाता है। विद्या की ब्रह्ममयी सरस्वती से दोनों ही विद्या प्राप्त करते हैं। अध्यापन के क्रम में गुरु को भी नये-नये तत्वों का ज्ञान होता है। अध्यापन को अपनी ओर से अनु-

ग्रह न मानकर इसी रूप में अपना अनुग्राहक मानने पर ही गुरु का अहंकार संवृत रह सकता है तथा उसका आत्म-भाव सजग रह सकता है। विद्या को अपनी सम्पत्ति मानने पर गुरु का अहंकार विद्या के विकास और प्रदान दोनों का बाधक बन जाता है। अतः शिष्य के साथ-साथ गुरु को भी विनय-शील रहना आवश्यक है। दोनों में से कोई भी अहंकार से पीड़ित होता है तो द्वेष की सम्भावना पैदा हो सकती है, जिससे बचने के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् के शान्ति पाठ में 'मा विद्विषावहै' के द्वारा प्रार्थना की गई है। अहंकार और द्वेष से रहित होने पर गुरु-शिष्य दोनों दीप्त अर्थात् तेजस्वी होते है। विद्या का यह तेज आत्मा का ही वर्चस्व है।

सरस्वती के रूप में विद्या की आराधना का यही रहस्य है। विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित सरस्वती की उपासना गुरु शिष्य दोनों को नम्र वनाती है। विनय और श्रद्धा आराधना के मूल भाव हैं। गुरु के प्रति श्रद्धा के द्वारा शिष्य के लिए विनय तथा विनय के द्वारा गुरु के लिए अध्यात्म का उद्‌घाटन सम्भव हो सकता है। किन्तु सरस्वती के प्रति श्रद्धा के द्वारा दोनों का विनय और आत्म-भाव सुरक्षित हो सकता है। सरस्वती के देवता-रूप का यही रहस्य है।

उत्तम विद्या का विकास नये-नये तत्वों के उद्‌घाटन से होता है। इसी को 'प्रतिभा' कहते हैं। 'प्रतिभा' वस्तुतः आत्मा के आलोक का ही विभासन है। वह विनय के द्वारा ही विकसित होती है। अहंकार का दर्प प्रतिभा के द्वार का अवरोध कर देता है। इसीलिए अल्पज्ञानी प्रायः अहंकारी हो जाते हैं और उनकी विद्या एवं प्रतिभा का विकास नहीं होता। महान् विद्वान प्रायः विनय-शील होते हैं। वे विद्या की अनन्त सम्भावनाओं और अपने ज्ञान की अल्पता को जानते हैं। यही ज्ञान उन्हें विनय देता है। विनय से उनकी प्रतिभा के क्षितिज विद्या के अनन्त लोक में उद्‌घाटित होते हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक अपने को समुद्र तट पर शंख-सीप बटोरते हुए शिशुओं के समान समझते हैं। अनेक श्रद्धावान विद्वान तथा कवि अपनी विद्या को किसी अलौकिक शक्ति का वरदान मानते हैं। ये सब अध्यात्म की अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। इसी अध्यात्म के द्वारा उत्तम विद्या और श्रेष्ठ प्रतिभा का विकास सम्भव होता है।

शिक्षा का यह अध्यात्म आज के व्यवसायी युग में भी उतना ही सत्य है, जितना प्राचीन-काल में था। यह कहा जा सकता है कि आज इस अध्यात्म को समझने की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि आज स्वार्थ और अहंकार की बाधायें विद्या के विकास का अधिक अवरोध कर रही हैं।

ऐसी स्थिति में शिक्षा के संदर्भ में अध्यात्म के दार्शनिक सूत्र को ग्रहण करना बहुत आवश्यक है। शिक्षा को विद्या का पर्याय मानने पर भी उसमें आत्मा के अनुग्रह का महत्व समझना होगा। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सर्वांगीण सफलता के अर्थ में शिक्षा को समझने पर अध्यात्म शिक्षा का और भी अधिक उपकारक बन जाता है। विद्या के उपार्जन के अर्थ में शिक्षा मुख्यतः एक बौद्धिक साधना है। दार्शनिक क्रम में बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर है। अहंकार व्यक्ति की सत्ता का केन्द्र और अधिष्ठान अवश्य है, किन्तु उसके कठोर और सीमित होने पर शिक्षा, संस्कृति, कला, साहित्य, धर्म, अध्यात्म आदि उन लक्ष्यों की साधना कठिन हो जाती है, जिनका क्षेत्र अहंकार से ऊपर है तथा जो अहंकार से शासित नहीं है। सीमित रूप में व्यक्ति का अहंकार न इन लक्ष्यों का अधिष्ठान है और न इसका विषय है। अहंकारों की सीमायें कुछ शिथिल और विस्तृत होने पर तथा उनके बीच एक उदार साम्य विकसित होने पर ही उक्त लक्ष्यों की साधना सम्भव होती है।

यद्यपि शिक्षा का सम्पूर्ण अर्थ बौद्धिक ज्ञान का उपार्जन नहीं है, फिर भी उसमें बुद्धि की ही प्रधानता रहती है। ज्ञान स्वतन्त्र और निष्पक्ष है। वह अहंकार से शासित नहीं होता। बुद्धि की स्थिति अहंकार से ऊपर है तथा उसका स्वरूप निर्वैयक्तिक है। अतः अहंकार का अतिक्रमण करके ही बौद्धिक ज्ञान की समुचित साधना सम्भव हो सकती है। जीवन के प्राकृतिक अनुरोध, जीविका की अपेक्षायें तथा राजनीति और शासन की सामाजिक व्यवस्थायें अहंकार को सीमित, रूढ़ एवं कठिन बनाती हैं। इनमें पैदा होने वाले संघर्ष अहंकार के अनुरोध को दृढ़ करते हैं। किन्तु शिक्षा की साधना के लिए इस अनुरोध का अतिक्रमण करना आवश्यक है। शिक्षा, विद्या, साहित्य, विज्ञान, कला आदि के क्षेत्र में जिन महान् पुरुषों ने कुछ श्रेष्ठ उपलब्धियाँ की हैं, उनको यह सफलता अहंकार का अतिक्रमण करके ही मिली है।

शिक्षा की व्यवस्था और साधना सामाजिक परिवेश में ही होती है। अतः श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल परिवेश के निर्माण के लिए समाज की व्यवस्था में स्वार्थ और अहंकार का समुचित समाधान करना होगा। जीविका और व्यवसाय की समस्यायें समाज में स्वार्थ को बढ़ाती हैं। स्वार्थों के संघर्ष से अहंकार बढ़ता है। राजनीति और प्रशासन में यह अहंकार सत्ता का उन्माद बन जाता है। इन सभी रूपों में प्रकट होने वाले अहंकार को सीमित करना होगा। तभी परिवार में बालक को ऐसा पालन और ऐसे संस्कार मिल सकेंगे, जो उसके व्यक्तिगत अहंकार को नम्र बनाये रखने में सहायक हों तथा श्रद्धा एवं उदारता के दृष्टिकोण से श्रेष्ठ शिक्षा के उपार्जन को प्रेरित कर सकें। सामाजिक व्यवस्था और पारिवारिक पालन-पोषण की प्रेरणा से ही बालक का अहंकार आरम्भ से ही नम्र बन सकता है। अहंकार का अतिक्रमण करने के लिए भारतीय अध्यात्म में जो व्यक्तिगत साधनायें बताई गई हैं, वे उपयोगी अवश्य हैं, किन्तु अनुकूल सामाजिक व्यवस्था के सहयोग के बिना उनका सफल होना कठिन है।

शिक्षा की यह सामाजिक भूमिका सभी समाजों में महत्वपूर्ण होती है। किन्तु भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति में वह अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गई है। अधिकांश पश्चिमी देशों ने शताब्दियों में अनेक उपायों के द्वारा अपने समाज में नैतिक आदर्शों का अनुष्ठान किया है। इस अनुष्ठान से ही उन देशों में शिक्षा की उन्नति और सफल लोकतन्त्र का विकास हुआ है। उन समाजों की व्यवस्था में नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सामूहिक श्रद्धा के द्वारा स्वार्थों का अपेक्षित परिसीमन तथा अहंकारों का वांछित विनमन हुआ है। किन्तु भारतीय समाज में ऐसा सम्भव नहीं हो सका। प्राचीन भारतीय समाज के निर्माताओं ने अनेक उत्तम आदर्शों तथा नैतिक नियमों को समाज में प्रतिष्ठित किया। प्राचीन काल में अनेक लोग इन आदर्शों और नियमों का पालन करते रहे। प्राचीन परम्पराओं का प्रभाव अभी तक बना हुआ है, किन्तु निरन्तर शिथिल होता जा रहा है। भारत के राजनैतिक दुर्भाग्य ने आदर्शों की रक्षा को कठिन बना दिया। पराधीन जाति के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ दुर्लभ हो जाते हैं। अतः वे अधिक महत्वपूर्ण बन जाते

हैं। पराधीनता के अभावों की स्वाधीनता के बाद ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि स्वतन्त्र भारत के व्यवसाय, शासन और राजनीति सभी प्रबल स्वार्थ एवं घोर अहंकार से आक्रान्त हो गए। स्वार्थ और अहंकार की ऐसी आँधी स्वतन्त्र भारत के वातावरण में उठी कि नैतिक आदर्शों के, जो कुछ कल्पवृक्ष बचे थे, वे भी उन्मूलित हो गए। व्यवसाय के घोर स्वार्थ तथा शासन और राजनीति में छाए हुए सत्ता के दर्प ने सामाजिक वातावरण को ऐसा अभिभूत कर लिया है कि विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, विद्वानों के लिए भी स्वार्थ और अहंकार का अतिक्रमण करके श्रेष्ठ विद्या की साधना करना कठिन हो गया है। जब तक ऐसी स्थिति रहेगी तब तक शिक्षा और देश की उन्नति सम्भव न हो सकेगी। समाज के नेता और अधिकारी जब तक अपने स्वार्थ, अहंकार और दर्प को त्यागकर नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों की वन्दना नहीं करेंगे, तब तक भारतीय समाज प्रगति के मार्ग पर आगे न बढ़ सकेगा। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति के द्वार स्वार्थ और अहंकार के नमन से ही खुलते हैं तथा उनकी पगडंडियाँ एवं उनके राजपथ अहंकार से अतीत बुद्धि और आत्मा के लोक में ही फैलते हैं।

शिक्षा के संदर्भ में अध्यात्म की साधना का समस्त भार केवल विद्यार्थियों तथा अध्यापकों पर ही नहीं लादा जा सकता। विद्यार्थियों के माता-पिता, सामान्य समाज, शासन के अधिकारियों तथा राजनीति के नेताओं को भी इसका भार वहन करना होगा। स्वार्थ और अहंकार से छाए हुए वातावरण में विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों के लिए अहंकार से ऊपर उठकर विद्या की साधना करना कठिन है। वे अपने दैनिक जीवन में व्यावसायियों के स्वार्थ, अधिकारियों के दर्प और नेताओं के अहंकार से पीड़ित रहते हैं। सारा वातावरण उनके अहंकार को कुण्ठित और उत्तेजित कर उनकी साधना को चुनौती देता है। माता-पिता, सामान्य समाज तथा अधिकारियों एवं नेताओं की दृष्टि में विद्या का और अध्यापकों एवं विद्वानों का कोई आदर नहीं है। जब तक ये सभी लोग अपने स्वार्थ और अहंकार को कम करके विद्या का तथा अध्यापकों एवं विद्वानों का आदर नहीं करेंगे, तब तक विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों के लिए अहंकार से ऊपर उठकर श्रेष्ठ विद्या की साधना करना सम्भव न हो सकेगा।

शिक्षा के अध्यात्म का यह सामाजिक पक्ष ध्यान देने योग्य है। अध्यात्म व्यक्ति की एकान्त साधना नहीं है। आत्मा अहंकार के समान इकाई नहीं है। वह पारस्परिक अद्वैत का भाव है, जो विद्या, योग-साधना, भक्ति आदि किसी भी क्षेत्र में अनुकूल सामाजिक वातावरण की प्रेरणा के विना अकेले के अध्यवसाय का लक्ष्य नहीं वन सकता। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सहयोग से ही सभी क्षेत्रों में अध्यात्म सफल होता है तथा उन्नति के मार्ग प्रशस्त होते हैं।

५–शिक्षा और संस्कार

शिक्षा को सामान्य रूप से विद्या अथवा ज्ञान का विकास समझा जाता है। आरम्भ से लेकर उच्च कक्षाओं तक प्रायः इसी रूप में शिक्षा दी जाती है। अक्षर-ज्ञान के बाद पुस्तकों और विषयों की पढ़ाई आरम्भ हो जाती है और अन्त तक इसी रूप में शिक्षा चलती रहती है। यह सब ज्ञान की परिधि के अन्तर्गत है, यद्यपि जिस प्रकार से हमारी शिक्षा प्रणाली चल रही है उसमें ज्ञान का विकास भी अच्छी तरह नहीं होता। किन्तु शिक्षा केवल ज्ञान का विकास नहीं है। ज्ञान जीवन का केवल एक अंग है। जीवन के अन्य अंगों का विकास भी शिक्षा के ही अन्तर्गत है। इनमें चरित्र, कला, संस्कृति आदि का विकास मुख्य है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इनका उचित स्थान नहीं है। चरित्र तो एक सामान्य मानवीय विभूति है, यद्यपि देशों के चरित्र की अपनी भी विशेषताएँ हो सकती हैं। किन्तु कला और संस्कृति में ये विशेषताएँ अधिक होती हैं। सार्वभौम होते हुए भी कला और संस्कृति के तत्व देशों की परम्पराओं में विशेष रूपों से ही साकार होते हैं। इन परम्पराओं की भूमिका में आरम्भ से ही सजग संस्कारों के द्वारा कला और संस्कृति के विकास का बटवारा शिक्षा के साथ हो सकता है।

कला और संस्कृति की शिक्षा में ही नहीं, वरन् ज्ञान की शिक्षा में भी संस्कारों का बड़ा महत्व है। संस्कार मन की विशेष शक्ति है। न्याय दर्शन में स्मृति को मन का मुख्य संस्कार माना है। स्मृति का आधार धारणा है। धारणा में ही पूर्व अनुभव के संस्कार संचित रहते हैं और अवसर पर स्मरण के रूप में फलित होते हैं। मीमांसा दर्शन में व्रीही-प्रोक्षण के समान उस कर्म के अर्थ में संस्कार का प्रयोग होता है, जिसके द्वारा किसी वस्तु में नवीन गुणों का आधान होता है। सोने को अग्नि में तपा कर उसे चमकाना सोने का संस्कार है। कपड़े को धो कर उसे स्वच्छ बनाना कपड़े का संस्कार करना है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में बालकों के जातकर्म, उपनयन आदि संस्कार होते हैं। उनका उद्देश्य भी उत्तरोत्तर मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व में नवीन

गुणों का विकास करना है। ये गुण प्राकृतिक नहीं है। इन्हें सांस्कृतिक गुण कहना अधिक उचित होगा। प्रकृति की गति स्वाभाविक है। किन्तु सांस्कृतिक गुणों का विकास स्वाभाविक रूप से नहीं, वरन् मनुष्य के सचेतन प्रयत्न द्वारा होता है।

न्याय और मीमांसा दर्शन के अनुसार ऊपर संस्कार के जिन दो रूपों का संकेत किया गया है वे एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी विरोधी नहीं हैं। न्याय दर्शन का संस्कार एक प्राकृतिक धारणा-वृति है, जो भौतिक जगत् में वेग और स्थिति-स्थापक के रूप में रहती है, तथा मन में स्मृति के रूप में रहती है। मीमांसा दर्शन और सांस्कृतिक परम्परा में संस्कार का अभिप्राय प्राकृतिक धारणा की अपेक्षा नवीन गुणों के आधान और गुणों की समृद्धि से है। न्याय दर्शन का संस्कार प्राकृतिक और मानसिक जगत् में स्थिति का साधक तथा भूत और भविष्य की स्थितियों का सम्बन्ध सूत्र है। इस सूत्र के बिना वस्तुओं और व्यक्तियों के गुण की समृद्धि भी सम्भव नहीं हो सकती है। गुणों और संस्कृति का विकास धारणा के आधार से ही हो सकता है। गुणों के उत्कर्ष का प्रत्येक चरण विकास के सोपान क्रम में एक नयी सीढ़ी बनाता है। इस प्रकार भिन्न होते हुए भी संस्कार के दोनों रूप एक दूसरे के पूरक है। संस्कार के इन दोनों रूपों का समन्वय ही शिक्षा का पूर्ण रूप है।

प्राकृतिक धारणा के रूप में जो संस्कार न्याय दर्शन में माना गया है वह प्रकृति और मन की एक शक्ति है अथवा यों कह सकते हैं कि शक्ति के आधार पर ही यह संस्कार सम्भव होता है। यह शक्ति का धारणात्मक रूप है। इसके अतिरिक्त शक्ति का एक विकासत्मक रूप भी है। जीवन और प्रकृति के सृजनात्मक रूप शक्ति के इस दूसरे रूप से ही प्रेरणा पाते हैं। इसी के द्वारा वृक्ष बढ़ते और फलते फूलते हैं। कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी इसी शक्ति के द्वारा विकास सम्भव होता है। धारणा के सोपानों पर कला और संस्कृति कल्पना के दिव्य लोकों की ओर बढ़ते जाते है। इस विकास में दोनों का सौन्दर्य उत्तरोत्तर निखरता है।

शिक्षा के प्रत्येक रूप में संस्कार के इन दोनों रूपों का महत्व है। केवल ज्ञान के अर्थ में भी विद्या स्मृति की धारणा में ही स्थिर रहती है;

और बढ़ती है। दूसरी ओर जिज्ञासा नयी-नयी अवगतियों का कौतूहल बढ़ाती है, और ज्ञान की वृद्धि की प्रेरणा बनती है। शिक्षा के व्यापक रूप में जिन गुणों की समृद्धि का सन्निधान है वे भी धारणा के पीठ पर ही विकसित होते हैं। प्राकृतिक न होते हुए भी मन के संस्कारों में ही इन गुणों की विभूति सुरक्षित रहती है, और संस्कारों की शक्ति से ही वह बढ़ती है। संस्कार के दोनों रूपों का समान महत्व है। शक्ति के समान आधार में ही ज्ञान, चरित्र, संस्कृति आदि का विकास शिक्षा को सफल और पूर्ण बना सकता है।

अतः शक्ति-रूप में संस्कारों का सम्बन्ध ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए। शक्ति अपने मूल स्वरूप में स्वतन्त्र है। अतः स्वतन्त्रता पूर्वक ही ये संस्कार सम्बन्धित हो सकते हैं। प्राकृतिक धारणा के अर्थ में भी स्मृति के संस्कार स्वतन्त्रता पूर्वक ही बनते और बढ़ते हैं। गुणों के विकास के संस्कारों में स्वतन्त्रता का और भी अधिक महत्व है। गुण केवल नैतिक और सांस्कृतिक ही नहीं होते, ज्ञान के क्षेत्र में भी भाषा, बुद्धि, विचार, विवेचना आदि की शक्ति भी मन के गुणों के अन्तर्गत है। अतः ज्ञान और विद्या सम्बन्धी शिक्षा भी शक्ति में संस्कारों के आधार पर ही सफल और समृद्ध होती है। नैतिक और सांस्कृतिक गुण ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, किन्तु इन संस्कारों के निर्माण और विकास के लिए सामाजिक परिवेश की प्रेरणा और व्यक्ति के स्वतन्त्र उद्योग की अधिक आवश्यकता होती है। इन दोनों के सहयोग से ज्ञान के संस्कार भी अधिक दृढ़ और सम्पन्न होते हैं। संस्कार और शक्ति के उत्तरोत्तर विकास में ही ज्ञान और संस्कृति की भी समृद्धि होती है।

किन्तु हमारी शिक्षा प्रणाली में संस्कारों के उक्त दोनों ही रूपों का उचित आदर नहीं है। स्मृति की प्राकृतिक धारणा की सहज शक्ति भी ज्ञान की सम्पन्नता में सफल होने के स्थान पर पाठ्य के भार से आक्रान्त और अभिभूत हो रही है, हमारी शिक्षा प्रणाली में स्मृति के सदुपयोग के स्थान पर परिमाण के भार से उसे मन्द और निष्फल बनाया जा रहा है। स्मृति के संस्कार के दो साधारण नियम हैं जिन्हें मनोविज्ञान भी मानता है। एक नियम तो यह है कि रुचि के अनुसार थोड़ी मात्रा में ही कुछ बातें मनुष्य को याद रह सकती हैं। रुचि के

बिना स्मरण भार हो जाता है और रुचि के साथ भी बहुत अधिक परिमाण में बातें याद नहीं की जा सकती। किन्तु हमारी पाठ्य सामग्री और परीक्षा प्रणाली विद्यार्थियों से बहुत अधिक परिमाण में बातों को याद रख कर परीक्षार्थियों को तैयार रहना पड़ता है। इतने परिमाण में बातें उनके अध्यापकों को भी याद नहीं होती। अध्यापक जिन बातों को खंड खंड करके वर्ष भर में पढ़ाते हैं उन सारी बातों को परीक्षार्थियों को एक साथ याद रखना पड़ता है। यह स्मृति की सहज शक्ति के साथ अत्याचार है। इस अत्याचार के फलस्वरूप ही हमारी शिक्षा का सर्वनाश हो रहा है। पाठ्य के के कारण पाठ्य विषयों के प्रति विद्यार्थियों में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। किसी प्रकार हाथ पैर पीटकर परीक्षा से तो पार हो जाते हैं किन्तु परीक्षा के बाद पिछले पढ़े हुए विषयों में उन की कोई रुचि नहीं रहती। अध्यापक भी अपने पिछले पढ़े हुए विषयों में बहुत कम रुचि रखते हैं। जिन विषयों को वे पढ़ाते है उनमें भी आगे वे बहुत कम अध्ययन करते हैं अत्यन्त साधारण कोटि के ग्रंथों से वे केवल अध्यापन की वृत्ति चलाते हैं।

दूसरा नियम यह है कि स्मृति के संस्कार की प्रतिक्रिया विश्राम पर निर्भर है। ज्ञान के साक्षात् अनुभव में मन जिन बातों को ग्रहण करता है वे विश्राम और अवकाश के शान्ति पूर्ण क्षणों में मन की ज्ञान-विभूति में आत्मसात होती है। अतः जहां एक ओर पाठ्य का अधिक परिमाण स्मृति के दृढ़ संस्कारों में बाधक होता है, वहां दूसरी ओर अध्ययन की निरन्तरता उन संस्कारों की सम्भावना को भी मन्द बनाती है। विद्यालयों में चार-छः घन्टे निरन्तर पढ़ाई होती है। एक के बाद एक विषय बढ़ाये जाते हैं। इसके बाद विद्यार्थी घर पर पढ़ते हैं। मानों पढ़ना ही जीवन का धर्म है और ज्ञान ही सर्वस्व है। ज्ञान जीवन की उत्तम विभूति है, किन्तु थोड़े समय में थोड़ा ही ज्ञान स्मृति के संस्कारों में दृढ़ किया जा सकता है। उसको भी आत्मसात करने के लिए बीच में विश्राम अपेक्षित है। निरन्तर पढ़ते रहना उसी प्रकार गलत है जिस प्रकार निरन्तर खाते रहना। किशोर और यौवन के सीमित और स्वर्णिम काल में अधिक से अधिक अध्ययन के भार से ज्ञान की रुचि को पराभूत कर प्रौढ़वय में ज्ञान के प्रति उदासीन हो जाना उतना ही गलत है जितना कि कुछ वर्षों तक

अत्यधिक भोजन करके पाचन शक्ति को मन्द बना देना और प्रौढ़वय में पौष्टिक भोजन के ग्रहण में असमर्थ हो जाना है। परीक्षा के दिनों में इतने अधिक पाठ्य को एक साथ स्मृति में समेट कर सफल होना उतना ही गलत है जितना कि दो चार दिन में ही दो चार मन भोजन कर लेना।

किन्तु गलत होते हुए भी यह अतिचार चल रहा है। मन शरीर की अपेक्षा अधिक उदार, सहिष्णु, समर्थ और स्वतंत्र है। इसी कारण मन के ऊपर अनेक अत्याचार चलते हैं। किन्तु वे निष्फल रहते हैं। मन शरीर की अपेक्षा अतिचार को अधिक सहता है। इसी दृष्टि से वह अधिक उदार है। शरीर पर किसी प्रकार का अतिचार होता है तो वह शीघ्र ही पीड़ित हो जाता है। अतिचार के प्रति शरीर का प्रतिरोध है। अतिचार से मन में ऐसी असह्य पीड़ा नहीं होती। इसीलिए मन शरीर की अपेक्षा कम प्रतिरोध करता है। इसका एक कारण यह भी है कि मन शरीर की अपेक्षा अधिक समर्थ और स्वतंत्र है। मन सूक्ष्म है। शरीर स्थूल है, शरीर पर अतिचार करना अधिक सम्भव है क्योंकि उसके द्वार खुले हैं। वह उन्हें बन्द नहीं कर सकता। हम आवश्यकता से अधिक भोजन कर सकते हैं। दिन-रात जग कर काम कर सकते हैं। और भी अनेक अतिचार शरीर के ऊपर किये जा सकते हैं। शरीर इन अतिचारों को थोड़ा ही सहता है और शीघ्र ही पीड़ा, रोग दुर्बलता, श्रान्ति आदि के रूप में अपनी प्रतिक्रिया दिखाता है। यह शीघ्र प्रतिक्रिया ही अतिचार के लिए शरीर की आत्म रक्षा का यंत्र है। मन शरीर की तुलना में सूक्ष्म और अधिक स्वतंत्र है। वस्तुतः शरीर और इन्द्रियों पर ही अतिचार किया जा सकता है। मन पर अतिचार करना कुछ विशेष रूपों में ही सम्भव है। इस अतिचार को, मन जितना विवश होता है, उतना ही सहता है। विद्यार्थियों को निरन्तर कई कक्षाओं में भाषण सुनने को बाध्य किया जाता है। किन्तु उनके मन को इन भाषणों का भाव ग्रहण करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पाठ और परीक्षा से परेशान विद्यार्थी दिन-रात पढ़ सकते हैं। किन्तु वे उस सब सामग्री को ग्रहण करने के लिए मन को मजबूर नहीं कर सकते। स्कूल, कालिज और घर की सारी पढ़ाई में से मन बहुत थोड़ा ग्रहण करता है, जितना उसके लिए सम्भव है, बाकी को वह ठुकरा देता है। यह मन की स्वतंत्रता है। मन पर हम जितना

बोझा चाहें लाद सकते हैं, लेकिन इस बोझे को लेकर चलने के लिए हम उसे मजबूर नहीं कर सकते। सूक्ष्म होने के कारण मन के भार-ग्रहण तिरस्कार आदि का सही-सही भान नहीं होता इसीलिये शिक्षा प्रणाली में मन के ऊपर इतना अधिक भार लादा जा रहा है कि शिक्षा निष्फल हो रही है। अति भार के कारण मन की ग्रहण शक्ति मन्द हो जाती है, और बुद्धि की शक्ति का विकास नहीं होता। ध्यान और धारणा दोनों की मनोवैज्ञानिक मर्यादाओं का तिरस्कार हमारी शिक्षा प्रणाली में हो रहा है। ज्ञान की दृष्टि से भी शिक्षा और विद्या का उद्देश्य यही है कि जो कुछ पढ़ा और पढ़ाया जाय वह स्मृति की धारणा में स्थिर हो तथा उसकी धारणा बुद्धि की शक्ति बन कर विद्या की उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रेरणा बने। बुद्धि की शक्ति ही विद्या का गुण है किन्तु इस शक्ति और गुण के स्थान पर पाठ्य के परिमाण और विषयों की संख्या का भार ही हमारी शिक्षा प्रणाली में अधिक है। परिमाण के इस आग्रह के कारण स्मृति के संस्कार और बुद्धि की शक्ति दोनों ही शिथल हो रहे हैं। इसीलिये शिक्षा का स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है। बाल्यकाल में इन संस्कारों का दृढ़ होना शिक्षा की नींव को दृढ़ बनाना है। किन्तु बालकों की शिक्षा में भी पुस्तकों और विषयों का भार संस्कारों की शक्ति को दुर्बल बनाकर शिक्षा की जड़ को गला रहा है।

ज्ञान के उपार्जन और बुद्धि के विकास में ही नहीं, बालकों के नैतिक चरित्र एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व के निर्माण में भी संस्कारों का बहुत महत्व होता है। चरित्र और संस्कृति का विकास भी शिक्षा का अंग है। ज्ञान, चरित्र और संस्कृति की त्रिवेणी के संगम में ही शिक्षा जीवन का तीर्थराज बनती है। हमारी शिक्षा प्रणाली ज्ञान तक ही सीमित है। विद्यार्थियों का सारा समय पढ़ाई में ही जाता है। उस पढ़ाई में भी परिमाण का आग्रह बहुत है। अत: विद्यार्थियों की बुद्धि का समुचित विकास नहीं हो पाता। परिमाण के भार के कारण ज्ञान के संस्कार स्मृति में दृढ़ नहीं हो पाते। अत: विद्यार्थियों को यह एकांगी परिश्रम भी व्यर्थ जाता है। ज्ञान की दृष्टि से भी हमारी शिक्षा निष्फल रहती है। परीक्षा पास करने के बाद विद्यार्थी पिछले पढ़े हुए विषयों को भूल जाते हैं। वस्तुत: वे उनकी वृद्धि में धारणा के संस्कार बन कर दृढ़ नहीं होते। विद्यार्थी ही नहीं अध्यापक भी अपने पढ़े हुये को भूल जाते हैं। अपने

विषयों को पढ़ाने में जो वर्षों का समय और श्रम लगता है वह बिल्कुल व्यर्थ जाता है। अपने विषयों के सम्बन्ध में अध्यापकों को आज पढ़ाई जाने वाली बातों के अतिरिक्त और बहुत कम अच्छी तरह याद होता है। ऐसी निष्फल शिक्षा से क्या लाभ है, जो विद्यार्थियों और अध्यापकों को न पिछले पाठ याद रखने के योग्य बनाती है और न किसी विषय का आगे अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न करती है।

ज्ञान के संस्कार तो मन की सहज वृत्ति हैं। प्राकृतिक नियम के आधार पर वे यथा सम्भव बनते हैं। किन्तु जिन संस्कारों के आधार पर नैतिक चरित्र का निर्माण होता है वे प्राकृतिक नहीं हैं। प्रकृति की गति ग्रहण, भोग और स्वार्थ की ओर है। किन्तु नैतिक चरित्र का निर्माण त्याग, संयम और परार्थ के संस्कारों के द्वारा होता है। इन संस्कारों के लिए प्रकृति का परिष्कार, संयम, और उन्नयन अपेक्षित होता है। ये संस्कार मनुष्य के व्यक्तित्व और स्वभाव में नवीन गुणों का आधान करते हैं। अत: इन्हें संस्कारों का सांस्कृतिक रूप कहना अधिक उचित है। ज्ञान का उपदेश इन संस्कारों का निर्माण करने में सहायक नहीं होता। ज्ञान केवल प्रकाश रूप है। उसमें प्रेरणा नहीं है। ज्ञान का प्रकाश भी हमारी शिक्षा में बहुत मन्द है। नैतिक संस्कारों की प्रेरणा सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों के आचार और सामान्य सामाजिक वातावरण से मिलती है। शिक्षालय और समाज दोनों में बालकों को जीवित सम्पर्क बहुत कम मिलता है। साथ ही नैतिक संस्कारों की प्रेरणा देने वाले मनुष्य भी बहुत कम हैं। यह एक कटु सत्य है कि हमारे समाज का नैतिक स्तर बहुत गिर गया है। सामाजिक व्यवहार और व्यापार में बालकों को अनैतिकता ही अधिक देखने को मिलती है। शिक्षालयों में भी इसका प्रभाव बढ़ रहा है। बढ़ती हुई अनुशासन हीनता इसी का परिणाम है। अधिकारी प्राय: नैतिक शिक्षा की बात सोचते हैं। किन्तु चरित्र उपदेश से नहीं बनता। ईसाई देशों में हजारों चर्चों में प्रति सप्ताह होने वाले उपदेशों का फल विनाशक युद्धों में होता रहा है। चरित्र का निर्माण परम्परा और परिवेश के प्रभाव से होता है। शिक्षा में ज्ञान के एकांगी आग्रह को छोड़ कर, जीवन के व्यावहारिक रूप में नैतिक संस्कारों का प्रोत्साहन देकर ही चरित्र के निर्माण की भूमिका बन सकती है। व्यावहारिक जीवन में अंकुरित होने वाले संस्कार ही नैतिक चरित्र में फलित होते हैं।

शिक्षा और संस्कृति

नैतिक चरित्र की भांति संस्कृति के संस्कार भी जीवन के व्यवहार और परिवेश में पलते हैं। चरित्र की भांति वे भी उपदेशों से नहीं बनते। हमारी शिक्षा में नैतिकता की भांति संस्कृति का कोई स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। परीक्षा का विषय बनकर आनन्दमयी संस्कृति भार बन जाती है। विद्यार्थियों और अध्यापकों के विचार, व्यवहार और भावना में संस्कृति के सौन्दर्य का स्पन्दन नहीं हैं। विदेशी शासनों के प्रभाव से हम अपनी संस्कृति को भूल गए हैं। पश्चिमी संस्कृति का वाह्य आकर्षण हमें लुभा रहा है। विद्यार्थी ही नहीं, हमारा स्वतंत्र शासन और समाज के नेता भी समय के इस प्रवाह में वह रहे हैं। संस्कृति से शून्य होकर हम स्वतंत्र होकर भी संसार में अपना गौरव खो रहे हैं। संस्कृति-शून्य शिक्षा नयी पीढ़ियों को भी मन से हीन बना रही है। विद्यार्थियों और अध्यापकों को वसन्त की भी सुधि नहीं है। होली जैसे रस पर्व पर परीक्षायें चलती हैं। शिक्षालयों में सूखने के कारण समाज में भी संस्कृति के स्रोत मन्द हो रहे हैं। समाज और शिक्षालयों में नैतिक और सांस्कृतिक संस्कारों का वैभव बढ़ने पर ही स्वतंत्र भारत एक गौरवशाली राष्ट्र बन सकता है।

६—शिक्षा का वृत्त

शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास है। यह निर्माण और विकास बालक की आन्तरिक शक्ति के द्वारा होता है तथा इसके साथ-साथ स्वयं शक्ति का भी विकास होता है। शिक्षा के इस विकास में शक्ति ही मुख्य और मूल कारण है। दूसरे कारण केवल सहकारी हैं। वस्तुतः सृष्टि की सभी गतियों का मूल सूत्र शक्ति है। यह शक्ति अनेक रूपों में विश्व में व्याप्त है। सभी क्षेत्रों में इस शक्ति के प्रस्फुरण के द्वारा ही निर्माण और विकास होता है। जड़जगत् के परमाणुओं की शक्ति सुप्त और अप्रकट थी। विज्ञान ने अब उसे जगा कर प्रकट कर दिया है। किन्तु जीव जगत में यह शक्ति सदा प्रकट और प्रत्यक्ष रही है। जीव लोक के परमाणु बीज कहलाते हैं। ये बीज शक्ति के बिन्दु हैं। इनकी अन्तर्निहित शक्ति से ही वृक्षों और प्राणियों का रूप विकसित होता है।

इन बीजों को विकसित होने के लिए खाद, पानी, हवा, धूप आदि की भी आवश्यकता है। किन्तु ये उस विकास के सहकारी कारण हैं। विकास की मूल प्रेरणा और शक्ति बीज में ही निहित रहती है। इस शक्ति के द्वारा और इसके अनुरूप ही वह इन सहकारी उपकरणों के तत्व एवं प्रभाव को आत्मसात् करता है तथा इस क्रिया के द्वारा विकसित होता है। अच्छी फसल और अच्छे वृक्षों के लिए अच्छा खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है, अच्छा बीज भी आवश्यक है। बीज की शक्ति ही मूल तत्व है, क्योंकि वही इन उपकरणों को आत्मसात् करके उनको सफल बनाती है। इस शक्ति के अभाव में ये उपकरण भी निष्फल होते हैं।

वृक्षों की भांति हम मनुष्यों में भी विकास का यह सिद्धान्त देखते हैं। बच्चे के विकास के लिए अच्छे भोजन की आवश्यकता है, किन्तु इसका उपयोग वह अपनी शक्ति के अनुसार ही करता है। हम देखते हैं कि बहुत से दुर्बल बच्चे अच्छे भोजन से भी नहीं पनपते। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उपयुक्त भोजन मिलने से दुर्बल बच्चों की

भी शक्ति बढ़ती है तथा शक्ति के बढ़ने से भोजन से और भी अधिक शक्ति ग्रहण करते एवं विकास पाते हैं। शक्ति के अभाव में भोजन आदि उपकरणों का कोई उपयोग नहीं हो सकता और न ऐसी अवस्था में विकास सम्भव है। विकास तो क्या, ऐसी स्थिति में जीवन भी सम्भव नहीं है। इसका उदाहरण हमें उस रोगी की अवस्था में मिलता है जो औषधि और भोजन भी नहीं पचा सकता।

इस प्रकार वृक्षों और जीवों का विकास तथा उनके जीवन की गतिविधि मूलतः शक्ति पर ही निर्भर है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि अच्छे खाद पानी तथा खुली हवा और धूप के मिलने से ही अच्छे बीजों की शक्ति भी सफल होती है। इन उपकरणों के बिना शक्ति भी मन्द होकर क्षीण हो जाती है, तथा अन्ततः निष्फल हो जाती है। एक दृष्टि से ये उपकरण भी शक्ति के रूप ही हैं। इन्हें बीज शक्ति की बाहरी प्रेरणा कह सकते हैं। यह बाहरी प्रेरणा बीज की आन्तरिक शक्ति का आवश्यक संबल है। समृद्धिशील होने के कारण ही शक्ति को ब्रह्म रूप मानते हैं। ब्रह्म का अर्थ ही बढ़ने वाला है। अतः बाहरी उपकरणों की प्रेरणा बीज की आन्तरिक शक्ति को सफल ही नहीं समृद्ध भी बनाती है, वरन् यह भी कहा जा सकता है कि इस समृद्धि के द्वारा ही बीज की शक्ति सफल होती है। इस समृद्धि के अभाव में कितने बीज निष्फल हो जाते हैं।

समृद्धि के इस सत्य का उदाहरण वृक्षों और मनुष्यों के आरम्भिक जीवन में मिलता है। उदीयमान पौधा और मनुष्य का बालक दोनों ही आरम्भ में बाहरी शक्ति की प्रेरणा की अधिक अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि इनके बीज रूपों में इतनी शक्ति होती है कि ये बाहरी उपकरणों से शक्ति ग्रहण करके आत्मशक्ति से ही अंकुरित और प्रस्फुटित होते हैं, फिर भी आरम्भ में ये इतने सुकुमार होते हैं कि इन्हें सुलभ, मृदुल और सुग्राह्य रूप में बाहरी शक्ति की प्रेरणा तथा उसके पोषण की आवश्यकता होती ही है। आगे चल कर वे बाहरी शक्ति के ग्रहण में इतने सुकुमार और पराधीन नहीं रहते। समर्थ होने पर वे किसी भी क्षेत्र और किसी भी वातावरण में अपनी समृद्ध शक्ति के द्वारा जीवन का संबल प्राप्त कर लेते हैं। पशुओं और मनुष्यों के बालकों को आरम्भ में भोजन देने की आवश्यकता होती है। बाद में समर्थ होकर वे स्वयं अपना भोजन प्राप्त करने योग्य बन जाते हैं।

किन्तु आरम्भ में भी भोजन के रूप में बाहरी शक्ति की प्रेरणा को केवल सुलभ बनाने की आवश्यकता है। मृदुल और सुग्राह्य रूप में सुलभ होने पर ही पौधे और बालक शक्ति का ग्रहण कर अपनी आंतरिक आत्म-शक्ति से विकास करते हैं। समृद्धि के लिए शक्ति के इस ग्रहण को आहरण कह सकते हैं। अतः वास्तविक आहार प्राप्त उपकरण नहीं है वरन् इन उपकरणों से आहरित शक्ति है। वैसे तो सभी पदार्थ शक्ति-रूप हैं किन्तु सभी पदार्थों में यह शक्ति समान रूप से प्रेरक और सुग्राह्य नहीं है। अतः कम से कम पौधों और बालकों के विकास काल में आहार-शक्ति का प्रेरक रूप में मिलना अधिक आवश्यक है। मनुष्य के बालक का शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के विकास का समय बहुत लम्बा होता है। सामान्यतः यह समय बीस वर्ष का होता है, जो परिमाण की दृष्टि से आयु का चौथाई अथवा तिहाई भाग है और महत्व की दृष्टि से अतुलनीय है। अतः मनुष्य के बालक के लिए प्रेरक और सुग्राह्य तथा शक्ति-रूप आहार की व्यवस्था एक लम्बे समय के लिये अपेक्षित है। विकास के लिए बाहर की इसी व्यवस्था का नाम शिक्षा है। इस शिक्षा के शारीरिक और मानसिक दो पक्ष हैं। शरीर के विकास का फल स्वास्थ्य कहलाता है और मानसिक विकास को सामान्यतः विद्या कहते हैं। किन्तु विद्या के इस व्यापक रूप में कला, कौशल और चरित्र भी सम्मिलित हैं।

मुख्यतः विद्या को ही शिक्षा मानते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य जीवन में मानसिक विकास का विशेष महत्व है। शारीरिक विकास अधिक सहज और स्वाभाविक रूप में होता है किन्तु मानसिक विकास के लिए अधिक परिश्रम और प्रयत्न करना पड़ता है। शारीरिक भोजन की अपेक्षित मात्रा अल्प है और उसकी आकांक्षा सहज होने के कारण वह स्वभावतः रुचिकर होता है। भूख में रूखा-सूखा भी स्वादिष्ट लगता है। इसके साथ-साथ मनुष्य ने उसे अनेक साधनों से रुचिकर बना लिया है। किन्तु मानसिक आहार में ऐसी सहज रोचकता नहीं है। दूसरे वह अनन्त है, उसकी कोई स्वभाविक सीमा नहीं है। अनन्त होने के कारण वह प्रायः भार बन जाता है। शिक्षा की व्यवस्थाओं ने उसके सहज और उसके स्वभाविक रूप को नष्ट करके उसे जड़ बना दिया है। जड़ होने के कारण उसका आहरण कठिन हो गया है और

शिक्षा क्लेशमय बन गयी है। इस कठिनता और क्लेश ने मानसिक स्वस्थता को भी आघात पहुँचाया है। विद्या और शिक्षा का क्षेत्र सूक्ष्म है। अतः इसकी कठिनताओं, क्लेशों और विडम्बनाओं का बोध हमें कम होता है। प्रकृति के साथ हम अतिचार नहीं कर सकते। यदि हम करते हैं तो वह अपनी प्रतिक्रियाओं के द्वारा हमें सचेत कर देती है। यदि हम आसानी से सचेत नहीं होते तो रोग आदि के द्वारा वह हमें सचेत होने के लिए विवश कर देती है। किन्तु मन का लोक सूक्ष्म है। अतः मानसिक क्लेश, रोग और अस्वस्थता का बोध सहसा हमें नहीं होता। मन की सहन शक्ति भी अधिक है, वह शरीर की भाँति अल्प क्लेश अथवा विकार से शिथिल नहीं होता। क्लिष्ट और रोगी शरीर से जीवन दूभर हो जाता है। किन्तु रोगी और अस्वस्थ मन में इतनी कठिनाई नहीं होती।

इसीलिए मानसिक जीवन और विकास के दोषों का भान हमें बहुत कठिनाई से होता है। शिक्षा में इन दोषों का बोध मन्द हो जाने के कारण शारीरिक विकास और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी हमारा यह बोध मन्द हो चला है और हम ऐसे आहार के ग्रहण में अधिक संकोच नहीं करते, जो दूर-दृष्टि से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। फिर भी शरीर के विषय में हमारे अज्ञान और अपराध की एक सीमा है। हम जान बूझ कर ऐसे जड़ पदार्थों का आहार नहीं करते जो स्पष्टतः शरीर के लिए घातक हैं। मनुष्य समाज ने स्वादिष्ट और हितकर पदार्थों की खोज में बहुत समय और श्रम लगाया है। हानिकारक पदार्थ भी हम स्वादिष्ट होने के कारण ही ग्रहण करते हैं। फिर भी हम ईंट, पत्थर, लकड़ी जैसे जड़ पदार्थ नहीं खाते क्योंकि इनसे शक्ति ग्रहण करने में हमारा शरीर असमर्थ है।

किन्तु मानसिक आहार में हम शारीरिक आहार के इन गुणों का ध्यान नहीं रखते। इस सम्बन्ध में हमारी शिक्षण प्रणाली की कई भूलें विचारणीय हैं। बड़े विस्मय की बात है कि मानसिक विकास और शिक्षा में हम उन बातों की भी उपेक्षा करते हैं जिनका कि हम शारीरिक विकास और शारीरिक आहार में अपने तथा दूसरे दोनों के लिए ध्यान रखते हैं।

आहार की सजीवता, सुरुचिपूर्णता और उसके ग्रहण करने की स्वतन्त्रता ये तीनों ही गुण मानसिक शिक्षा में प्रायः उपेक्षित रह जाते हैं। सबसे पहले ग्रहण की ही स्वतन्त्रता को ही ले तो विदित होगा कि जहाँ हम स्वतन्त्रता पूर्वक अपने हाथ से शारीरिक आहार ग्रहण करने को बालक का प्रशंसनीय गुण मानते हैं वहां हम मानसिक शिक्षा में बच्चे के ऊपर पराधीनता का आरोपण करते हैं और इस पराधीनता को ही शिक्षा का आवश्यक रूप समझते हैं। समर्थ बालक को हम अपने हाथ से भोजन कराना अनुचित मानते हैं किन्तु दूसरी ओर मानसिक आहार के ग्रहण में उसे पराधीन बनाकर अपने शिक्षा के अधिकार को न जाने क्यों अपना गौरव मानते हैं। इसीलिए शासन और अहंकार के मोह के कारण बालकों और समाज दोनों की शिक्षा में आरोपण उपदेश अधिकार, आचार्यत्व आदि की परम्परा चली आ रही है। दंड, भय और शासन के द्वारा बच्चों को शिक्षा देने की प्रथा के साथ-साथ जनता को अधिकार पूर्वक उपदेश देने वाले सन्तों, महन्तों, आचार्यों, मसीहाओं और पैगम्बरों आदि की एक लम्बी परम्परा इतिहास के आरम्भ से आज तक चली आ रही है। विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में यह शासन और अहंकार का मोह इतना प्रबल है कि इसके कारण हम सजीव और स्वतन्त्र शिक्षा के इस सरल सिद्धान्त को भी समझने और उसका पालन करने में असमर्थ हैं, कि बालक के मन में बीज के समान ही अपना आहार ग्रहण करने की शक्ति तथा स्वच्छन्दता पूर्वक विकसित होने की अनन्त सम्भावना होती है।

विद्यालयों में विद्यार्थी कच्ची मिट्टी की भाँति निश्चेष्ट बैठता है और अध्यापक अपने अधिकार से उसका पुतला बनाते हैं। उसे एक निर्जीव ग्रहीता 'ग्राहक' मानकर अध्यापक ज्ञान का भार उँड़ेलते हैं, जिसे वह दान की भाँति ग्रहण करता है। पारिवारिक जीवन में बालक को, विद्यालयों में विद्यार्थी को और समाज में मनुष्य को विकास एवं समृद्धि की स्वतन्त्र शक्ति से युक्त बीज नहीं माना जाता और न उसे बीज मानकर उसके स्वतन्त्र विकास के लिए अपेक्षित खाद पानी और हवा धूप की व्यवस्था की जाती है। बीज के स्वतन्त्र विकास की व्यवस्था के स्थान पर शिक्षा और उपदेश के नाम से प्रायः यही होता आया है कि सूखी भूमि में बीज को दबा कर उसके ऊपर

नकली एवं निर्जीव शाखाएँ और फूल पत्ते बीज की आन्तरिक शक्ति से विकसित नहीं हुए हैं। नकली और जड़ होने के कारण ये शाखाएँ निष्प्राण और निर्जीव हैं। अतः इनका विकास नहीं होता। जब ये शाखाएँ सूख कर गिरती हैं और फूल पत्ते मुरझा कर गिरते हैं तो इनके स्थान पर नयी शाखाएँ, नए पत्ते और नए फूल नहीं उगते। निर्जीव शाखाओं में वसन्त की नयी नयी बहारे नहीं आतीं। इन निर्जीव शाखाओं का विद्या-वृक्ष नए पल्लवों और नए कुसुमों के आगमन का वसन्त पर्व नहीं मनाता। इस पर प्रति वर्ष नए नए फल भी नहीं आते। यह तो सूखे वृक्ष की भाँति निर्जीव भाव में खड़ा रहता है। इसकी निर्जीव डालों पर बैठ कर ज्ञान के विहंग भी जीवन की प्रभातियाँ नहीं गाते।

हमारी शिक्षा का वृक्ष चेतना के बीज का स्वतंत्र और सजीव विकास न होने के कारण ऐसा ही आरोपित और निर्जीव वृक्ष है। इस शिक्षा के विषय निर्जीव शाखाओं के समान हैं और इन विषयों के ग्रन्थ तथा पाठ जड़ और प्राणहीन फूल-पत्तों के तुल्य हैं। इन जड़ और निर्जीव शाखाओं में न जीवन का रस-प्रवाह है और न सजीवता का लोच है। इन प्राणहीन पत्तों में न जीवन का वर्ण है और न प्राणों का स्पन्दन है। इन निर्जीव फूलों में न जीवन की कान्ति है और प्राणों का पराग है। इसीलिए शिक्षा के इस निर्जीव वृक्ष पर मन के मधुकरों की मधुर गुंजार नहीं है।

इस शिक्षा के द्वारा दिए जाने वाले मानसिक आहार में आरोपण और पराधीनता के साथ साथ जड़ता और निर्जीवता भी है। इसमें ईंट, पत्थर, और लकड़ी के समान अत्यन्त जड़ और कठोर पदार्थ भी हैं। अन्य वनस्पति और फल के समान सजीव और सुग्राह्य पदार्थ बहुत कम है। फिर भी यह आरोपण के रूप में दिए जाते हैं। स्वतन्त्र और सजीव रूप में बालक की चेतना का बीज इन्हें ग्रहण नहीं करता। स्वतन्त्रता और सजीवता ही मानसिक आहार को रुचिकर बनाती है। अतः यह रुचिकर भी नहीं होता। रुचिकर आहार ही हितकारी होता है। अतः निर्जीव होने के साथ साथ यह आरोपणमयी शिक्षा निष्फल भी है। इससे बालक और विद्यार्थी

में शक्ति और योग्यता का विकास नहीं होता। सूखी शाखाओं की भाँति कुछ निर्जीव बाहरी विधियाँ उस पर अवश्य आरोपित हो जाती हैं। किन्तु इनका उसकी आत्मा से कोई सजीव सम्बन्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तरों की प्रणाली, विषयों के सिद्धान्त, पाठ्य पुस्तकों के अम्बार साहित्य की आलोचना आदि शिक्षा की जड़ताओं के विविध रूप हैं। शिक्षक और विद्यार्थी के सजीव सम्पर्क का अभाव भी निर्जीव तथा रुचिहीनता का प्रमाण है। आन्तरिक शक्ति की बहुमुखी समृद्धि की अपेक्षा यह शिक्षा कुछ बाहरी विधियों का आरोपण ही अधिक है।

सच्ची शिक्षा का रूप विद्यार्थी की आन्तरिक शक्ति का विकास और उसकी अन्तर्निहित सम्भावनाओं की समृद्धि है। बीज के विकास की भाँति शक्ति के इस विकास के लिए शिक्षण की निर्जीव शाखाओं के आरोपण की अपेक्षा नहीं है। इस आरोपण के स्थान पर अच्छे खाद-पानी और खुली हवा की आवश्यकता है। विद्या के बीज की खाद वह रुचिकर और अनुकूल सामग्री है जिसका विद्यार्थी की चेतना अपनी आन्तरिक शक्ति की समृद्धि के लिए आहरण (ग्रहण) कर सकती है। पानी आहार के साथ साथ भूमि को सरस और मृदुल बनाता है, जिसमें बीज अंकुर होकर विकसित होता है। गुरुजनों और अध्यापकों का मृदुल और मधुर भाव शिक्षा को जल की यह सजीवता और सरलता प्रदान करता है। स्वतन्त्रता का वातावरण वह मुक्त वायुमंडल है जिसमें बीज से विकसित वृक्ष बढ़ता है। प्रसन्नता और जागृति का प्रकाश वह धूप है जिसमें शिक्षा के पल्लव और पुष्प कान्ति से खिलते हैं। ऐसे ही सजीव वातावरण में सजीव प्रणाली के द्वारा चेतना का बीज विद्या के कल्प-वृक्ष के रूप में फलता फूलता है तथा जीवन के प्रतिक्षण को वसन्त का सुन्दर पर्व बनाता है।

७–शिक्षा के तीन धरातल

जब से शिक्षा के क्षेत्र में कक्षाओं का श्रेणी विधान हुआ है, तब से विद्यार्थियों के अध्ययन और मानसिक कर्म में एक ऐसी संकीर्णता आगयी है जिसके कारण विद्यार्थियों का परिश्रम पूर्णतः सार्थक नहीं हो रहा और शिक्षा का धरातल निरन्तर गिरता जा रहा है। शिक्षा के सम्बन्ध में उसके गिरते हुए धरातल के कारण देश के नेताओं और विचारकों को अनेक चिन्ताएँ हो रही हैं। किन्तु शिक्षा के श्रेणी विधान से उत्पन्न विद्यार्थियों के मानसिक क्षेत्र और उनके मानसिक क्रिया कलाप की इस संकीर्णता की ओर कदाचित् ही किसी का ध्यान गया हो। कम से कम शिक्षा के आधुनिक वातावरण के इस दोष को स्पष्ट रूप से सामने रख कर इसका विवेचन कभी नहीं किया गया है।

शिक्षा की आधुनिक अवस्था के इस संकीर्णतापूर्ण दोष का रूप यह है। आधुनिक विद्यार्थी की शिक्षा वर्ष पर्यन्त एक कक्षा के पाठ्यक्रम के व्यक्तिगत अध्ययन तक ही सीमित रहती है। जिस कक्षा को वह पास करके आता है उससे पिछली कक्षा के विषय और पुस्तकों के बारे में वह कभी सोचता भी नहीं। विषयों का अध्ययन और परीक्षा आज कल कुछ ऐसे भार हो गये हैं कि परीक्षा देकर एक कक्षा से पास होना विद्यार्थियों को ऐसा मालूम होता है जैसे सिर से कोई भूत उतर गया हो। परीक्षा के बाद विद्यार्थियों की मनोदशा रहीम के इस सोरठे की याद दिलाती है—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।

भार के कारण विद्यार्थियों को पिछली कक्षा के विषयों से अरुचि भी हो जाती है। इस अरुचि के कारण पिछले पाठ्यक्रम की उपेक्षा और विस्मृति स्वाभाविक हो जाती है।

शिक्षा की प्रणाली और व्यवस्था कुछ ऐसी है कि विद्यार्थियों का बहुत कुछ ध्यान वर्तमान कक्षा की पढ़ाई में ही रहता है। पिछले वर्षों और पिछली कक्षाओं की पढ़ाई पर विशेष रूप से ध्यान देने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती और न उनके मानसिक क्रिया कलापों की व्यवस्था में पिछली पढ़ाई का कोई प्रसंग अथवा स्थान होता है। वे अधिकतर अपनी

वर्तमान कक्षा के पाठ्यक्रम की तैयारी में ही संलग्न रहते हैं। बहुत से तो पिछली पढ़ाई को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। पिछली कक्षा के विषयों के बारे में वे बहुत कम बता सकते हैं। पिछली कक्षाओं में इन विषयों के अध्ययन से जो मनोविकास प्राप्त हुआ है, केवल उसका लाभ अगली कक्षाओं की पढ़ाई में काम आता है। यह शिक्षा का सामान्य: फल है जो उसके विशेष फल के विलुप्त हो जाने के कारण और भी मन्द हो जाता है।

जिस प्रकार वर्तमान कक्षा की पढ़ाई में संलग्न रहने के कारण पिछली कक्षा की पढ़ाई से विद्यार्थियों का सम्पर्क छूट जाता है उसी प्रकार और उसी कारण से अगली कक्षाओं की पढ़ाई से भी उनका किंचित मात्र भी सम्पर्क नहीं बन पाता। जिस प्रकार पास कर लेने के बाद पिछली कक्षा की पढ़ाई बेकार लगती है, उसी प्रकार अगली कक्षा की पढ़ाई के सम्बन्ध में कोई चर्चा असामयिक और अनावश्यक जान पड़ती है। किसी भी कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी से पिछली कक्षाओं में पढ़े हुए किसी विषय के बारे में कुछ पूछिये तो वह यही उत्तर देगा अजी बहुत दिन हुए, परीक्षा के लिए विषय पढ़ा था, बहुत दिन हो गये अब कुछ याद नहीं है। अध्यापक भी जो विषय पढ़ाते हैं उसके अतिरिक्त अपने पढ़े हुए सारे विषयों को भूल जाते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि दोनों में से कोई भी इस भूल जाने को बुरा नहीं मानते। इसी प्रकार किसी भी कक्षा के विद्यार्थी से पूछिये कि वह आगे चलकर कौनसा विषय लेगा तो अधिकतर विद्यार्थी अपनी भावी शिक्षा के सम्बन्ध में एक उदासीन सा उत्तर देते हैं कि अभी इस कक्षा को तो पास करलें। पास होने के बाद अगली कक्षा और आगे की पढ़ाई के बारे में कुछ सोचेंगे।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि अधिकांश विद्यार्थी अपनी वर्तमान शिक्षा की पढ़ाई में ही संलग्न रहते हैं। उनका सारा ध्यान उसी में रहता है। पिछली पढ़ाई बहुत कुछ भूल जाते हैं और आगे की पढ़ाई के सम्बन्ध में चिन्ता करना वे व्यर्थ सा मानते हैं। इस प्रकार उनकी समस्त शिक्षा वर्तमान में ही सीमित रहती है।

वर्तमान में सीमित रहने के अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा की संकीर्णता का एक रूप और है। वह यह है कि आज के विद्यार्थियों की शिक्षा

प्राय: व्यक्तिगतहै। व्यक्तिगत का अभिप्राय यह है कि विद्यार्थियों का अध्ययन चिन्तन तथा उनके अन्य मानसिक क्रिया कलाप सब अपने में ही सीमित रहते है। आधुनिक शिक्षा स्वाध्याय का गलत रूप है। आज की कक्षाओं में जो अध्यापन होता है वह बहुत कुछ उदासीन और प्राणहीन है। अध्यापक जो कुछ कहता है वह उसका स्वगत भाषण सा प्रतीत होता है। विद्यार्थी उसे उदासीन भाव से सुनते रहते हैं। कुछ अन्यमना भी रहते हैं। कक्षा में अध्यापक और विद्यार्थियों का मानसिक सम्पर्क बहुत कम होता है। कक्षा के बाहर भी विद्यार्थियों और अध्यापकों, विद्यार्थियों और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों और अध्यापकों के मानसिक आदान-प्रदान के अवसर बहुत कम आते हैं। सम्पर्क के जो अवसर आते भी हैं उनमें विचार विनिमय की अपेक्षा इधर-उधर की बातें अधिक होती हैं।

अस्तु आधुनिक शिक्षा कक्षाओं के श्रेणी विधान के कारण प्राय: वर्तमान में ही सीमित है और मानसिक आदान-प्रदान की कमी के कारण बहुत कुछ व्यक्तिगत अध्ययन के रूप में हैं। व्यक्तिगत अध्ययन शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। वह एक साधना है जिस के द्वारा ज्ञान में गम्भीरता आती है। इसीलिये भारतीय परम्परा में स्वाध्याय की महिमा है। इसी प्रकार शिक्षा के वर्तमान पाठ्क्रम का भी महत्व है। उसको ध्यान पूर्वक आत्मसात् किये बिना शिक्षा की समृद्धि और ज्ञान का विकास सम्भव नहीं है। किन्तु महत्वपूर्ण होते हुए भी वर्तमान और व्यक्तिगत अध्ययन की सीमाओं में ही वह पूर्ण और सफल नहीं है। शिक्षा चेतना का विस्तार है। चेतना न वर्तमान में ही सीमित है और न व्यक्तिमता में ही पूर्ण है। वर्तमान में रहते हुए भी उसमें अतीत की समस्त ज्ञान-सम्पत्ति का समाहार है और भविष्य की असीम आकांक्षाओं से वह जागरूक रहती है। इसी प्रकार व्यक्तित्व में केन्द्रित रहते हुए भी उसकी परिधि के विस्तार सामाजिक जीवन के क्षितिजों का स्पर्श करते रहते हैं। इन्हीं विस्तारों में चेतना समृद्धि रहती है। इसीलिये वर्तमान पाठ्यक्रम और व्यक्तिगत अध्ययन में सीमित शिक्षा संकीर्ण तथा दोष पूर्ण है।

सजीव और समृद्ध शिक्षा का वास्तविक रूप ऐसा होना चाहिये जिसमें वह वर्तमान में विकसित होते हुए भी अतीत के उपार्जनों में आरूढ़ रहे। भविष्य की आकांक्षाओं की प्रेरणा का स्पन्दन उसे स्फूर्ति देता रहे

तथा सामाजिक आदान प्रदान में वह सजीव बनी रहने के साथ-साथ निखरती रहे। स्वाध्याय से ज्ञान में गम्भीरता और गरिमा आती है, किन्तु विचार के आदान-प्रदान से तत्व स्पष्ट होते हैं और ज्ञान निखरता है। इसीलिये भारतीय परम्परा में यह प्रसिद्ध था कि 'वादे-वादे जायते तत्वबोधः'। उपनिषदों के शांति पाठ में 'सहवीर्य करवावहै' में भी शिक्षा के इसी रूप का संकेत है जो पारस्परिक आदान प्रदान से ही समृद्ध होता है। यदि हम बालक के ज्ञान-विकास को आरम्भ से ही देखें तो विदित होगा कि सामाजिक आदान प्रदान में ही बालक सब कुछ सीखता है और उसके ज्ञान का विकास होता है।

वर्ष के वर्तमान पाठ्यक्रम और व्यक्तिगत अध्ययन की संकीर्णताओं में सीमित वर्तमान शिक्षा का मूल दोष मानसिक सम्पर्क और विचारों के आदान प्रदान का अभाव ही है। विद्यार्थी अपने घरों में और छात्रावासों में अपने कमरों में अकेले ही पढ़ते हैं। उनके मस्तिष्क अपने अध्ययन कक्षों की भांति ही सीमित, बन्द, उदासीन, शून्य और निर्जीव हैं। उनमें ज्ञान का संचय भले ही हो किन्तु शिक्षा की सजीवता, ज्ञान की प्रेरणा और जागरण की स्फूर्ति नहीं है। यह सब एकान्त और व्यक्तिगत अध्ययन में संभव नहीं हो सकता है। यह जीवन्त शिक्षा के अनेक धरातलों पर सजीव सम्पर्क और उन्मुक्त आदान प्रदान के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। आधुनिक शिक्षा एकही धरातल पर स्थिर जलाशय की भांति निस्पन्द और निर्जीव है। उनमें एक धरातल से दूसरे धरातल की ओर वेग से बढ़ती हुई स्रोतस्विनी की गति और स्फूर्ति नहीं है। वर्तमान और व्यक्तित्व के धरातल पर स्थिर रहने के कारण शिक्षा के सरोवर में मानसिक उलझनों के शैवाल भी बढ़ते हैं, चाहे कहीं-कहीं उसमें आलोक के कमल भी खिल उठते हों। ज्ञान के स्रोत का विस्तार और उनकी निर्मलता प्रगति और प्रवाह के द्वारा ही संभव हो सकती है।

वस्तुतः शिक्षा के तीन धरातल हैं। वर्तमान पाठ्यक्रम और व्यक्तिगत अध्ययन उसका केवल एक धरातल है। उसका दूसरा धरातल अतीत में पढ़ा हुआ पिछला पाठ्यक्रम है और तीसरा धरातल भविष्य का पाठ्यक्रम है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि विद्यार्थी को अपना पिछला पाठ्यक्रम भी दुहराते रहना चाहिये और आगे के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये। यह तीनों धरातलों को मिलाने की

निर्जीव और अस्वाभाविक योजना है। इसकी सामाजिक योजना प्राचीन शिक्षा प्रणाली में प्रचलित थी और वही तीनों धरातलों का एक स्वाभाविक समन्वय स्थापित करके शिक्षा के प्रवाह को सजीव और प्रगतिशील बनाती थी। सामाजिक आदान प्रदान ही शिक्षा का प्राण स्पन्दन है। उसी में वह जीवित रहती है।

प्राचीन संस्कृति शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी स्वाध्याय के साथ-साथ आपस में मिल कर भी पढ़ते थे। यह वर्तमान पाठ्यक्रम के धरातल पर सामाजिक भूमिका के शिक्षा का विस्तार था। इसके ज्ञान विशद और गंभीर होता था। इसके साथ-साथ अपने से कम वय और छोटे विद्यार्थियों को पढ़ाने और उनके साथ मानसिक आदान प्रदान में बड़े विद्यर्थियों का पिछला पाठ्यक्रम अधिक स्पष्ट होकर उनके वर्तमान अध्ययन का दृढ़ आधार बनता था। पिछले पाठ्यक्रम के याद रहने की अपेक्षा उस धरातल के स्पष्ट और उज्ज्वल होने का महत्व अधिक था। जिस प्रकार प्राचीन विद्यार्थी छोटों की शिक्षा में सहायता देते थे उसी प्रकार अपने से बड़ों के पाठ्यक्रम में भी रुचि रखते थे। उनसे सहायता लेने के अतिरिक्त उनके उच्चतर के शास्त्र और ज्ञान से भविष्य के लिए उत्साह और प्रेरणा ग्रहण करते थे। इस प्रकार शिक्षा के तीनों धरातलों का एक समन्वय रहता था तथा शिक्षा की प्रवाहमयी धारा एक सजीव स्फूर्ति के साथ ऊर्ध्वमुखी गति से ज्ञान के शिखर की ओर बढ़ती थी।

प्राचीन शिक्षा का यह सजीव सामाजिक रूप शिक्षा का सनातन सत्य है और आज भी अनुकरणीय है। विद्यार्थियों को ही चाहिये कि वे अपने वर्तमान पाठ्यक्रम और अपने व्यक्तिगत अध्ययन में ही शिक्षा को पूर्ण न माने। वे अपने से छोटों की शिक्षा में सहायता और सहयोग देकर अपने ज्ञान के आधारों को स्पष्ट और दृढ़ बनाये तथा अपने से ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ बात-चीत, विचार विनमय, आदान प्रदान वाद विवेचन आदि के द्वारा ज्ञान के विकास के लिये आलोक और नयी प्रेरणायें प्राप्त करें। इन तीनों धरातलों पर स्वाभाविक और समन्वित रूप में सम्पन्न होने पर ही शिक्षा ज्ञान की सजीव और फलवती साधना बन सकती है। शिक्षा के अतिरिक्त व्यक्तित्व के सांस्कृतिक और सामाजिक विकास में भी इससे स्वस्थ दिशायें और सबल प्रेरणायें मिल सकती हैं।

८—संजीवनी शिक्षा

शिक्षा न जीवन का साधन है और न जीवन की तैयारी है। वह जीवन का साक्षात् स्वरूप है। शिक्षा ही जीवन है अथवा यों कहिए कि मनुष्य का सारा जीवन शिक्षा ही है। जन्म से लेकर आदमी का बालक पच्चीस वर्ष तक सीखता रहता है। यह सीखना ही उसका विकास है, जो एक दृष्टि से यौवन में पूर्ण हो जाता है। किन्तु पूर्ण होकर भी यह विकास समाप्त नहीं होता। ज्ञान, कला और संस्कृति के क्षेत्र में मनुष्य का विकास वृद्धावस्था तक होता रहता है।

अतः सारा जीवन शिक्षा ही है, शिक्षा की साधना ही जीवन का स्वरूप, धर्म और फल है। जीवन का साधन अथवा जीवन की तैयारी होने पर शिक्षा जीवन से अलग हो जाती है। शिक्षा जीवन के निकट ही नहीं, साक्षात् जीवन ही है। अतः शिक्षा की प्रणाली और योजना जीवन के अनुरूप होनी चाहिए। जीवन की परिस्थितियों, प्रेरणाओं और सम्भावनाओं के साथ शिक्षा का समवाय होना चाहिए। शिक्षा के बाद यह समवाय कठिन और कृत्रिम हो जाता है।

विद्यालयों के नाम पर जो शिक्षा के कारखाने या जेलखाने खुले हैं उनमें आदमी नहीं, मशीनें और कैदी बनते हैं। मशीनें जिनमें जान नहीं होती यद्यपि वे आँखें मीच कर कुछ काम करने के योग्य अवश्य होती हैं। कैद जो बन्धन में रहने के कारण हुक्म से काम करना जानते हैं लेकिन स्वतन्त्रतापूर्वक अपना काम करने की भावना उनमें पैदा नहीं होती। स्वतन्त्रता के आत्म गौरव को वे बिलकुल नहीं जानते। इसलिए वे समाज में बन्धन और शासन की परम्परा तथा शृंखला का निर्माण करते हैं। ये बन्धन की परम्पराएँ परिवार, समाज और सरकार सब में फैली हुई हैं।

शिक्षा के ये कारखाने और जेलखाने जीवन से अलग और दूर हैं। बाहर से देखने से ये कुछ मील दूर जान पड़ते हैं, लेकिन भीतर से देखने

पर ये जीवन से हजारों मील दूर हैं। जिन परिस्थितियों में यह शिक्षा होती है वे परिस्थितियाँ कृत्रिम और अलग हैं। इसीलिए विद्यार्थियों और अध्यापकों का सामाजिक और वास्तविक जीवन से सम्पर्क छूटता जा रहा है। उनके प्रेरणा और प्रसन्नता के स्रोत सूख रहे हैं। अत: दोनों जीवन से असन्तुष्ट हैं।

इन विद्यालयों की शिक्षा केवल पढ़ाई लिखाई ही है, मानों इसके अलावा दुनियां और कुछ नहीं है। शिक्षा के बारे में इस कहावत को चरितार्थ करते हैं

हमें दुनिया से क्या मतलब
मदरसा है वतन अपना।
किताबों के हैं कीड़े हम
सफ़े होंगे कफन अपना।।

पढ़ने लिखने के अलावा और बहुत कम बातों से इनका सम्बन्ध रहता है। पढ़ने लिखने के नाम पर माँ-बाप विद्यार्थियों को घर के काम धन्धों से और जिन्दगी की जिम्मेदारियों से यथासम्भव दूर रखते हैं। जो विद्यार्थी घर से बाहर रहकर पढ़ते हैं उनका तो सारा काम पढ़ना ही है पढ़ने के अलावा घर या समाज की और बातों से उनका सरोकार बहुत कम रहता है।

बाहरी और भीतरी दोनों दृष्टियों से जो शिक्षा जीवन से अलग होती है वह जीवन की अच्छी तैयारी भी नहीं बन सकती। पढ़ाई के सभी विषय जीवन से ही सम्बन्ध रखते हैं, अत: जीवन से अलग हो कर उनकी पढ़ाई भी अच्छी नहीं हो सकती। यही कारण है कि कृषि और वाणिज्य के विद्यार्थी कृषि और वाणिज्य नहीं कर पाते, वे इन विषयों के अध्यापक बनना ही अधिक पसन्द करते हैं। इन विषयों की शिक्षा खेती और व्यापार के सजीव सम्पर्क में होनी चाहिए। कुछ विशेष शिक्षकों के लिए कुछ काल के लिए साधारण जीवन से अलग विशेष विद्यालयों में रहना आवश्यक हो, यह दूसरी बात है। किन्तु साधारण शिक्षा के लिए विद्यार्थियों के और विशेषत: बालकों के लिए जीवन की परिस्थितियों से अलग करना गलत है। उनकी शिक्षा जीवन से अभिन्न होती है।

जीवन के अभिन्न शिक्षा जीवन के अनुरूप और जीवन की परिस्थितियों में ही होगी। जीवन का अर्थ केवल प्राणों की प्राकृतिक सत्ता नहीं है वरन् आत्मा की सांस्कृतिक सम्पन्नता है। सत्ता और प्रकृति के धर्म अकेले में ही सम्भव हैं। किन्तु आत्मा की संस्कृति सम्पन्नता मनुष्यों के आत्मीय सम्बन्धों में ही हो सकती है, इसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। विज्ञान और व्यापार के प्रभाव से यह कम होता जा रहा है, और मनुष्य अकेला रह कर उदासीन बना रहा है। जीवन की आत्मिक समृद्धि और प्रसन्नता कम हो रही है। उद्योग और नागरिक सभ्यता का निर्वैयक्तिक रूप केन्द्रीकरण के साथ मिल कर जीवन को उदासीन और शून्य बना रहा है। समूहों की भीड़ में आज का मानव असहाय और अकेला होकर खो गया है। सभ्यता के केन्द्रों में वह ऐसे ही जीवन बिता रहा है मानों वह किसी अपरिचित लोक में आ गया हो, जहां उसका अपना और कोई नहीं है।

शिक्षा का प्रचलित रूप सभ्य जीवन की इन्हीं परिस्थितियों से उत्पन्न है और इन्हीं परिस्थितियों का पोषण कर रहा है। अतः यह शिक्षा सभ्यता की उक्त विडम्बनाओं से हमारे समाज का उद्धार नहीं कर सकती है। इस शिक्षा में समाज की आत्मा का स्पर्श नही है। शिक्षा का यह वृक्ष सूखे हुए ठूठ के समान है जिसकी जड़े सूख गई हैं और वे समाज की भूमि से रसों का पोषण प्राप्त नहीं करतीं। इसीलिए शिक्षा का यह वृक्ष फल फूल नहीं रहा है। समाज और संस्कृति के लिए वही शिक्षा कल्याणकारी हो सकती है जो जीवी शक्ति से परिपूर्ण हो, वृक्ष के समान जिसकी जड़ें भूमि में गहरी और दूर तक फैली हुई हों। इन जड़ों के तन्तुसूत्रों से ही जीवन का रस ग्रहण कर शिक्षा का वृक्ष पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

वर्तमान शिक्षा में रस के पोषक सूत्र विशीर्ण हो गए हैं उनमें केवल एक निर्जीव सा सूत्र बाकी रह गया है। यह सूत्र छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में भी कोई प्राण नहीं है। यह एक निर्जीव सूत्र है, जिसके द्वारा कठपुतली के नृत्य की भांति यान्त्रिक ढंग से शिक्षा का नाटक चल रहा है। अध्यापक इसका सूत्रधार है और छात्र इसकी कठपुतली है। कठपुतलियों की भांति ही निर्जीव और

उदासीन भाव से वे शिक्षा का अभिनय करते हैं। इस शिक्षा को नाटक कहा जा सकता है, किन्तु यह जीवन नहीं है क्योंकि इसमें जीवन की शक्ति, स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं है।

इस शिक्षा की निर्जीवता और निष्फलता का कारण यही है कि इसके मूल में वृक्ष के मूल की भाँति फैले हुए और गहरे सजीवन सूत्र नहीं है। इसका एक मात्र और निर्जीव सूत्र छात्र तथा अध्यापक का सम्बन्ध है और किसी का इस शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सरकार अध्यापकों को वेतन देती है। माँ-बाप बच्चों की फीस देते हैं। उनके खाने पहनने में खर्च करते हैं। इससे अधिक बच्चों के प्रति उनका कर्त्तव्य भी नहीं है। हो भी तो उन्हें अपने धन्धों से अवकाश नहीं है। वे बच्चों की ओर कब देखें। आदमियों का समय दफ्तर और बाजार में तथा नौकरी और रोजगार में बीतता है। औरतें दिन भर चक्की चूल्हे में लगी रहती हैं। उनका बाकी समय बातों में बीतता है। किसे अवकाश है जो बच्चों की ओर देखें और जरूरत भी नहीं है। बच्चों की शिक्षा अध्यापकों का काम है। इसी का उन्हें वेतन मिलता है। वे जानें और उनका काम जाने। माता-पिता को अथवा और किसी को इससे क्या सरोकार है।

अधिक से अधिक माता-पिता छात्रों का परीक्षाफल देख लेते हैं। पास फेल होने का कुछ हर्ष शोक मना लेते हैं, छात्र और अध्यापकों की कुछ आलोचना कर लेते हैं। होली दिवाली की तरह परीक्षा का पर्व ही एक ऐसा समय है जबकि माता-पिता अपने-अपने बच्चों की पढ़ाई का कुछ ध्यान कर लेते हैं। यह भी सब लोग अपने ही बच्चों के बारे में करते हैं। दूसरों के बच्चों से किसी का कोई सरोकार नहीं है। दूसरों के बच्चों से हमें क्या मतलब है। उनके बनने बिगड़ने से हमारी क्या हानि लाभ है। उनके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है। उनके पालन और उनकी शिक्षा का उत्तरदायित्व उनके ही माता-पिता का है। इसी प्रकार हमारे बच्चों का उत्तरदायित्व केवल हमारा है।

एक निर्जीव सूत्र पर जीवन का वृक्ष कैसे खड़ा हो सकता और फल फूल सकता है। थोड़े और छोटे सूत्रों पर छोटे और मौसमी पौधे ही खड़े हो सकते हैं। वे थोड़े ही दिन जीते और फलते हैं। यदि

हमें सभ्यता के उपवन में फल-फूलों के बड़े वृक्ष लगाने हैं तो हमें यह समझना होगा कि फल-फूलों के बड़े वृक्ष गहरे और असंख्य तन्तुमूलों पर ही खड़े हो सकते हैं, तथा जीवन की गहराइयों में से रस ग्रहण करके युगों तक फलते-फूलते हैं। यह समझना कठिन है कि दूसरों के बच्चों की शिक्षा से हमारा क्या सरोकार है। किन्तु यह बहुत सही और सीधी सी बात है कि किसी भी बच्चे की शिक्षा केवल अध्यापकों के पढ़ाने से पूरी नहीं हो सकती है। केवल अपने माता-पिता की सामयिक रुचि भी उसे पूरा नहीं कर सकती है। शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ना नहीं है, वह जीवन का सर्वांगीण विकास है। इसमें स्वास्थ्य, ज्ञान, स्वभाव, चरित्र सभ्यता आदि सभी का निर्माण सम्मिलित है। यह जीवन का निर्माण है जो जीवन के व्यापक सूत्रों के द्वारा ही हो सकता है। एक दो गिने हुए सूत्रों के द्वारा ही यह सम्भव नही है।

सन्तानों में अपने मन का सीमित भाव प्राकृतिक सम्बन्ध की सीमा के कारण होता है। किन्तु प्राकृतिक सीमा संस्कृति की सीमा नहीं है। वस्तुतः प्राकृतिक सीमाओं के ऊपर ही संस्कृति के क्षितिज उदित होते हैं। भारतीय शिष्टाचार में प्रत्येक सभ्य मनुष्य अपनी संतान को दूसरों की संतान बताता था। अपने बच्चों के लिये 'ये आपके ही बच्चे हैं' कहना सामाजिक व्यवहार का एक साधारण रूप था। परिवार और कुटुम्ब में भी एक की सन्तान को दूसरे अपनी सन्तान मानने में गर्व करते थे। रघुकुल की परम्परा में इसका उदाहरण मिलता है। रामचरित मानस और साकेत दोनों में इसके संकेत मिलते हैं। महाभारत में इस सम्बन्ध के विपरीत होने के कारण फल भी रामचरित मानस के विपरीत हुआ। हमारा यह सामाजिक शिष्टाचार केवल उपचार नहीं है। दूसरों के बालकों के प्रति वात्सल्य के भाव का विस्तार ही शिक्षा और सभ्यता का मार्ग है। यह कोई असम्भव आदर्शवाद नहीं है, वरन् जीवन का सम्भव और आवश्यक तत्व है। अपने बच्चों की शिक्षा और उनके जीवन का विकास दूसरों के सहयोग के बिना पूरा नहीं हो सकता। दूसरों के बच्चों को आपके स्नेह और सहयोग की आवश्यकता है। इस व्यापक सहयोग के द्वारा ही बच्चों के जीवन को वे गहरे और असंख्य सूत्र मिल सकते हैं, जिनके सहारे उनका विकास सदा फल-फूल सके।

संजीवनी शिक्षा का पहला तत्व जीवन के ये ही गहरे और असंख्य सूत्र हैं। ये सूत्र बच्चों को इस प्रचलित शिक्षा योजना में नहीं मिल सकते, जिसमें उनकी शिक्षा केवल अध्यापक का उत्तरदायित्व है, तथा अन्य किसी का उस शिक्षा से कोई सरोकार नहीं है। शिक्षा की व्यवस्था में अर्थात् उसका प्रबन्ध करने में तो सरकार और माता-पिता का बहुत कुछ कर्त्तव्य है। किन्तु बच्चों के जीवन विकास में उनका अधिक योग अपेक्षित नहीं है। नवयुवकों और ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में यह किसी सीमा तक ठीक भी हो सकता है। यद्यपि यह बिल्कुल ठीक नहीं है। उनका विकास बहुत कुछ पूर्ण हो जाता है, चरित्र बहुत कुछ बन जाता है और व्यक्तित्व भी बहुत कुछ गठित हो जाता है। इनकी शिक्षा में बुद्धि और ज्ञान की प्रमुखता रहती है। इसे हम पढ़ाई कह सकते हैं।

बच्चों की शिक्षा केवल पढ़ाई नहीं है। इसमें पढ़ाई की अपेक्षा चरित्र के विकास, व्यक्तित्व के गठन और जीवन के निर्माण का अधिक महत्व है। पढ़ाई लिखाई बच्चों की शिक्षा का एक बहुत छोटा सा अंग है। बच्चों की बुद्धि और उनके ज्ञान का विकास भी केवल पढ़ाई से अधिक अच्छा नहीं होता। जीवन के व्यवहार और सम्बन्धों की सजीव प्रेरणा से उसका बौद्धिक विकास अधिक अच्छा होता है। बालकों और नवयुवकों की शिक्षा एक ही विधि और योजजा के अनुसार नहीं हो सकती। हमारी शिक्षा योजना के विधायकों के लिए यह एक ध्यान देने योग्य बात है। बच्चों के वय और विकास के धरातलों के अनुसार प्रत्येक धरातल के लिए कुछ भिन्न शिक्षा योजना की आवश्यकता है सबके लिये समान शिक्षा प्रणाली हमारी शिक्षा योजना की एक प्रमुख भूल है।

शिक्षा जीवन का विकास है। एक सीढ़ी की उपमा के द्वारा हम उसके अपेक्षित रूप को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। सीढ़ी की बनावट देखें तो बाहर से देखने में सभी सीढ़ियों का आकार समान लगता है। हमारी शिक्षा योजना की सीढ़ियों में कुछ ऐसी ही बाहरी समानता है। पत्थर की सीढ़ियों के समान जीवन की दीवारों में शिलायें ठोक कर, खोखली सीढ़ियों के समान यह शिक्षा योजना बनी है। जीवन की दीवार में बलपूर्वक ठोकी हुई शिलाओं के सहारे ये खोखली सीढ़ियाँ अधर लटकी हुई हैं जीवन की भूमि से इनका स्पर्श नहीं है। जितनी नीचे की सीढ़ी

है, उसका उतना ही भाग अधिक खोखला है। सोपान क्रम के इस खोखले को आप भूसा भरने के काम में ले सकते हैं, यह दूसरी बात है। किन्तु इन सीढ़ियों का आधार जीवन की दृढ़ भूमि पर नहीं है। ये खोखली और अधर में लटकी हुयी हैं। इनके अन्तराल शून्य हैं। दृढ़ता और सौष्ठव ये ठोस सीढ़ियों की तुलना नहीं कर सकती।

ठोस सीढ़ियों को बनते हुए देखिये तो आपको ज्ञात होगा कि सबसे नीचे की सीढ़ी का विस्तार सबसे अधिक होता है। उसके बाद प्रत्येक धरातल पर यह विस्तार कम होता जाता है। यद्यपि यह क्रमशः और बहुत थोड़ा-थोड़ा होता है। सबसे नीचे की सीढ़ी भूमि का साक्षात् और व्यापक स्पर्श करती है। ऊपर की सीढ़ियाँ नीचे की सीढ़ियों के ठोस आधार पर आश्रित रहती हैं। सजीव शिक्षा योजना इन ठोस सीढ़ियों के समान ही होनी चाहिये। सबसे नीचे की सीढ़ी को जीवन की भूमि का साक्षात् स्पर्श और उस भूमि पर सब से अधिक विस्तार मिलना चाहिये। इस पहली सीढ़ी के ठोस आधार पर ही ऊपर की सीढ़ियों को दृढ़ आधार मिल सकता है। धीरे-धीरे इस आधार का विस्तार कम हो सकता है। किन्तु यह बहुत धीरे-धीरे कम होना चाहिये। ऊपर की सीढ़ियों की भांति ऊँची कक्षाओं में अध्यापकों और विद्यार्थियों के परस्पर सहयोग से भी ज्ञान प्रधान शिक्षा हो सकती है। ऊँची शिक्षा ज्ञान और बुद्धि का उत्कर्ष हैं। उसे शिक्षा की अपेक्षा साधना कहना अधिक उचित है। साधना के समान ही यह अधिक व्यक्तिगत भी होती है।

किन्तु बच्चों की शिक्षा साधना नहीं जीवन है। वह केवल बुद्धि और ज्ञान के उत्कर्ष का साधन नहीं है, वरन् उससे भी बढ़कर वह चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का गठन और जीवन का विकास है। अतः बच्चों की शिक्षा प्रणाली नवयुवकों से भिन्न होनी चाहिए। नीचे की सीढ़ियों की भांति नीचे की कक्षाओं में जीवन के आधारों का विस्तार अधिक होना चाहिये। सबसे नीचे की पहली सीढ़ी तो जीवन की भूमि पर ही होनी चाहिये। जीवन की भूमि में साक्षात् स्पर्श और आधार के विस्तार का अभिप्राय यह है कि बच्चों की शिक्षा ऊपर की सीढ़ियों अथवा ऊँची कक्षाओं की भांति केवल अध्यापकों और विद्यार्थियों के सम्बन्ध में सीमित

नहीं हो सकती। सामान्य और सूक्ष्म विचारों की बौद्धिक ऊँचाइयां भी उसके अनुकूल नहीं है। शिक्षा की आरम्भिक सीढ़ी को व्यापक सामाजिक जीवन का साक्षात् स्पर्श और विस्तृत आधार होना चाहिये। छोटे बालकों की शिक्षा जीवन के इतनी निकट होनी चाहिये, जितनी कि पहली सीढ़ी भूमि के निकट होती है। पढ़ाई-लिखाई और कुछ शिक्षण की विशेषता के कारण इस पहली सीढ़ी में भी कुछ ऊँचाई होती है। किन्तु यह ऊँचाई इतनी कम होती है, कि बच्चे बड़ी सुविधा से घर के आंगन से सीढ़ी पर चढ़कर और उससे उतर कर प्रसन्नतापूर्वक खेलते-कूदते रहते हैं। छोटे बच्चों के लिए विद्यालय सामाजिक जीवन के वातारण में ऐसे ही घुले-मिले रहने चाहिये, जैसे घर के आगन में पहली सीढ़ी होती है। शिक्षा के आधुनिक कारखाने और जेलखाने कृत्रिम और सीमित होने के कारण जीवन से अलग हैं। उसमें बच्चों के जीवन का विकास उसी तरह ठीक नहीं हो सकता, जिस तरह कि एक बन्द कमरे में पौधों का विकास ठीक नहीं हो सकता।

पौधों के समान ही बच्चों के जीवन को भी भली भांति विकसित होने और फलने फूलने के लिये जीवन का खुला वातावरण, प्रसन्नता की खुली धूप और रस का प्रचुर अभिषेक अपेक्षित है। जीवन की भूमि और समाज के अर्घ्य दोनों से रस का ग्रहण करके बच्चों का जीवन पादपपूर्ण विकसित हो सकता है। रस का पोषण पौधे पत्तों से नहीं मूलों से ग्रहण करते हैं। उनके ये मूल जीवन की भूमि में गहरे फैले रहते हैं। जितने विशाल और विस्तृत ये मूल होते हैं, उतना ही वृक्ष का आधार दृढ़ होता है। बच्चों के जीवन के मूल सामाजिक स्नेह सम्बन्धों के सूत्र हैं। वृक्ष के मूलों की भांति ही ये जितने अधिक और गहरे हों, उतना ही अच्छा है। वट और आम्र के जैसे सघन और सफल जीवन वृक्षों के लिए बहुत गहरे विस्तृत और बहुसंख्यक मूलों का आधार अपेक्षित है।

छोटे बच्चों की शिक्षा केवल पढ़ाई लिखाई नहीं है। वह जीवन का विकास है। अतः वह केवल अध्यापक के शिक्षण द्वारा पूरी नहीं हो सकती। ठीक उसी तरह जिस तरह यज्ञ के जड़यूप की भांति कोई वृक्ष एक मूल के आधार पर खड़ा नहीं रह सकता। जिस प्रकार वृक्ष के पोषण और आधार के लिए अनेक मूलों का जटिल विस्तार अपेक्षित है, उसी

प्रकार बच्चों की शिक्षा के सूत्र भी अनेक होने चाहिये। केवल अध्यापक का शिक्षण बच्चे के विकास के लिये पर्याप्त नहीं है। केवल अपने माता-पिता का सहयोग भी उस विकास को पूर्ण नहीं बना सकता। प्रत्येक बच्चे के उचित विकास के लिए समाज के और अधिक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता है। आत्मिक के अतिरिक्त अन्य लोगों के स्नेहपूर्ण सहयोग के द्वारा बालक का विकास ही अच्छा नहीं होगा, उसके व्यक्तित्व में एक विशाल और उदार मानवीय भावना भी उत्पन्न होगी, जो सभ्यता और संस्कृति की सर्वोत्तम विभूति है।

यह स्पष्ट है कि इनके दूर के और दूसरे लोगों को आनात्मीय बालकों के साथ आत्मीय भाव रखना होगा। आत्मीय भाव के द्वारा ही उनमें स्नेह और सम्पर्क का प्रभाव बालक के जीवन-निर्माण की प्रेरणा बनेगा। बाह्य उपचार और मौखिक शिष्टाचार में सच्ची विधायक शक्ति नहीं होती। आत्मीय भाव और उपचार का अन्तर अबोध बालक भी समझता है। दूसरे बच्चों के प्रति जब हम आत्मीय भाव, आन्तरिक स्नेह और सक्रिय सहयोग का दृष्टिकोण अपनायेंगे, तो वेदान्त का अध्यात्म समाज के जीवन में चरितार्थ हो सकेगा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा भी इसी दृष्टिकोण से समाज में साकार होगी। बच्चों की शिक्षा का यह व्यापक रूप उनके विकास का ही श्रेष्ठ मार्ग नहीं है, बड़ों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की सफलता भी इसमें समन्वित है। वस्तुतः यह दृष्टि-कोण केवल शिक्षा की योजना नहीं है। यह समाज की एक ऐसी कल्पना है, जिसमें बच्चों का विकास और बड़ों के जीवन की सफलता तथा उसका आनन्द सब एक ही सूत्र में गुम्फित हैं।

समाज की इस कल्पना में बच्चों के विद्यालय पढ़ाई के कारखाने अथवा शासन के जेल खाने न होंगे। वे जीवन के वातावरण से दूर अपनी कृत्रिम दीवारों में बालकों के जीवन की हत्या नहीं करेंगे। सच्ची शिक्षा के विद्यालय जीवन के उन्मुक्त वातावरण के घर-घर के बीच में फलते फूलते उद्यानों की भांति होंगे। गली-गली में वृन्दावन के समान बिखरे हुऐ इन उद्यानों की खुली हवा और धूप में बच्चों के जीवन वृक्ष वृक्ष सहज भाव से फलें फूलेंगे। फलने फूलने के लिए इन्हें अध्यापकों के मालियों का अभिसिंचन ही नहीं समाज के गुरुजनों का स्नेह पूर्ण सम्पर्क

भी चाहिये। इस अर्घ्य में ही गुरुजन भी अपने धर्म का पालन करके जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। केवल अध्यापक ही बालकों का गुरु नहीं है। गुरु का अभिप्राय सभी बड़े लोगों से है। संस्कृत भाषा के इस गौरव-पूर्ण पद के व्यापक अर्थ में संजीवनी शिक्षा का मूल सूत्र निहित है। वृक्ष के कुछ प्रमुख मूलों के समान अध्यापक और माता-पिता बालक के विकास में मुख्याधार हैं। किन्तु अन्य गुरुजनों के स्नेह सम्बन्ध के सूत्र बच्चे के जीवन वृक्ष के आधार को अधिक सम्पन्न तथा उसके विकास को अधिक पूर्ण और सफल बनाते हैं।

९–शिक्षा में बुद्धि और ज्ञान का स्थान

शिक्षा जीवन का एक व्यापक संस्कार है। वह बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान के सम्पादन में ही ही पूर्ण नहीं होता। बुद्धि और ज्ञान के अतिरिक्त जावन के अन्य पक्षों का विकास भी शिक्षा को सम्पन्न बनाने के लिए आवश्यक है। इस दृष्टि से शिक्षा जीवन की प्राकृतिक और सांस्कृतिक सम्भावनाओं का सर्वांगीण विकास है। इस विकास में सांस्कृतिक मर्यादाओं में प्रकृति के शक्ति-स्रोतों का समन्वय शिक्षा को एक संतुलित रूप देता है। शिक्षा में प्रकृति का समन्वय आवश्यक होने के साथ-साथ स्वाभाविक भी है। मनुष्य के द्वारा ज्ञान का सम्पादन प्राकृतिक मार्गों से ही होता है। हम इन्द्रियों के द्वारा ही वाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतः इन्द्रियों के माध्यम से ही सजीव ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली वच्चों की शिक्षा का सहज और स्वाभाविक मार्ग है। आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान वाल-शिक्षा के ऐन्द्रिक आधार को वहुत महत्व देते हैं।

अतः वालकों की आरम्भिक शिक्षा का सवसे उत्तम रूप इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य स्थूल पदार्थों के द्वारा माना जाता है। इन स्थूल पदार्थों के के स्थान पर पुस्तकों को रखना शिक्षा को निर्जीव वनाना है। छोटे वच्चों की शिक्षा में यदि पुस्तकों का उपयोग हो तो चित्रों की वहुलता के द्वारा उन्हें सजीव वनाना चाहिए। चित्र भी ऐन्द्रिक विषय है, और वस्तुओं की प्रतिकृति होते हैं। इसीलिए वच्चों की रुचि चित्रों में होती है। सचित्र पुस्तकें मनोरंजन के साथ-साथ वच्चों को सजीव ज्ञान भी देती हैं। अतः पुस्तकें वच्चों के लिए पाठ्य के रूप में नहीं वरन् ज्ञान के अवलम्वन के रूप में होनी चाहिए। पुस्तकों की अपेक्षा साक्षात पदार्थों से प्राप्त होने वाला ज्ञान अधिक सजीव और सुग्राह्य होता है। नए चीन में वालकों की शिक्षा स्कूलों की अपेक्षा वाहर अधिक होती है। भूगोल, विज्ञान आदि की जो वातें पुस्तकों के द्वारा वताई जाती हैं उन्हें वच्चे साक्षात और सजीव रुचि में प्राप्त करते हैं। स्वस्थ होने के साथ-साथ यह शिक्षा मनोरंजक भी होती है।

इन्द्रियों के द्वारा संसार के पदार्थों के सजीव और साक्षात् ज्ञान के आधार पर बच्चों की बुद्धि और ज्ञान का विकास होता है। बुद्धि ज्ञान की शक्ति है। ज्ञान उस शक्ति से सम्पादित होने वाली सम्पत्ति है। बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान का विकास होता है। आरम्भ में बच्चे ऐन्द्रिक सम्वेदना के द्वारा पदार्थों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु शीघ्र ही उनका ज्ञान तार्किक रूप लेने लगता है। अलग-अलग पदार्थ सामान्य प्रत्यय बनने लगते हैं। आम, अमरुद, केले आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान 'फल' के सामान्य प्रत्यय में विकसित होता है। इन प्रत्ययों के अनेक-विध सम्बन्धों के द्वारा ज्ञान के सूक्ष्म रूप का विकास होता है। इन सम्बन्धों के आधार पर बच्चे तर्क-संगत निर्णय निकालते हैं। इस प्रकार उनकी बुद्धि पैनी होती है, तथा वे वैज्ञानिक और दार्शनिक दिशाओं में अपने कोमल चरण बढ़ाते हैं। विज्ञान और दर्शनों में ज्ञान का जो विकसित रूप होता है उसका वीज वालकों की प्रत्यय-विधायनी और निर्णय-कारिणी सूक्ष्म बुद्धि में ही होता है। अतः शिक्षा और ज्ञान की दिशा में बच्चों की अच्छी प्रगति के लिए बुद्धि की शक्ति का उत्कर्ष आवश्यक है।

बुद्धि ज्ञान की शक्ति है, और ज्ञान उस शक्ति के द्वारा सम्पादित होने वाली सम्पत्ति है। सम्पत्ति की अपेक्षा शक्ति का महत्व अधिक है, क्योंकि शक्ति के द्वारा सम्पत्ति अर्जित की जाती है। मानसिक सम्पत्ति आर्थिक सम्पत्ति से भिन्न है। हम बिना अर्जित की हुई आर्थिक सम्पत्ति से भी धनी बन सकते हैं, और उसका उपभोग कर सकते हैं। आर्थिक सम्पत्ति एक बाह्य सम्पत्ति है। धनी के साथ उसका बाह्य सम्बन्ध है। अतः अनर्जित सम्पत्ति को प्राप्त करके भी कोई धनी बन सकता है। किन्तु ज्ञान एक आन्तरिक सम्पत्ति है। धनी के साथ उसका आन्तरिक और अभिन्न सम्बन्ध है। अतः अपने अर्जित ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार से भी कोई ज्ञान का धनी नहीं बन सकता। जिस शक्ति के द्वारा ज्ञान अर्जित किया जाता है उसे हम बुद्धि कह सकते हैं। ज्ञान की आरम्भिक शक्ति सम्वेदना है। बुद्धि का आधार बन कर वह बुद्धि में अन्तर्भूत हो जाती है। सम्वेदना और बुद्धि की शक्ति के द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर ज्ञान का सम्पादन करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य के मानसिक विकास में शक्ति का अधिक महत्व है। शक्ति के द्वारा ही ज्ञान की सम्पत्ति प्राप्त होती है। बाल अवस्था को छोड़ कर आगे चल कर बुद्धि ही इस शक्ति का मुख्य रूप है। विज्ञानों और शास्त्रों का अध्ययन तथा विकास बुद्धि के द्वारा ही होता है। ज्ञान उस बुद्धि का फल है। किन्तु बुद्धि ज्ञान के वृक्ष का मूल है। मूल की शक्ति से ही ज्ञान का वृक्ष विकसित और फलित होता है। मूल के दुर्बल होने पर वृक्ष और फल दोनों विशीर्ण हो जाते हैं। मूल के सशक्त रहने पर ज्ञान के वृक्ष पर ऋतु-ऋतु में नए-नए फल फलते रह सकते हैं। अतः शिक्षा प्रणाली में मूल के अभिसिंचन अर्थात् बुद्धि के विकास को ही अधिक महत्व देना चाहिए।

किन्तु इसके विपरीत शिक्षा प्रणाली में सर्वत्र मूल को छोड़ कर पत्तों और फलों को ही अधिक सींचा जा सकता है। शक्ति की अपेक्षा सम्पत्ति को और बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व दिया जाता है। विद्यार्थी का अध्यापन भी इसी दृष्टि से होता है। इनकी पढ़ाई को ज्ञान की दृष्टि से देखा जा सकता है। उनकी परीक्षा भी ज्ञान की दृष्टि से ही होती है। उन्हें क्या और कितना आता है, इसकी जाँच परीक्षा में की जाती है। उनसे अधिक से अधिक प्रश्न करने की आशा की जाती है। यद्यपि ज्ञान केवल परिमाण नहीं है, फिर भी ज्ञान को परिमाण की दृष्टि से देखा जाता है और इसी की नाप-तोल परीक्षा में होती है। इस परिमाण-मूलक दृष्टिकोण का फल यह है कि शिक्षा में विषयों, पुस्तकों और पाठों की भरमार है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि आरम्भिक शिक्षा में विषयों की संख्या अधिक रहती है और आगे चल कर विषय कम होते जाते हैं। शिक्षा का यह क्रम प्रकृति के विपरीत है। यह शाखाओं को तने से पहले और तने को शाखाओं के ऊपर रखना चाहता है। इस विपर्यय का परिणाम स्पष्ट है। शाखायें तने को धारण नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार आरम्भ के अनेक विषय अन्त के एक विषय को सजीव सहयोग नहीं दे सकते। उनका सजीव सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए तने में फल फूल नहीं लगते। शाखायें जीर्ण होकर गिर जाती हैं और तना स्थाणु की भाँति रह जाता है जिसमें कोई फल फूल नहीं लगते।

आरम्भ के अनेक विषय और अन्त के एक विषय में कुछ ऐसा ही निर्जीव और निष्फल सम्बन्ध है। विषयों की अनेकता के अतिरिक्त समस्त शिक्षा में पुस्तकों, पाठों, प्रश्नों आदि के रूपों में भी परिमाण का ही आग्रह अधिक है। आजकल यह आग्रह आरम्भिक कक्षाओं में भी आ गया है। छोटे-छोटे बच्चों को भी अनेक पुस्तकें पढ़ाई जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि प्रकृति विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान और सामाजिक ज्ञान की जैसी बातें भी उन्हें पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती है। पुस्तकों के द्वारा इन बातों को पढ़ना शिक्षा को आवश्यक रूप से भारी बनाना है। यह भार बच्चों की बुद्धि के विकास को बाधा पहुँचाता है। शिक्षा के संचालक इस छोटी सी बात को भी समझने में असमर्थ है कि किसी भी विषय को पुस्तकों के द्वारा समझने से पहले भाषा का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। अतः आरम्भ में भाषा की शिक्षा ही मुख्य होनी चाहिए। अन्य विषयों को भाषा के विकास का निमित्त बनाया जा सकता है। उन्हें स्वतंत्र रूप अध्ययन और परीक्षा का विषय बनाना गलत है। भाषा के सम्बन्ध में भी पुस्तकों और पाठों की अपेक्षा भाषा और विचार की शक्ति (बुद्धि) को अधिक महत्व देना चाहिए। भाषा और विचार की शक्ति समृद्ध होने पर सभी विषय और ग्रन्थ सुगम हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि विद्यालय में पढ़ने पर ही किसी विषय को बालक जान सकें। भाषा और विचार की शक्ति बढ़ने पर विद्यार्थी किसी भी विषय के ग्रन्थों को स्वयं समझ सकते हैं।

किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि विद्यार्थियों की रुचि और शक्ति को स्वतंत्र रूप से बढ़ने दिया जाय। जब उनकी बुद्धि के तने को मजबूत बनने दिया जाय, तभी विषयों और पुस्तकों की शाखायें उस पर फल-फूल सकती हैं। किन्तु इसके विपरीत किया यह जाता है कि उनकी कोमल बुद्धि के मूलों पर ही शाखायें फैला दी जाती है। सभी जानते हैं कि जिन वृक्षों के तने बड़े और मजबूत होते हैं तथा जिनके मूलों से ही शाखायें फैल जाती हैं वे वक्ष अधिक बड़े और दीर्घ-जीवी नहीं होते। उनकी फल-सम्पत्ति भी अल्प होती है। हमारी शिक्षा भी इन्हीं वृक्षों के समान है। उसमें भी भाषा और बुद्धि के तने को मजबूत बनाने के स्थान पर आरम्भ के मूल पर ही विषयों और पुस्तकों की शाखायें

फैलादी जाती हैं। विषयों और पुस्तकों के भार से दबकर बुद्धि की कोमल मूल भी दुर्बल हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षा का वृक्ष विशीर्ण होकर निष्फल रहता है। इस शिक्षा में पढ़े हुए विद्यार्थियों और विद्वानों को स्वयं ही यह विचार करने की आवश्यकता है है कि उनकी शिक्षा कितनी सशक्त और फलवती है। अपनी शक्ति से उनके ज्ञान वृक्ष में कितने फल-फूल उदित हुऐ हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने कितने विषय और ग्रंथ अपनी स्वतंत्र रुचि और इच्छा से स्वयं पढ़े अथवा रचे हैं।

सत्य यह है कि आरम्भ से लेकर सभी कक्षाओं के विद्यार्थी विषयों, पुस्तकों और पाठों के भार से इतने आक्रान्त रहते हैं कि वे इन्हीं को अच्छी तरह नहीं पढ़ पाते। इनके अतिरिक्त और कुछ पढ़ने का तो प्रश्न ही दूर है। अध्यापकों और प्रकाशकों के व्यापार के स्वार्थो ने पुस्तकों के भार को अनावश्यक रूप से बढ़ाया है। पुस्तकों और पाठों के भार से विद्यार्थियों की रुचि और बुद्धि दब जाती है। अत: उनमें स्वतंत्र रूप से पढ़ने की इच्छा और समझने के शक्ति मन्द हो जाती है। इसी का यह परिणाम है कि हमारे नवयुवक विद्यार्थी अपने आप बहुत कम पढ़ते हैं और पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ भी पढ़ने की इच्छा नहीं रखते। पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ने के लिए भी वे शिक्षकों और कुंजियों के पराधीन है। उनकी संख्या और उनका परिमाण भी इतना है कि वे उनको भी संभाल नहीं पाते। प्रत्येक विषय के पाठ्यक्रम में सब कुछ रख देने का प्रयत्न किया जाता है। शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिमाण का इतना आग्रह है कि उसमें अधिक से अधिक रखने का प्रयत्न किया जाता है, मानों अध्यापकों का सब कुछ पढ़ा देना शिक्षा के लिए आवश्यक है। विद्यार्थी को शिक्षाकाल में अथवा आगे चलकर अपने आप पढ़ने के लिए कुछ भी छोड़ने में हमारी शिक्षा प्रणाली विश्वास नहीं करती। स्वतंत्रता के इतने अविश्वास से जैसी शिक्षा सम्भव हो सकती है वैसी ही शिक्षा हमारे विद्यार्थी पा रहे हैं और उसी के अनुरूप इस शिक्षा का फल हो रहा है।

पाठ्य प्रणाली में परिमाण और पराधीनता का आग्रह शिक्षा की सभी श्रेणियों और सभी विषयों में दिखाई देता है। हिन्दी की पाठ्य-

पुस्तकों को देखिये तो ज्ञात होगा कि काव्य संग्रहों में कबीर से लेकर दिनकर तक अधिक से अधिक कवियों को रखने का प्रयत्न किया जाता है। सब के काव्यांश पढ़ने के साथ-साथ विद्यार्थियों से यह भी आशा की जाती है कि वे उनके काव्य और सौन्दर्य तथा शैली की उन विशेषताओं को बता सकें जो समग्र काव्य का गम्भीर मनन करने पर ही जानी जा सकती है। काव्य पढ़ने का उद्देश्य कविता के सौन्दर्य को समझने की शक्ति का विकास करना नहीं है वरन् अधिक से अधिक कवियों के काव्यांशों से परिचित होना है। और यह सब विद्यार्थी को परीक्षा के लिए अध्यापक से ही पढ़ना है। पहली कक्षा से लेकर एम. ए. तक साहित्य के विद्यार्थी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह कुछ अपने आप भी पढ़ सकता है। अथवा बिना पढ़े हुए भी एक छन्द का अर्थ बता सकते हैं। पाठ्यक्रम में इतनी पुस्तकें रहती हैं कि कक्षा में उनका अध्यापन होना कठिन हो जाता है। उनके अतिरिक्त कुछ भी पढ़ने का अवकाश विद्यार्थी को नहीं मिलता। पाठ्य के परिणाम और प्रणाली की पराधीनता से विद्यार्थी का मन इतना दब जाता है कि साहित्य के प्रति उनकी स्वतंत्र रुचि शेष नहीं रह जाती। इसी का परिमाण है कि आज हिन्दी के अध्यापकों और हिन्दी के विद्यार्थियों की हिन्दी के प्रति सब से कम रुचि है।

जो हिन्दी काव्य के पाठ्यक्रम का हाल है वही हिन्दी गद्य तथा अन्य विषयों के पाठ्यक्रम का हाल है। इतिहास को लीजिये तो आदि काल से लेकर आधुनिक काल तक सारे इतिहास का ज्ञान विद्यार्थियों के लिये आवश्यक होता है। यही भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि की दशा है। सभी में विषय और पुस्तकों के परिमाण का बहुत अधिक भार है। इन सब विषयों और पुस्तकों का उद्देश्य यही है कि विद्यार्थियों को अधिक से अधिक परिमाण में ज्ञान मिल सके। शिक्षा प्रणाली में यह ज्ञान भी पराधीन रूप में अध्यापकों से प्राप्त होता है। विद्यार्थी इसे अपनी स्वतंत्र शक्ति और अपने स्वाधीन उद्योग से प्राप्त नहीं करते। परिमाण के भार और पराधीनता की विवशता के कारण ज्ञान के प्रति विद्यार्थियों की रुचि भी मन्द हो जाती है। और वे इस ज्ञान को उदासीनता पूर्वक ग्रहण करते हैं, यह ज्ञान एक प्रकार से अरुचिपूर्ण आरोपण-सा रहता है। और आरोपित तत्वों की भांति ही यह विद्यार्थियों की चेतना में आत्मसात

नहीं हो पाता। अतः अत्यन्त श्रम-पूर्ण होने पर भी यह निष्फल रहता है। न तो विद्यार्थी इसे अपना पाते हैं और न वे इससे ज्ञान के विकास की प्रेरणा ही पाते हैं।

शिक्षा में ज्ञान के उपार्जन का महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि ज्ञान का उपार्जन ही शिक्षा का सर्वस्व नहीं है। किन्तु ज्ञान का उपार्जन ज्ञान का पराधीन आरोपण नहीं है। ज्ञान चेतना का प्रकाश है, किन्तु चेतना की स्वतन्त्र ज्ञान-शक्ति दृष्टि के समान है। वस्तुओं के दर्शन के लिए दृष्टि और प्रकाश दोनों की आवश्यकता है। किन्तु इनमें दृष्टि अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि दृष्टि के अभाव में प्रकाश व्यर्थ है। प्रकाश जीवन और शिक्षा का एक सामान्य तथ्य है, जो सर्वत्र बिखरा हुआ है। वह सर्वत्र दुर्लभ है। अतः प्रकाश की समस्या इतनी कठिन नहीं है। किन्तु दृष्टि दुर्लभ है। एक प्रकार से ज्ञान की दृष्टि सबको प्राप्त है। किन्तु ज्ञान का क्षेत्र अपार और दृष्टि के विकास के क्षितिज असीम हैं। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य इस दृष्टि को प्रखर और व्यापक बनाना है। उपनिषदों की शिक्षा इसी प्रकार की थी। आज शिक्षा दुर्लभ हो गई है। इसी अर्थ में दृष्टि दुर्लभ है। आज की शिक्षा में दृष्टि को मन्द बनाने वाले तत्व अधिक हैं। विद्यार्थियों की स्वतन्त्र ज्ञान-शक्ति का उत्कर्ष नहीं होता। बुद्धि के विकास को शिक्षा और परीक्षा में अधिक महत्व नहीं दिया जाता। शिक्षा की प्रणाली में ज्ञान के परिमाण और उसके पराधीन आरोपण का आग्रह अधिक है। यह आरोपण शिक्षा में आरम्भ से ही होता है, और अन्त तक चलता रहता है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि ऊँची कक्षाओं की ओर बढ़ने पर शिक्षा में परिमाण और आरोपण अधिक बढ़ता जाता है।

आश्चर्य की बात है कि विद्यार्थी की स्वतन्त्रता को शिक्षा और परीक्षा की प्रणाली में उचित महत्व नहीं दिया जाता। ऊँची से ऊँची कक्षाओं तक विद्यार्थी उसी में सीमित रहते हैं, जो पाठ्यक्रम में निर्धारित है और कक्षा में पढ़ाया जाता है। परीक्षा की प्रणाली भी ऐसी है कि उसमें निर्धारित और पढ़ाई हुई पुस्तकों में से ही प्रश्न पूछे जाते हैं। विज्ञानों और मानवशास्त्रों में पठित का आश्रय आवश्यक है, क्योंकि एक में प्रकृति के तथ्यों का और दूसरे में विश्व के इतिहास का

आधार है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि साहित्य और काव्य जैसे विषयों में भी विद्यार्थियों की स्वतन्त्र ज्ञान की शक्ति को महत्व नहीं दिया जाता। शिक्षा की अन्तिम विडम्बना यह है कि इस परिमाण-ग्रस्त और पराधीन प्रणाली में उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी ही अध्यापक बनते हैं, और उनसे नए-नए ग्रन्थ पढ़ाने की आशा की जाती है। जिनकी परीक्षा में अपठित का कोई स्थान नहीं है, जिनकी अपने अपने आप पढ़ने की स्वतन्त्रता को भी आदर नहीं दिया जाता और जिनकी ज्ञान शक्ति अथवा बुद्धि को कभी स्वतन्त्र रूप से विकसित होने की प्रेरणा नहीं मिलती, उनसे यह आशा करना कहाँ तक उचित है। इसी प्रकार विद्यार्थियों से पाठ्य में निर्धारित पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें स्वतन्त्रता पूर्वक पढ़ने की आशा की जाती है। किन्तु परिमाण-ग्रस्त और पराधीन शिक्षा प्रणाली में यह भी दुराशा मात्र है। परिमाण के भार से आक्रान्त रहने के कारण विद्यार्थियों को पाठ्य से बाहर की पुस्तकें पढ़ने का अवकाश और उत्साह नहीं रहता। पराधीन और निष्क्रिय रूप में अध्यापक से ज्ञान ग्रहण करने का ऐसा स्वभाव बन जाता है कि उनकी स्वतन्त्र बुद्धि कुण्ठित हो जाती है।

अस्तु ज्ञान, शक्ति अथवा बुद्धि की उपेक्षा करने के कारण यह शिक्षा ज्ञान का पराधीन और अरुचिपूर्ण सम्पादन है। ज्ञान की स्वतंत्र शक्ति के विकास की इसमें समुचित व्यवस्था नहीं है। वर्तमान शिक्षा की एक मौलिक दोष परिमाण और पराधीनता का आग्रह है। इस आग्रह की सीमा यह है कि कोमल बालकों से भी स्वास्थ्य-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, नागरिकता, शासन-प्रणाली तथा अन्तर्राष्ट्रीय बातों को समझने की आशा की जाती है। जिनको समझने की आशा की जाती है, उनके समझने की शक्ति उनमें नहीं होती। उनकी ज्ञान-शक्ति के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। ज्ञान का परिमाण शिक्षा एक बाह्य तत्व है, जिसका अपने आप में कोई महत्व नहीं है। 'ज्ञान' सम्पत्ति है। अन्य सम्पत्तियों के समान ही उसका अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। सम्पत्ति का मूल्य उपभोक्त की शक्ति पर निर्भर है। अत: अस्वस्थ और रोगी मनुष्य सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता। उसी प्रकार बुद्धि-शक्ति के दुर्बल होने पर ज्ञान भी निष्फल हो जाता है। शक्ति गुण है, जिसके

द्वारा ज्ञान-सम्पत्ति का इच्छानुसार सम्पादन किया जा सकता है। ज्ञान-शक्ति ही शिक्षित मनुष्य की वास्तविक विभूति है। उसी के विकास की प्रेरणा शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य है। बुद्धि का विकास होने पर विद्यार्थी ज्ञान का सम्पादन अपने आप कर सकते हैं। अध्यापक उसमें सहायता दे सकते हैं, किन्तु आरोपण उसमें आवश्यक नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह है कि ज्ञान का परिमाण असीम है और पुस्तकों की संख्या अपार है। विषयों की संख्या भी बहुत है। ऐसी स्थिति में कुछ पुस्तकों को परिमाण की दृष्टि से पढ़ा देने से क्या लाभ होता है। ज्ञान की जो सम्पत्ति विद्यार्थियों को प्राप्त होती है उसका परिणाम ज्ञान के विस्तृत वैभव की तुलना में बहुत अल्प है। विद्यार्थियों की स्वतंत्र अध्ययन की शक्ति का विकास नहीं होता। अतः वे आगे चलकर अपने आप अपठित ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते। अतः शिक्षा का उत्तम रूप ज्ञान-शक्ति अथवा बुद्धि का विकास है। 'ज्ञान' बुद्धि के विकास का केवल निमित्त है। निमित्त की दृष्टि से ही शिक्षा में इसका उपयोग होना चाहिए। किन्तु हमारी शिक्षा में इस निमित्त को ही लक्ष्य मान लिया गया है। अतः बुद्धि के विकास का मुख्य लक्ष्य उपेक्षित रह जाता है। ज्ञान-शक्ति अथवा बुद्धि का विकास बाल्यकाल में अधिक होता है। अतः बालकों और किशोरों की शिक्षा में बुद्धि के उत्कर्ष और स्वतन्त्र ज्ञान-शक्ति के विकास को ही प्रमुख महत्व देना चाहिए, और ज्ञान के परिमाण को केवल एक निमित्त मानना चाहिए। बुद्धि के तीव्र और प्रौढ़ होने पर परिमाण का महत्व अधिक बढ़ सकता है। किन्तु इसके लिए शिक्षा को चिन्ता करने की आवश्यकता न होगी। बुद्धि की शक्ति और स्वतन्त्रता विकसित होने पर विद्यार्थी अपनी स्वतन्त्र रुचि और इच्छा से अधिकाधिक ज्ञान-सम्पत्ति का उपार्जन कर सकेंगे। अतः शिक्षा प्रणाली में सदा ही बुद्धि के विकास को प्रभुता मिलनी चाहिए। अध्ययन और ज्ञान इस विकास के सहायक हैं। उन्हें बुद्धि की स्वतन्त्रता को आहत करने का अधिकार नहीं है। उनका कर्तव्य इस स्वतन्त्रता को प्रेरणा देना है।

शिक्षा को अपने इस प्रमुख उद्देश्य की ओर लाने के लिए उसे अध्यापन की पराधीनता और पाठ्यक्रम के परिमाण-भार से मुक्त करना

होगा। अध्यापक ज्ञान का प्रदाता नहीं है, वरन् वह बुद्धि का प्रेरक है। विद्यार्थियों की स्वतन्त्रत ज्ञान-शक्ति को प्रेरित करके अध्यापक उनका वास्तविक हित कर सकता है। ज्ञान के अल्प परिमाण के दान से विद्यार्थी कृतार्थ नहीं हो सकते। किन्तु बुद्धि की स्वतन्त्र शक्ति के विकसित होने पर विद्यार्थी इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार पाठ्यक्रम के परिमाण का भार भी अहितकर है। ज्ञान के परिमाण की दृष्टि में वह अत्यन्त अल्प है। किन्तु अल्प होते हुए भी उसका भार विद्यार्थियों की स्वतंत्र बुद्धि को कुण्ठित कर देता है। परीक्षा में भी सीमित पाठ्यक्रम का आधार विद्यार्थियों की बुद्धि को संकुचित और पराधीन बनाता है। अतः अध्ययन और पाठ्यक्रम की भाँति परीक्षा की प्रणाली को भी बदलना आवश्यक है। परीक्षा में पठित की अपेक्षा अपठित का और लिखित की अपेक्षा मौखिक का अधिक महत्व होना चाहिए। विद्यार्थियों में अपने से छोटों को ज्ञान और प्रेरणा देने की कितनी क्षमता है, इसकी परीक्षा भी होनी चाहिए। पाठ्य की लिखित परीक्षा सरकस के पशुओं की कलाओं के समान है पराधीनता और शक्ति-हीनता की तुलना में कलाओं के चमत्कार का कोई महत्व नहीं है। कटा हुआ मांस खाने वाले आज्ञाकारी सिंह दयनीय हैं। विद्या के वन में स्वतन्त्र विहार और शिकार करने वाले सिंह-किशोरों को जन्म देकर ही शिक्षा सफल हो सकती है।

१०—सदाचार और शिक्षा

'शिक्षा' व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन की सर्वोत्तम विभूति है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति का विकास होता है और वह एक संस्कृत मनुष्य बनता है। शिक्षा ही राष्ट्र के उत्कर्ष का मार्ग है। शिक्षा के मानसरोवर से ही राष्ट्र के विकास की समस्त धारायें प्रवाहित होती हैं। वस्तुतः शिक्षा और ज्ञान का विकास ही मनुष्य के समाज और उसकी सभ्यता के विकास की मूल प्रेरणा रहा है। आधुनिक युग में ज्ञान, विज्ञान और सभ्यता का अधिक विकास हो जाने के कारण सभी क्षेत्रों में शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। अब शिक्षा अभिजात वर्ग का अलंकार मात्र नहीं रह गई है, वरन् वह जन साधारण का सामान्य अधिकार बन गई है। शिक्षा के प्रति सामान्यजनों का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। व्यापार, शासन आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में शिक्षा का महत्व विगत युगों की अपेक्षा कहीं अधिक है। अतः जीवन में उन्नति का मार्ग बनाने के लिए उत्तम शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य बन गया है।

आधुनिक सभ्य जीवन में शिक्षा का जितना अधिक महत्व बढ़ गया है, उतनी ही अधिक भारतीय शिक्षा की दशा शोचनीय है। परीक्षाफलों को देखने से विदित होता है कि राष्ट्र का कितना धन तथा नवयुवकों का अमूल्य समय और श्रम कितने शोचनीय रूप में निष्फलता के लिए व्यय हो रहा है। परीक्षा में सफल होने वाले छात्रों की योग्यता का स्तर भी सन्तोषजनक नहीं है। ज्ञान के किसी क्षेत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आधुनिक भारतीय साहित्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों का कोई आदरपूर्ण स्थान नहीं है। स्वाधीनता के बाईस वर्ष बाद भी दोनों अधिकांशतः पश्चिम के उपजीवी बने हुए हैं। लज्जा की बात होने के अतिरिक्त देश की उन्नति की दृष्टि से यह अत्यन्त शोचनीय बात है। ज्ञान के क्षेत्र में नवीन चमत्कारों का उद्घाटन तो असाधारण प्रतिभाओं का कार्य है (यद्यपि इन प्रतिभाओं का उदय ही देश का गौरव है,) किन्तु उन्नत राष्ट्रीय जीवन की व्यवस्थाओं के संचालन के लिए शिक्षा के सामान्य धरातल का भी ऊँचा होना तथा सभी युवकों के शिक्षा सम्बन्धी

श्रम का अधिकतम सफल होना आवश्यक है। ऊँचा होने के बजाय भारतीय शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। प्राचीन काल में असंख्य प्रतिभाओं को जन्म देने वाली सिद्ध भूमि भी आज मानों वंध्या हो रही है। प्राचीन भारत में सरस्वती के सरल साधकों ने पर्ण-कुटियों में जिस श्रेष्ठ साहित्य और जिन महान शास्त्रों की रचना की थी, उनको समझने में भी प्रासादों में पढ़ने वाले उनके वंशधर अपने को असमर्थ पा रहे हैं।

आधुनिक भारत में शिक्षा की इस हीन दशा से देश के सभी कर्णधार चिन्तित हैं। अनेक दिशाओं और दृष्टियों से शिक्षा की हीनता पर विचार और शिक्षा के उद्धार के उपाय किए जा रहे हैं। शिक्षा-प्रणाली, परीक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम, शिक्षकों का वेतन, शिक्षकों का सम्मान, छात्रों का अनुशासन, राजनीति से छात्रों का सम्बन्ध आदि अनेक पहलुओं से शिक्षा की समस्या पर विचार और शिक्षा की स्थिति के सुधार का उद्योग देश के नेता, शासक तथा देश के अन्य हित चिन्तक कर रहे हैं। इन सब पहलुओं का शिक्षा से सम्बन्ध है और उनमें सुधार करने से शिक्षा में उन्नति हो सकती है। किन्तु इनमें कुछ पहलू तो बाहरी हैं। इनमें सुधार अपेक्षित है किन्तु केवल इससे शिक्षा का उद्धार नहीं हो सकता। कुछ दूसरे पहलू कठिन हैं। इनमें सुधार होने से शिक्षा की उन्नति होगी, किन्तु इनमें सुधार के लिए पहले शिक्षा में सुधार की आवश्यकता है। शिक्षा के साथ इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध इस दिशा के प्रयत्नों को मरीचिका बना देता है।

इन सब प्रयत्नों में एक मौलिक भूल यह है कि शिक्षा के पतन के कारणों और उसके सुधार के उपायों को शिक्षा के क्षेत्र के भीतर ही खोजा जा रहा है। यह खोज अंशत: उचित है, किन्तु इसको सर्वस्व मान लेने पर यह असत्य बन जाती है। सत्य यह है कि शिक्षा की समस्या के मूल सूत्र शिक्षा के क्षेत्र के बाहर हैं। हमें बालकों के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में इन सूत्रों को खोजना चाहिए। विद्यार्थी बनने से पहले बालक एक परिवार और समाज का सदस्य होता है। वस्तुत: बालक के पारिवारिक और सामाजिक जीवन के संस्कार ही आगे चलकर उसकी शिक्षा के सम्बल बनते हैं। ये संस्कार बालक

के जीवन में प्रकाश और शक्ति दोनों का काम देते हैं। ये ही उसके जीवन के मार्गों को प्रकाशित कर उसे विकास की दिशा में प्रेरित करते हैं।

संस्कार जीवन की प्राकृतिक और आत्मिक शक्तियों का एक ऐसा सामंजस्य है, जो जीवन तथा शिक्षा की प्रगति का प्रेरक है। इन संस्कारों में ज्ञान और शील दोनों का ही अंकुर रहता है। बड़ों के अनुकरण, शिक्षण, उपदेश, प्रभाव आदि के द्वारा बालक के ज्ञान और चरित्र दोनों का विकास होता है। शिक्षा की व्यापक परिभाषा में चरित्र का विकास भी सम्मिलित है, किन्तु वस्तुतः परिवार में बच्चों के पालन और विद्यालयों में उनके शिक्षण दोनों में ही चरित्र के निर्माण को उचित महत्व नहीं दिया जाता। शिक्षा को मुख्यतः ज्ञान का उपार्जन ही समझा जाता है। किन्तु सत्य यह है कि सदाचार शिक्षा का एक अंग मात्र नहीं है, वह शिक्षा का मूल स्रोत है तथा विद्या की मूल शक्ति है। इस रूप में शिक्षा के साथ सदाचार के आन्तरिक सम्बन्ध को न हमारी शिक्षा-प्रणाली में महत्व दिया जाता है और न शिक्षा-मनोविज्ञान में इसे स्पष्ट स्वीकार किया गया है। विद्यालयों में अनुशासन की समस्या पर इनके इस आन्तरिक सम्बन्ध की दृष्टि से विचार नहीं किया जाता। विद्यालयों में अपेक्षित अनुशासन को प्रायः छात्रों के बाह्य व्यवहार और शिक्षा के बाह्य वातावरण के रूप में देखा जाता है। किन्तु वस्तुतः अनुशासन और आचार एक आन्तरिक शील हैं। इसके साथ-साथ सदाचार शिक्षा का फल नहीं वरन् उसका मूल है। ज्ञान से सदाचार प्राप्त हो सकता है, यह एक भ्रान्ति है। ज्ञान केवल प्रकाश है। आचार के शील का निर्माण ज्ञान से नहीं, वरन् बड़ों के शील की प्रेरणा से होता है। जीवन की विभूति होने के साथ-साथ शील और सदाचार ज्ञान-रूप शिक्षा के उत्कर्ष की भी एक प्रेरणामयी शक्ति है। शिक्षा, अनुशासन और राष्ट्रीय विकास की समस्याओं को सदाचार और शिक्षा के इस सम्बन्ध की दृष्टि से देखने पर ही हमें उन समस्याओं का सही समाधान मिल सकेगा।

शिक्षा को ज्ञान का उपार्जन मानने पर भी सदाचार के साथ उसका यह सम्बन्ध उतना ही महत्वपूर्ण रहता है, जितना कि वह शिक्षा को

जीवन का व्यापक निर्माण मानने पर प्रतीत होता है। सदाचार में जिन गुणों का समाहार होता है, प्रायः उन गुणों से ही श्रेष्ठ पुरुषों ने जीवन में उन्नति की है। ज्ञान की दृष्टि से भी संसार में जितने विद्वान हुए हैं, उनमें भी अधिकांश सदाचारी ही मिलेंगे। ज्ञान-रूप शिक्षा में सदाचार का क्या योग है, यह कुछ ऐसा रहस्य है जिसे सामान्यतः समझना कठिन है। किन्तु जीवन, शिक्षा और आचार के स्वरूप एवं सम्बन्ध के विषय में तनिक सूक्ष्म विचार करने पर यह रहस्य भी सरलता से समझ में आ सकता है।

जीवन एक समष्टि है। व्यक्तित्व अनेक प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का संगठन है। जीवन के विभिन्न पक्षों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। वे एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। शील अथवा चरित्र मनुष्य के जीवन की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का एक संगठित विधान है। ज्ञान इस विधान का प्रकाश अवश्य है, किन्तु संकल्प और आचार ही इसका प्रत्यक्ष और प्रमुख रूप है। संकल्प एक व्यापक रूप में इस समग्र विधान की तथा विशेष रूप में आचार की मूल शक्ति है। इच्छा इसी संकल्प का पर्याय है। शैव-तन्त्रों में इच्छा-शक्ति के रूप में जीवन का जो सृजनात्मक रहस्य प्रतिष्ठित किया गया है, उसे जीवन और शिक्षा दोनों के प्रसंग में गम्भीरता पूर्वक समझना आवश्यक है।

जीवन के व्यापक विकास और ज्ञानोपार्जन दोनों ही रूप में शिक्षा का मूल रहस्य संकल्प में निहित है, जो आचार का आदि पीठ है। संकल्प की प्रेरणा से ही ज्ञान की दिशा में प्रवृत्ति होती है। हमारी वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यही है कि विद्यार्थियों की दृष्टि से यह पूर्ण रूप से उनके संकल्प से रहित है। शिक्षा-प्रणाली के यान्त्रिक विधान में आरम्भ से ही पराधीनता का पालन करते करते विद्यार्थी पूर्णतः संकल्पहीन वन जाता है तथा उसकी विद्या संकल्पहीन होने के कारण शक्तिहीन बन जाती है। शैव-तन्त्रों में संकल्प को शक्ति और शक्ति को स्वतन्त्र वताया गया है। संकल्प और शक्ति से रहित वर्तमान शिक्षा ज्ञान की गरिमा, सृजन की विभूति आदि सभी दृष्टियों से दीन है। शिक्षा-प्रणाली में परीक्षा और पाठ्य की दृष्टि से ही नहीं, वरन् संकल्प

की शक्ति और स्वतन्त्रता की दृष्टि से आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

सदाचार के मूल रूप में संकल्प विद्या की आदि शक्ति है। इसी मान्यता के आधार पर विद्या की देवी सरस्वती की गणना शक्ति के तीन प्रमुख रूपों के अन्तर्गत की गई है। किन्तु सदाचार के जिन विशिष्ट रूपों में संकल्प फलित होता है, वे भी विद्या और ज्ञान के विकास में अत्यन्त उपकारक हैं। सदाचार का अर्थ सत् अर्थात् अच्छा आचार है। गीता में सत् का अर्थ सत्ता और शुभ बताया गया है। शुभ को शिव अथवा मंगल भी कह सकते हैं। कल्याण की सत्ता ही जीवन में सबसे महत्वपूर्ण है। इसीलिए सामान्य सत्ता का वाचक 'सत्' शिव भाव का द्योतक बना है। इस प्रकार मांगलिक व्यवहार का वाचक सदाचार संकल्पमूलक होने के नाते शक्ति और शिव के उस अभिन्न साम्य का द्योतक है, जो शैव तन्त्रों का मूल सिद्धान्त है। मंगल के वाचक सत् का भाव-रूप 'सत्व' प्राय: बल अथवा शक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार शक्ति और शिव का परस्पर अन्तर्भाव जीवन और शिक्षा के उस निगूढ़ रहस्य का संकेत करता है जो हमारी शिक्षा-प्रणाली में अत्यन्त उपेक्षित है।

सदाचार से लक्षित शील के विशेष गुण अनेक रूपों में ज्ञानार्जन में उपकारक होते हैं। सदाचार मूल भूत संकल्प की भांति वे विद्योपार्जन की प्रबल प्रेरणा तो बनते ही हैं, इसके साथ-साथ वे विद्या की प्रगति का मार्ग प्रकाशित करते हैं। वे विद्या की उन्नति के अनुकूल आन्तरिक एवं बाह्य परिवेश का निर्माण करते हैं, विद्यार्थी के सम्पूर्ण जीवन के विधान को उत्तम विद्या के अनुकूल बनाते है तथा जीवन एवं विद्या के विकास में हानिकारक प्रभावों से बचाकर दोनों की उन्नति का पथ प्रशस्त करते हैं। संकल्प की भांति ही सदाचार से लक्षित अन्य गुणों का भी विद्या के साथ आन्तरिक सम्बन्ध है। विद्यार्थियों की योग्यता के वैज्ञानिक निरीक्षण के द्वारा इस सत्य को प्रमाणित किया जा सकता है, यद्यपि इस सम्बन्ध की मार्मिक गम्भीरता को अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है। उत्कृष्ट विद्या के ऊर्ध्व लोकों में यह अनुभव अधिक तीव्र और प्रखर होते है। इन ऊर्ध्व लोकों में वर्तमान छात्रों की प्रगति कितनी मन्द और कितनी

कठिन हो गई है, यह उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में सरलता से परखा जा सकता है। शिक्षा प्रणाली के अन्य दोषों की अपेक्षा सदाचार की उपेक्षा इस कठिनाई का अधिक महत्वपूर्ण कारण है।

ज्ञान रूप में विद्या चेतना के प्रकाश का विकास है। सदाचार को मन्द करने वाली वृत्तियाँ चेतना के प्रकाश को मलिन करती हैं। सदाचार की पवित्रता और सात्विकता इस चेतना के सूर्य को प्रकाशित करती है। भारतीय दर्शनों में प्रकृति के तीन गुणों में 'सत्' को ज्ञान के अनुकूल माना गया है। वह स्वरूप से उज्ज्वल और प्रकाशक है। उसी में आत्मा का आलोक विभासित होता है। गीता में सत्वगुण के उत्कर्ष को अध्यात्म साधना का उपकारक माना गया है। गीता के अनुसार अध्यात्म-विद्या विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है। विद्याओं में वह भगवान की विभूति है। अन्य विद्यायें अध्यात्म-विद्या के दिव्य-कल्पवृक्ष के फल के समान हैं। प्राचीन भारतीय विद्या में अध्यात्म की प्रमुखता है। अतः भारतीय विद्याओं के अवगाहन के लिए सत्व का विकास और सदाचार अत्यन्त आवश्यक है। अन्य विद्याओं और शास्त्रों की दिशाओं में भी चेतना की उत्कृष्ट गति सद्गुणों के प्रकाश और उनकी प्रेरणा के द्वारा ही हो सकती है। सद्गुणों की सम्पत्ति उन प्रवृत्तियों के आकर्षण से बचाती है, जिनका प्रभाव विद्या के मार्ग में बाधक हो सकता है। साथ ही जिस प्रकार भौतिक सम्पत्ति व्यापार की आर्थिक उन्नति का आधार बनती है, उसी प्रकार सद्गुणों के शील की सम्पत्ति विद्या की समृद्धि का आधार बनती है। यह आधार श्रेष्ठ मूल्यों के विश्वास और उनकी साधना के अनुकूल आन्तरिक एवं बाह्य परिवेश के रूप में बनता है। सदाचार का शील सम्पूर्ण जीवन का ऐसा विधान है, जो जीवन की गति को विद्या के मार्ग में अग्रसर करता है। जीवन को जल का पर्याय मान कर हम इस शील को प्रवाह की शक्ति कह सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि विद्या का प्रवाह नीचे की ओर न हो कर ऊपर की ओर होता है। विद्या चेतना की ऊर्ध्वमुखी गति है। सदाचार इस गति की मूल शक्ति है।

यह सदाचार जीवन की चेतना और प्रवृत्ति का ऐसा विधान है, जो विद्या तथा जीवन के क्षेत्र में उन्नति का प्रेरक होता है। बालक के जीवन

में ज्ञान के विकास की अपेक्षा सदाचार की प्रतिष्ठा अधिक महत्वपूर्ण है। सदाचार के बिना विद्या का विकास नहीं हो सकता और सदाचार का सम्वल होने पर विद्या का विकास अनायास हो जाता है, जिस प्रकार मूल को सींचने से वृक्षों में सहज ही फल आ जाते हैं। ज्ञान का विकास तो जीवन भर होता है और हो सकता है, किन्तु सदाचार की नींव जीवन के आरम्भ काल में ही बनती हैं। इसी नींव पर विद्या और जीवन का भवन निर्मित होता है। शिक्षा-प्रणाली, परीक्षा-विधि, पाठ्यक्रम आदि की अपेक्षा यह आरम्भिक सदाचार हमारी शिक्षा की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। राष्ट्रीय जीवन के प्रश्नों का उत्तर भी इसी में निहित है। सदाचार का अंकुर बाल्य-काल में परिवार में ही प्रस्फुटित होता है। अतः माता-पिता का इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उत्तरदायित्व है, यद्यपि शिक्षक और समाज का सहयोग भी आवश्यक है। सदाचार के शील का निर्माण उपदेश से नहीं, वरन् आदर्श की प्रेरणा से होता है। सन्तान और राष्ट्र की उन्नति चाहने वाले माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपने जीवन के आदर्श की प्रेरणा द्वारा बालकों के आरम्भिक जीवन की कोमल भूमि में सदाचार का बीजारोपण करें तथा सदाचार के पादप के सुदृढ़ एवं समर्थ होने तक उसका रक्षण, सिंचन और पोषण करें। आगे चल-कर अपनी स्वतन्त्र-शक्ति से सम्वर्धित होकर विद्या तथा अन्य विभूतियों की समृद्धि में फलित हो कर सदाचार का कल्पवृक्ष सन्तति के यौवन और माता-पिता के वार्धक्य को कृतार्थ कर राष्ट्र के गौरव एवं उसकी समृद्धि में सफल होगा।

११–हमारी शिक्षा के सूक्ष्म छिद्र

१. शिक्षा का प्रयोजन :

शिक्षा व्यक्ति और राष्ट्र के निर्माण की प्रणाली है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति का विकास होता है। इस विकासक्रम में सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्य उसके व्यक्तित्व में समवेत होते हैं। शिक्षित होकर व्यक्ति समाज और राष्ट्र का सदस्य बनता है। व्यक्ति के इस विकास को पूर्णतः व्यक्तिगत कहना उचित नहीं है। व्यक्ति इस विकास का केन्द्र अवश्य होता है, किन्तु इस विकास की परिधि समाज और राष्ट्र में फैलती है। व्यक्तियों के विकास की परिधियाँ मिलकर ही राष्ट्र का मण्डल बनातीं हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का अस्तित्व सार्थक होता है।

मुख्यतः शिक्षा विद्योपार्जन ही है, यद्यपि शिक्षा-शास्त्रों में उसे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास कहा जाता है। इस सर्वांगीण विकास में ज्ञान के अतिरिक्ति भाव, कर्म, चरित्र, कला, राष्ट्रीयता आदि का विकास भी सम्मिलित किया जाता है। विकास के ये पक्ष पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं होते। ये सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्यों के समवाय से ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के विकास के माध्यम से शिक्षा राष्ट्र का निर्माण करती है।

मानवता अथवा विश्व-समाज के निर्माण को शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य कहा जा सकता है। शिक्षा के शास्त्र इस लक्ष्य का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु विश्व के राष्ट्र अभी अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में ही बँधे हुए हैं। अतः विश्व-मानवता का निर्माण अभी शिक्षा का केवल सैद्धान्तिक लक्ष्य बना हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि से सभी देशों की शिक्षा राष्ट्र के निर्माण को अपना लक्ष्य मानकर चल रही है।

२. हमारी शिक्षा की स्थिति :

किन्तु हमारी शिक्षा इस राष्ट्रीय लक्ष्य को भी भली-भाँति पूरा नहीं कर रही है। स्वतन्त्रता के बीस वर्षों में हमारे देश में शिक्षा का बहुत प्रसार हुआ है, किन्तु इस शिक्षा के द्वारा देश में निर्माणकारी प्रवृत्तियों का अपेक्षित विकास नहीं हुआ। विघटनकारी और विध्वंसक

प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं। जिनका निर्माण और जिनके द्वारा देश का निर्माण शिक्षा का लक्ष्य है, वे विद्यार्थी और नवयुवक ही विध्वंस के नेता बन गए हैं। विध्वंस और विघटन दोनों ही अ-राष्ट्रीय हैं। ये शिक्षा की निर्माणकारी सफलता के दूने विपरीत हैं। विकास के स्थान पर इनसे ह्रास होता है। आर्थिक-क्षेत्र को छोड़कर विद्या, चरित्र, एकता आदि राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से हमारा बीस वर्ष का इतिहास निरन्तर ह्रास का ही इतिहास है। आर्थिक क्षेत्र में भी जहाँ उत्पादन के परिमाण में वृद्धि हो रही है, वहाँ दूसरी ओर बढ़ती हुई जनसंख्या आदि के कारण वितरण, बेकारी आदि की दृष्टि से ह्रास ही हो रहा है।

इससे विदित होता है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली में कुछ मौलिक दोष हैं। हमारे शिक्षा-घट में कुछ छिद्र हैं, जिनके कारण विद्या के निर्झर के नीचे लगे रहने पर भी वह भरता हुआ दिखाई नहीं देता। निर्झर से घर की ओर ले जाने में, वह मार्ग में ही रीतने लगता है। विद्या-पीठों में विद्यार्थी जो कुछ राष्ट्रीय गुण सीखते हैं, वे भी उनके नौकरी अथवा व्यवसाय में लगने के बाद छीजने लगते हैं। स्वयं विद्या भी बढ़ने के बजाय घटती है और सरस्वती के अपूर्व-कोष की प्रसिद्ध उक्ति भी मिथ्या हो जाती है। परीक्षा के बाद विद्यार्थी अपनी विद्या भूल जाते हैं। अध्यापक बनने के बाद भी अधिकांश लोगों की विद्या और रुचि क्षीण होती जाती है।

यह हमारी शिक्षा की एक शोचनीय विडम्बना है। हमारी शिक्षा एक उन्नतिशील राष्ट्र का निर्माण करने में सफल हो, इसके लिए हमें शिक्षा के मूल-तत्वों को तथा अपनी शिक्षा-प्रणाली के मौलिक दोषों को समझना होगा। शिक्षा के माध्यम के साथ राष्ट्रीय लक्ष्यों की संगति के द्वारा ही भारत भी अन्य देशों की भाँति उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो सकता है।

३. शिक्षा और जीवन :

राष्ट्रीय सन्दर्भ में व्यक्ति के जीवन का निर्माण शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है। इस लक्ष्य की दृष्टि से शिक्षा को जीवन का साधन कहा जा सकता है। जीवन साध्य है, शिक्षा उसका साधन है। यदि शिक्षा को

एक प्रणाली न मानकर, एक वर्धमान उपलब्धि मानें, तो शिक्षा को जीवन का पर्याय भी कह सकते हैं। ऐसी शिक्षा जीवन में तदाकार हो जाती है, वह स्वयं जीवन बन जाती है। शिक्षा और जीवन में विवेक करने पर भी वह जीवन के साथ समानान्तर प्रतीत होती है। शिक्षा और जीवन नदी के दो किनारे से जान पड़ते हैं तथा दोनों का अस्तित्व प्रवाह की धारा में समवेत हो जाता है।

अस्तु, उच्चतम रूप में शिक्षा जीवन का पर्याय है तथा सामान्य अर्थ में शिक्षा जीवन का साधन है, किन्तु किसी भी स्थिति में शिक्षा जीवन को साधन बनाकर उसका साध्य नहीं बन सकती। ऐसा होने पर व्यक्ति और राष्ट्र का जीवन निष्फल हो जाता है। किन्तु हमारी शिक्षा जीवन और शिक्षा के वांछनीय सम्बन्ध का विपर्यय बन रही है। हमारी शिक्षा में न जीवन और शिक्षा एक-दूसरे के पर्याय हैं और न शिक्षा जीवन का साधन ही है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में विद्या तथा नैतिक एवं राष्ट्रीय-चेतना का ऐसा विकास नहीं होता जैसे विकास की कि राष्ट्रीय-शिक्षा से आशा की जा सकती है। हमारी शिक्षा केवल निरुद्देश्य ज्ञान का उपार्जन बन गई है और जीवन उसका साधन बन गया है। विद्यार्थियों की स्थिति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो शिक्षा जीवन के लिए नहीं है, वरन् जीवन शिक्षा के लिए है। विद्यार्थियों के जीवन का कोई व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय लक्ष्य नहीं दिखाई देता, जिससे साथ तदाकार होकर शिक्षा जीवन का पर्याय बन सके।

अन्य लक्ष्यों के अभाव में जीविका शिक्षा का लक्ष्य बन जाती है। किन्तु हमारी शिक्षा का जीविका के साथ भी ऐसा सम्बन्ध नहीं है, जो कि विद्यार्थियों को प्रोत्साहित कर सके। शिक्षा का पाठ्यक्रम जीविका के अनुसार निर्दिष्ट नहीं होता और न शिक्षा के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में योग्यता के आधार पर ही चुनाव होता है। नौकरियों के चुनाव में अन्य अवान्तर और अनिश्चित बातों को इतना महत्व दिया जाता है कि शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता का मूल्य बहुत कम रह जाता है। नौकरियों के सम्बन्ध में साक्षात्कार का चमत्कार सबसे अधिक अद्भुत है, जिसमें दस-पाँच मिनट की बात-चीत के द्वारा ही प्रत्याशी की समस्त योग्यता को परख लिया जाता है।

जीवन के किसी भी लक्ष्य से शिक्षा का निश्चित और निर्दिष्ट सम्बन्ध न होने के कारण शिक्षा ही स्वयं लक्ष्य बन जाती है। जीवन के प्रयोजन से उदासीन होकर विद्यार्थी शिक्षा की वीतराग साधना करता है। ऐसी शिक्षा का जो स्वरूप और फल हो सकता है, वह हमारे सामने आ रहा है।

४. विपर्यय के कारण :

जीवन और शिक्षा के सम्बन्ध के इस विपर्यय का प्रत्यक्ष कारण तो हमारी राष्ट्रीय व्यवस्था में शासन की बढ़ती हुई महिमा है, किन्तु उसका वास्तविक कारण हमारी व्यवस्था में राष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं राष्ट्रीय-भावना है। राष्ट्रीय भावना के अनुसार ही शिक्षा तथा व्यक्ति के जीवन का कोई प्रेरक लक्ष्य बन सकता है। इसके अभाव में व्यक्ति का भौतिक स्वार्थ ही लक्ष्य के रूप में शेष रह जाता है। हमारी व्यवस्था में शासन की प्रभुता इसी का परिणाम है। शासन की प्रभुता का अर्थ शासन के अधिकारी व्यक्तियों की प्रभुता है। अधिकारियों की यह प्रभुता राष्ट्रीय दृष्टिकोण के विपर्यय का प्रमाण है। वास्तव में शासन राष्ट्र की व्यवस्था का तन्त्र है और अधिकारी केवल उसके यन्त्र होते हैं। वे राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में शासन की व्यवस्था का संचालन करते हैं। राष्ट्र का हित और शासन के नियम ही मुख्य होते हैं। अधिकारी उसका निमित्त मात्र होता है। अपने आप में उसका कोई महत्व नहीं होता। प्रतिनिधि के रूप में उसका जो महत्व होता है, वह अन्ततः उस सत्ता के महत्व का प्रतिबिम्ब मात्र है, जिस सत्ता का कि वह प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधि का महत्व गौण ही होता है और उस सत्ता का महत्व ही मुख्य रहता है, जिसका कि वह प्रतिनिधि होता है। राजनीति और शासन की इस व्यवस्था में व्यक्ति का अधिक और स्थायी महत्व नहीं हो सकता। केवल अल्पकालिक निमित्त के रूप में ही व्यक्ति को प्रतिनिधित्व का गौरव मिल सकता है। व्यक्ति-पूजा की परम्परा तथा शासकों का वैभव और दम्भ इस व्यवस्था के प्रतिकूल हैं। पश्चिमी देशों की वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में इस सत्य के उदाहरण मिलते हैं। विजय, सफलता और उन्नति इस सत्य को इतिहास में प्रमाणित करते हैं।

हमारी राजनैतिक परम्परा और शासन-व्यवस्था व्यक्तियों की कीर्ति-कामना के कारण इस सत्य के विपरीत बन गई हैं। हमारे राजनैतिक नेता प्रत्यक्ष रूप में राष्ट्र की स्वतन्त्रता और सेवा का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उनके दृष्टिकोण में व्यक्तिगत गौरव और कीर्ति-कामना की ऐसी भूल अवश्य छिपी रही, जिसके कारण वे राष्ट्र के प्रतिनिधि बनकर, राष्ट्रीयता की भावना समाज में स्थापित नहीं कर सके तथा जिसके कारण राष्ट्र से अधिक नेताओं की पूजा की परम्परा देश में प्रचलित हो गयी। राष्ट्रीयता और व्यक्ति-पूजा एक-दूसरे के विरोधी हैं। व्यक्ति-पूजा के विपरीत अनुपात में राष्ट्रीयता का सत्य परखा जा सकता है। शासन के क्षेत्र में अधिकारियों का दर्प और दम्भ राजनैतिक नेताओं की कीर्ति-कामना का अनुवाद अथवा प्रतिबिम्ब है। इस विडम्बना का मूल राजनैतिक दृष्टिकोण की मौलिक भूल में ही है।

राजनीति और शासन के क्षेत्र में नेता और अधिकारी की महिमा ने राष्ट्र के गौरव तथा शिक्षा आदि उसके सहयोगी साधनों को गौण बना दिया। राष्ट्रीय-भावना राष्ट्र को सर्वोपरि मानकर ही सम्भव हो सकती है। इस स्थिति में नेता और अधिकारी अपने आप में पूजित नहीं हो सकते। वे राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में ही कुछ सम्मान पा सकते हैं। नेताओं और अधिकारियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा गौण होने पर ही राष्ट्रीय गौरव के सहयोगी, शिक्षा आदि इस रूप में व्यवस्थित हो सकते हैं कि वे राष्ट्र की उन्नति में सहायक हो सकें। राष्ट्रीय-भावना से प्रेरित और राष्ट्रीय गौरव की विधायक होकर ही शिक्षा विद्यार्थियों के जीवन की निर्माणकारी प्रेरणा बन सकती है।

हमारी राजनीति, शासन-व्यवस्था और शिक्षा में सिद्धान्त के रूप में जो विपर्यय व्याप्त है, वह व्यवहार में भी चरितार्थ होता है। इनके व्यावहारिक रूपों में राष्ट्रीय-भावना, राष्ट्रीय निमित्त और राष्ट्रीय उपकरणों का अभाव है। सत्ता और नियमों के सामान्य अथवा विदेशी निमित्त एवं उपकरण इन पर छाए हुए हैं। राष्ट्रीय विशेषता की छाप इनमें मिलना कठिन है। हमारी वेश-भूषा, भाषा, शिक्षा के पाठ्यक्रम आदि में इन निमित्तों के उदाहरण मिल सकते हैं।

५. शिक्षकों का सम्मान :

राजनैतिक क्षेत्र में नेताओं की पूजा तथा शासन के क्षेत्र में अधिकारियों के दर्प ने शेष सभी नागरिकों को अत्यन्त हीन बना दिया है। समाज में शिक्षकों का सम्मान नहीं है। स्वतन्त्र भारत के नागरिक सरकारी कार्यालयों के द्वारों पर, उन कामों के लिए ठोकरें खाते फिरते हैं, जिनको अपेक्षित रूप में करना अधिकारियों का कर्तव्य है। कार्यालयों के इन्द्रभवनों से नागरिकों को उनके अधिकार भिक्षा के रूप में मिलते हैं। राजनीतिक नेतृत्व से उतरकर व्यक्तियों की गौरव-कामना शासनाधिकार के निम्नतम सोपान तक आ गयी है। सरकारी चपरासी भी जनता की सेवा और सहायता करने के स्थान पर शासन का दर्प दिखाता है।

शासन के इसी दर्प में शिक्षक का सम्मान और विद्या का मूल्य खो गया है। शिक्षा के क्षेत्र में भी अधिकार का पद दर्प का निमित्त बन जाता है। सत्ता विद्या से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। शासकीय अधिकारियों की अपेक्षा शिक्षाधिकारियों का सम्मान कम है। यह अधिकार-भेद के कारण है। शासनाधिकारियों का प्रभुत्व सारे समाज पर छाया रहता है, जबकि शिक्षाधिकारियों की प्रभुता शिक्षकों तक ही सीमित है। शिक्षक के पास कोई सत्ता नहीं है। अध्यापक के पास कोई अधिकार नहीं है। अतः उसका कोई सम्मान नहीं है। निम्न कक्षाओं के अध्यापक बालकों को शासित और दण्डित करके अपनी हीनता का प्रतिशोध करते हैं। उच्च कक्षाओं में अब यह सम्भव नहीं रहा। उच्च कक्षाओं में छात्र विद्रोही बनकर शिक्षकों और समाज के लिए आतंक बन गए है।

शिक्षकों के सम्मान की बात प्रायः की जाती है। अध्यापकों को राष्ट्रीय पुरस्कार दिये जाते हैं, यद्यपि पुरस्कार समारोहों के चित्रों में अध्यापक कुर्सियों पर बैठे अधिकारियों के पीछे खड़े किये जाते हैं।

शिक्षकों के सम्मान के बारे में भी हमारी धारणा बहुत भ्रम-पूर्ण है। सारा दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण शिक्षकों के सम्मान को भी व्यक्तियों की दृष्टि से ही देखा जाता है। नेताओं और शासकों में प्रतिनिधि भावना का अभाव है। अतः शिक्षक के सम्मान के सम्बन्ध में

भी प्रतिनिधि भावना को अपनाना कठिन हो रहा है। यदि राजनीति और शासन में व्यक्ति का दर्प प्रमुख रहेगा, तो आत्म-विरोध के कारण व्यक्ति के रूप में शिक्षक का सम्मान एक उपचार मात्र बना रहेगा।

शिक्षक के व्यक्तिगत सम्मान की बात भ्रमपूर्ण है। विद्या के प्रतिनिधि के रूप में ही शिक्षक का सम्मान हो सकता है। विद्या राष्ट्र की विभूति है। शिक्षक का सम्मान वस्तुत: विद्या का सम्मान होगा और वह राष्ट्रीय भावना के अनुकूल ही सम्भव हो सकेगा। इसके लिये नेता, शासक और शिक्षक—तीनों को राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना होगा तथा अपने को मुख्यत: राष्ट्र का प्रतिनिधि मानना होगा। व्यक्तिगत दर्प की वर्तमान स्थिति में यह सम्भव न हो सकेगा। शिक्षक के केवल औपचारिक सम्मान से राष्ट्रीय रुजों का उपचार न हो सकेगा। सम्मान के योग्य बनने के लिए शिक्षक को भी व्यक्तिगत गौरव से ऊपर उठकर राष्ट्र और विद्या के प्रतिनिधित्व के भाव को अपनाना होगा। सत्ताधारी होने के नाते नेता और शासक स्वयं राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व का भाव अपनाकर शिक्षक को प्रेरित कर सकते हैं। राष्ट्रीयता और विद्या के प्रतिनिधि बनकर नेता, अधिकारी और शिक्षक अधिक गौरव प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इस प्रतिनिधि भाव के अभाव में व्यक्तिगत दर्प का ही सन्तोष शेष रह जाता है, जिसे छोड़ना कठिन है। इस विडम्बना-चक्र में ही हमारी राष्ट्रीय और शिक्षा सम्बन्धी समस्यायें उलझी हुई हैं।

६. बेचारा शिक्षक :

नेताओं और शासकों के दर्प ने शिक्षक को हीन बना दिया है। विद्या के प्रतिनिधित्व का गौरव भी उसे प्राप्य नहीं है। ऐसी स्थिति में वह निराश और निरीह बन गया है। वह शिक्षक के अपने कर्त्तव्य को निभाने में भी असमर्थ हो रहा है। अध्ययन और अध्यापन के प्रति उसमें उत्साह नहीं है। विद्या का सम्मान न होने के कारण विद्या के प्रति उसकी रुचि नहीं है। अध्यापन विद्या-दान है। विद्यार्थियों में प्रेरणा फूंकना भी शिक्षण का अंग है, किन्तु शिक्षक के पास आत्मा और विद्या की इतनी विभूति नहीं है कि वह अपने इस दायित्व को निभा सके। सत्ता प्राप्त करना तो अध्यापक रहकर उसके लिये सम्भव नहीं है। अध्यापक

का पद त्याग कर, मन्त्री बनने का साहस सब में नहीं है। पूंजीवादी व्यवसाय से बढ़ते हुए आर्थिक वैभव का आकर्षण उसे सम्मोहित करता है। पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षा-कार्य आदि के द्वारा वह आर्थिक वैभव का मार्ग खोजता है। विद्या से विमुख होकर वह अर्थ का आराधक बन गया है। विद्या-व्यसनी की अपेक्षा वह अर्थ व्यवसायी अधिक दिखाई देता है। इसमें पूर्णतः उसका दोष नहीं है। राजनीति और शासन में व्याप्त विपर्यय से पराजित होकर ही सरस्वती का साधक अर्थ का दास बना है।

७. सूक्ष्म छिद्रों में पलने वाले स्थूल अनर्थ :

हमारी शिक्षा के जिन सूक्ष्म छिद्रों का हमने ऊपर विवरण किया है, उसमें अनेक स्थूल अनर्थ पल रहे हैं। इन अनर्थों के प्रभाव हमारी सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली में दिखाई दे रहे हैं। विद्यार्थियों के विद्रोह में इन अनर्थों का सामूहिक प्रभाव फलित हो रहा है। यह विद्रोह शिक्षा के आरम्भिक स्रोतों की सहस्त्र धाराओं का ही पावस-प्लावन है। इन धाराओं में कुछ की यहाँ गणना की जा सकती है। प्रारम्भिक शिक्षा की दुर्बलतायें इस विप्लव धारा का आदि स्रोत हैं। उच्च शिक्षा में असमर्थ और असफल छात्र बाल-विद्यालयों के अध्यापक बनते हैं। इन विद्यालयों में स्वच्छ लेखन तथा शुद्ध-पठन भी नहीं सिखाया जाता। अध्यापक के लिये शासन के द्वारा अपनी कुण्ठाओं का प्रतिशोध अध्यापन से अधिक महत्वपूर्ण बन गया है।

आरम्भिक शिक्षा की दुर्बलताओं के कारण उच्च शिक्षा में कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों के कारण उच्च शिक्षा का स्तर गिरता है। शिक्षा की उद्देश्यहीनता तथा नीरसता के कारण विद्यार्थियों में अध्ययन के प्रति उत्साह नहीं रहता। जीविका से भी शिक्षा का अधिक सम्बन्ध नहीं है। अतः साधन-रूप में भी शिक्षा प्रेरित नहीं करती। सम्मान और वैभव से वंचित अध्यापक भी अध्यापन के प्रति उदासीन रहते हैं। उनके ज्ञान, रुचि और उत्साह प्रतिदिन घटते जाते हैं। भाषण की प्रणाली अध्यापकों को यांत्रिक और प्राणहीन बना रही है। उसके द्वारा केवल अध्यापक को बौद्धिक-मार्ग से व्यक्तिगत गौरव का वह सन्तोष मिलता है, जो हमारे समाज का सर्वोत्तम अभीष्ट बन गया है तथा जो अध्यापक के लिए सामान्यतः अन्य किसी मार्ग से

सुलभ नहीं है। वर्षों के अभ्यास से यह सन्तोष भी जड हो जाता है। फिर भी अध्यापक इसी पर जीता है। नेताओं के प्रतिनिधित्व हीन नेतृत्व का विष-फल अध्यापकों के इस तुच्छ नेतृत्व के बीजों में बिखर कर, देश में फैल रहा है। अध्यापकों की जड़ता कुछ विद्यार्थियों को जड़ बना देती है, किन्तु उनका सन्तोष कुछ विद्यार्थियों में असन्तोष जगाता है। ये विद्यार्थी ही विद्रोह के नेता बन रहे हैं। परीक्षा प्रणाली की व्यावसायिकता विद्रोह की इस दावानल में आँधी का काम कर रही है। वर्षों की पढ़ाई का मूल्यांकन तीन घन्टे के प्रश्न-पत्र में हो जाता है, जिसमें सोचने के लिये एक क्षण भी नहीं मिलता। तीन घन्टे में लिखे उत्तरों का न्याय और निर्णय मिनटों में ही हो जाता है। शिक्षा और परीक्षा में इससे भी अधम कोटि की जो व्यावसायिक प्रथायें चल रही हैं, वे उल्लेख के योग्य नहीं हैं। सत्ता की आंधी में अपने वस्त्रों को सम्भालने में तत्पर नेता दूसरों को निरावरण करना उचित नहीं समझते। किन्तु इस आंधी और उपेक्षा में राष्ट्रीय मूल्यों के कल्पवृक्ष उखड़ रहे हैं।

८. एक मात्र मार्ग :

इस प्रकार हमारी शिक्षा के सूक्ष्म छिद्रों में अनेक राष्ट्रीय विडम्बनायें पल रही हैं। राष्ट्र और शिक्षा के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपनाकर ही, इन विडम्बनाओं को रोका जा सकता है और राष्ट्र को उन्नति की दिशा में प्रेरित किया जा सकता है। सभ्यता के युग में शिक्षा ही राष्ट्र की उन्नति का मार्ग है। विद्या को राष्ट्रीयता का विधायक तथा राष्ट्रीयता का समानान्तर मूल्य मानने पर ही शिक्षा की फलदायक व्यवस्था सम्भव हो सकती है। राष्ट्र और विद्या को देवता मानकर ही हम उन्हें प्रतिष्ठित कर सकते हैं। इसके लिये हमें भक्त बनना होगा। प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्र और विद्या के सेवक बनकर ही हम राष्ट्र के निर्माता बन सकते हैं। इसके लिये नेता, अधिकारी और शिक्षक—तीनों को अपनी व्यक्तिगत महिमा का दम्भ छोड़ना होगा। राजनीति के सिंहासन, अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के रंग-मंच बन सकते हैं। किन्तु राष्ट्रीय व्यवस्था में वे राष्ट्र-देवता की स्थापना के पीठ होगें। शासन के कार्यालय सत्ता और वैभव के गढ़ नहीं, वरन् जनता की सेवा के सदन होंगे और हमारे विद्यालय नेताओं के स्वागत के क्षेत्र तथा शासन

की दया के पात्र और शिक्षक के सन्तोष के आधार न होकर राष्ट्र-निर्माण के तीर्थ होगें। राष्ट्र के प्रतिनिधि नेताओं और अधिकारियों द्वारा अभिनन्दित विद्या के प्रतिनिधि—'शिक्षक' विद्यार्थियों को राष्ट्र की विभूति मानकर, उन्हें अभ्युदय की दिशाओं में प्रेरित करेगें। नेताओं और अधिकारियों से सम्मानित शिक्षकों की समर्पित साधना ही एक गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण कर सकेगी।

१२–संस्कृति क्या है?

संस्कृति मनुष्य जीवन का एक ऐसा समृद्ध विकास है, जिसमें व्यवहार और रचना के अनेक रूप समाहित हो गए हैं। अतः 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में होता है। संस्कृति का निरूपण करने वाले ग्रन्थों में धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, काव्य, शिल्प आदि अनेक मानवीय कृतित्वों का निदर्शन रहता है। इन सबका अपना इतिहास है। सबके अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में सर्वत्र जीवन का कोई एक समान सिद्धान्त मिलना कठिन है। अतः मानवीय कृतित्व के जिन अनेक रूपों का वर्णन संस्कृति के अन्तर्गत किया जाता है, उनके आधार पर संस्कृति की कोई सामान्य परिभाषा बनाना कठिन है। धर्म के कुछ रूप अलौकिक और ईश्वरवादी हैं, तो कुछ में मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों को बहुत अधिक प्रश्रय मिला है। दर्शनों में कुछ भौतिक और प्राकृतिक जीवन का समर्थन करते हैं, तो कुछ इतने उत्कृष्ट अध्यात्म का संकेत करते हैं कि लौकिक जीवन उसकी तुलना में तुच्छ दिखाई देता है। साहित्य, कला, काव्य आदि के इतिहास में भी इसी प्रकार के विरोधी धरातलों का आधार मिलता है। प्रश्न यह है कि संस्कृति केवल मनुष्य की श्रद्धा, उसके विचार, कलात्मक रचना आदि का ही विकास है, अथवा संस्कृति का धारणा उन भावों पर अवलम्बित है, जो इनके विकास में साकार होते हैं।

संस्कृति के विवेचनों में प्रायः धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि का ही वर्णन किया जाता है, और उनके सभी रूपों को इस वर्णन में स्थान दिया जाता है। एक देश के ही दर्शन अथवा एक देश की ही कला में अनेक विरोधी धरातल मिलते हैं। संस्कृति के निरूपणों में इन सभी विरोधी धरातलों को समान स्थान दिया जाता है। बुद्धि का सन्यासवाद और अनेक मन्दिरों में मिलने वाली श्रृंगारपूर्ण कला दोनों ही संस्कृति के अन्तर्गत हैं। गीता का कठोर-कर्मयोग तथा अनेक काव्यों में मिलने वाला श्रृंगार और विलास दोनों ही संस्कृति में स्थान पाते हैं। संस्कृति के विवेचन में इस विरोध की चेतना स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है

मानों मनुष्य-जीवन के विकास और मानव चेतना की अभिव्यक्ति के सभी रूप संस्कृति की व्यापक कल्पना में सम्मिलित हैं। संस्कृति के विवेचनों में किसी एक सामान्य दृष्टिकोण से इन विरोधी रूपों की आलोचना भी नहीं मिलती। यदि वह मिलती है तो उसका आधार किसी एक सम्प्रदाय की धारणाओं में रहता है। सम्प्रदाय अनेक हे अतः ये धारणायें भी अनेक हो सकती हैं, ऐसी स्थिति में मनुष्य जीवन की विभूतियों और मनुष्य जीवन के सामान्य मूल्यों की दृष्टि से संस्कृति के सामान्य रूप का निर्धारण कठिन है।

क्या धर्म के सभी रूप संस्कृति के क्षेत्र में अधिकार पाने के अधिकारी है ? जिन धर्मों में मनुष्य की धार्मिक स्वतन्त्रता पर आघात किया गया है, क्या वे धर्म भी संस्कृति के गौरव को वस्तुतः बढ़ाते हैं ? धर्म के जिन रूपों में अत्याचारों और अनैतिकताओं को अवसर मिला, क्या वे भी संस्कृति के अलंकार हैं ? धर्म के जिन पाठों में देवता की आराधना के स्थान पर विलास की प्रच्छन्न साधना हुई, क्या वे भी संस्कृति के तीर्थ हैं ? चिन्तन प्रधान होने के कारण दर्शन में तत्व का निरपेक्ष विवेचन अधिक होता है। फिर भी कुछ दर्शनों में असम्भव वैराग्य, अद्भुत भ्रान्ति अथवा उग्र अतिचार का प्रतिपादन हुआ, क्या ये दर्शन भी संस्कृति के गौरव को बढ़ाते हैं ? कला और काव्य में सौन्दर्य की साधना की जाती है। किन्तु इस सौन्दर्य की कल्पना में अध्यात्म की पवित्र भावनाओं से लेकर शृंगार और विलास के अश्लीलतम रूप तक सम्मिलित है। क्या ये सब समान रूप से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अथवा वृद्धि करते है ? क्या इनमें सौन्दर्य का एक ही सामान्य रूप साकार हुआ है ? क्या धर्म केवल श्रद्धा का स्थापन और श्रद्धामय आचार है ? जिन रूपों में यह श्रद्धा साकार होती है उनका कोई महत्व है अथवा नहीं ? क्या दर्शन केवल निरपेक्ष चिन्तन है ? मानव जीवन पर दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रभाव का विवेचन दर्शन के चिन्तन का विषय है अथवा नहीं ? क्या दर्शनों का भी कोई दर्शन हो सकता है ? इसी प्रकार क्या कला केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है ? फिर इस सौन्दर्य का मानव जीवन से क्या सम्बन्ध ? क्या कला कला के लिए ही है, अथवा मानव जीवन का मंगल भी उसका उत्तरदायित्व है ? और उस मंगल का रूप क्या है ?

धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि के विविध और विरोधी रूपों के कारण इनसे सम्पन्न संस्कृति का रूप बड़ा जटिल हो जाता है। संस्कृति की कल्पना में इन विरोधी रूपों के सन्निविष्ट होने के कारण संस्कृति का रूप जटिल होने के साथ-साथ विरोधात्मक भी हो जाता है। किसी भी सामान्य कल्पना में परस्पर विरोधी तत्वों का सन्निधान कहाँ तक और किस प्रकार हो सकता है, यह कहना कठिन है। विरोधी तत्वों का सन्निधान सामान्य प्रत्यय की तार्किक धारणा के ही विरुद्ध है। अतः धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति आदि के सम्बन्ध में जहाँ हम सामान्य प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं, वहाँ हमें विरोधी रूपों के अन्तर्गत सामान्य तत्व खोजना होगा। तत्वों में प्रत्यक्ष विरोधी होने के कारण यह तत्व तत्व के रूप में न मिल कर रूप के रूप में ही अधिक मिलता है। इसीलिए दर्शन और कला में रूप को ही अधिकाधिक महत्व मिलता गया। आधुनिक दर्शन और कला में रूप की प्रधानता है। किन्तु केवल रूप को धर्म, दर्शन अथवा कला मानने पर जीवन से इनका सम्बन्ध छूट जाता है। जीवन इनका तत्व है। तत्व की उपेक्षा करके धर्म, दर्शन, कला आदि का जीवन में क्या महत्व होगा, यह समझना कठिन है। केवल रूप की साधना का भी जीवन में कुछ स्थान हो सकता है। किन्तु वह समस्त जीवन नहीं है। रूप-प्रधान बन कर धर्म, दर्शन, कला आदि जीवन के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। रूप की साधना में जीवन को उपेक्षित करके ये जीवन का क्या कल्याण कर सकते हैं ? अतः जीवन के तत्व की भूमिका में धर्म, दर्शन, कला आदि के सामान्य रूप की व्याख्या अपेक्षित है।

संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, कला आदि का ही वर्णन किया जाता है। यदि संस्कृति इन सबका ही समाहार अथवा संकलन है तो भी उसकी एक सामान्य कल्पना अभीष्ट है। रूप की दृष्टि यह सामान्य कल्पना धर्म, दर्शन, कला आदि के सामान्य रूपों का समवाय होगा। किन्तु जिस प्रकार धर्म, दर्शन, कला आदि की केवल रूपात्मक कल्पना पूर्ण नहीं है, उसी प्रकार संस्कृति की रूपात्मक कल्पना पूर्ण नहीं है। रूपात्मक कल्पना के सम्बन्ध में एक कठिनाई और है कि विभिन्न रूपों का समवाय संस्कृति के एक सामान्य प्रत्यय में सरलता से संभव भी नहीं है।

श्रद्धा, विचार और सौन्दर्य आदि के सामान्य रूपों की संगति भी कठिन है। उनका समवाय और भी कठिन होगा। अत: संस्कृति की रूपात्मक कल्पना कठिन ही है। इसीलिये जहां एक ओर संस्कृति के विवेचनों में धर्म, दर्शन, कला आदि का ही वर्णन अधिक किया जाता है। वहां संस्कृति के विचारकों ने प्राय: उसकी ऐसी ही परिभाषायें दी हैं जो जीवन के किसी सामान्य तत्व को समाहित करती हैं। यह सामान्य तत्व धर्म, दर्शन कला आदि के अनेक रूपों में साकार हो सकता है। किन्तु संस्कृति का सार यह तत्व नहीं है। धर्म, दर्शन, कला आदि के अनेक रूपों में वह सम्पन्न होता है और जीवन को समृद्ध बनाता है।

यदि जीवन का कोई सामान्य तत्व अथवा भाव संस्कृति का सार है तो यह स्पष्ट है कि संस्कृति धर्म, दर्शन, कला आदि का समाहार मात्र नहीं वरन् एक स्वतन्त्र साधना है। इस स्वतंत्र साधना का अपना रूप और तत्व है। धर्म, दर्शन, कला आदि का अपना रूप हो सकता है। अपने इस रूप में संस्कृति के इस सामान्य तत्व को साकार बनाकर वे संस्कृति के अनुरूप अंग बन सकते हैं। संस्कृति के इस तत्व को साकार बनाने वाले धर्म, दर्शन, कला आदि संस्कृति कहलाने के अधिकारी हैं। इनके अन्य रूपों को असांस्कृतिक कहना होगा। यह आवश्यक नहीं है कि धर्म, दर्शन, कला आदि के सभी रूप संस्कृति के तत्व के अनुरूप हो। अत: धर्म, दर्शन, कला आदि के सभी रूपों का संस्कृति के अन्तर्गत वर्णन करना उचित नहीं। कम से कम सभी रूपों को समान आदर और महत्व तो नहीं दिया जा सकता। संस्कृति के सामान्य तत्व की दृष्टि से धर्म, दर्शन, कला आदि के रूपों को परखना होगा। इस प्रकार संस्कृति इनके मूल्यांकन की कसौटी बन जायेगी और इनके विकास का लेखा मात्र नहीं रहेगी। यह कसौटी संस्कृति और असंस्कृति के क्षेत्रों का विभाजन करेगी। असंस्कृति के अन्तर्गत प्रकृति, कृति, विकृति आदि के अनेक रूप होंगे।

शब्द और भाव दोनों की दृष्टि से संस्कृति एक क्रियात्मक कल्पना है। कृति का अर्थ कर्म अथवा रचना है। क्रियात्मक रूपों में ही संस्कृति साकार होती है, धर्म श्रद्धामय आचार है। दर्शन भी गंभीर मानसिक क्रिया है। कला, काव्य आदि मन के रचनात्मक रूपों को आकार देते हैं। इस प्रकार संस्कृति के क्षेत्र में कृति की ही प्रधानता है। क्रिया जीवन

का ही रूप है। मनुष्य-जीवन मुख्यतः क्रियात्मक है। किन्तु मनुष्य जीवन की क्रियायें सब एक ही धरातल की नहीं है। सामान्यतः समस्त क्रिया को कृति कह सकते हैं। किन्तु कृति के प्रयोग में कला का भाव रहता है, अतः इसी क्रिया को कृति कहना उचित है, जिसका कर्ता मनुष्य को माना जाता है। जीवन और जगत की अनेक क्रियायें ऐसी हैं जिनमें मनुष्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है। मनुष्य उन क्रियाओं का कर्त्ता नहीं है। वे अपने आप संचालित होती हैं और मनुष्य के अधिकार में नहीं है। भूतों की गति, ऋतुओं का कर्म, शरीर की गति-विधि आदि ऐसी ही क्रियायें हैं, जिन्हें मनुष्य की कृति नहीं कहा जा सकता। इन्हें सामान्य प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अभिप्राय उन निसर्ग क्रियाओं से है जो अपने आप संचालित होती है और जिनमें मनुष्य का मौलिक अधिकार नहीं है। मनुष्य इन क्रियाओं में कुछ हस्तक्षेप अवश्य कर सकता है, किन्तु वह उनका संचालक नहीं है। उसके अधिकार और हस्तक्षेप के बिना ही ये क्रियायें अपने मूल रूप में अपने आप संचालित होती हैं। प्रायः मनुष्य भी अपने को इन क्रियाओं के सम्मुख विवश पाता है। इन क्रियाओं के मौलिक रूप को प्रकृति कहना उचित है।

प्रकृति की स्वतंत्र और नैसिर्गिक क्रियाओं से भिन्न उन समस्त क्रियाओं को हम कृति कह सकते हैं जो मनुष्य के कर्त्तव्य से उत्पन्न होती है। मनुष्य का अधिकार, हस्तक्षेप और कर्त्तव्य इन क्रियाओं का विधान करते हैं। मनुष्य की यह कृति कई प्रकार की होती है। वह प्रकृति के अनुकूल हो सकती है, जैसा कि प्रायः पशुओं में होती है। जो प्रकृति के धर्मों में प्राप्त व्यवस्था और सामंजस्य का पोषण करती है वह कृति प्रकृति के अनुकूल है। इसका उदाहरण आहार, विहार आदि की वे प्राचीन मर्यादायें हैं जो प्रकृति के धर्मों को स्वस्थ और समर्थ बनाती हैं। किन्तु मनुष्य की सभी कृतियों का प्रकृति के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। मनुष्य ऐसी भी क्रियाओं में समर्थ है जो प्रकृति के धर्मों के प्रतिकूल हो तथा प्रकृति की व्यवस्था और उसके धर्मों के सामंजस्य में विक्षेप डालती है। आहार विहार आदि के अतिचार इसके उदाहरण हैं। प्रकृति के अनुकूल क्रियाओं को हम 'अभिकृति' और उसके प्रतिकूल क्रियाओं को हम 'विकृति' कह सकते हैं। ये दोनों ही मनुष्य की कृति के रूप हैं जिसमें मनुष्य का विशेष अधिकार है।

मनुष्य की स्वतंत्र कृति का एक रूप और है, जिसे हम सामान्यत: अध्यात्म कह सकते हैं। अध्यात्म मनुष्य की सर्वाधिक स्वतंत्रता का क्षेत्र है। अध्यात्म का लोक प्रकृति से अतीत है। वह चेतना का लोक है। जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं की चेतना प्रकृति के विषयों और धर्मों से प्रभावित होती है। स्वरूप के स्वतत्र होते हुए भी चेतना इन रूपों में प्रकृति के पराधीन होती है। अध्यात्म का लोक चेतना की स्वतंत्रता का क्षेत्र है। वह प्रकृति से अतीत है। उसमें चेतना अपने स्वतंत्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। अध्यात्म की साधना इस स्वतंत्र चेतना की उत्तरोत्तर स्थितियों के रूप में होती है। अध्यात्म की गति जीवन की सहज गति नहीं है। वह मनुष्य की स्वतंत्र चेतना के कृतित्व की प्रगति है। जीवन की सहज गति प्रकृति कहलाती है। प्रकृति की अनुकूल गति से मनुष्य उसका पोषण करता है। प्रतिकूल गति से उसमें विकार उत्पन्न होते हैं। अध्यात्म न प्रकृति के अनुकूल है और न उसके प्रतिकूल है, वरन् वह प्रकृति से अतीत एक स्वच्छन्द लोक है। अध्यात्म की गति मनुष्य की चेतना का स्वच्छन्द अध्यवसाय है। अध्यात्मवादी प्रकृति की प्रवृत्तियों और वासनाओं को अध्यात्म की वाधा के रूप में देखते हैं, फिर भी अध्यात्म की कल्पना एक प्रकृति से स्वतंत्र स्थिति के रूप में करते हैं। इसीलिये अध्यात्म में सन्यास और वैराग्य की प्रधानता मिलती है।

मनुष्य के जीवन का सहज और स्वाभाविक रूप प्राकृतिक है। नवजात शिशु में कृतित्व की सामर्थ्य अत्यन्त अल्प होती है। उसके जीवन में प्रकृति ही प्रधान होती है। यह प्रकृति सहज क्रियात्मक होती है। प्रकृति से जिन कृतियों की प्रेरणा वालक को मिलती है, वे मुख्यत: प्रकृति के अनुकूल ही होती हैं। वालक की सहज प्रकृति, प्रकृति के पोषण और सम्वन्ध की ओर ही होती है। आयु के विकास के साथ-साथ वालक के कर्तृत्व की सामर्थ्य वढ़ती है। इस सामर्थ्य का प्रदर्शन वह प्रकृति के प्रतिकूल कर्त्तव्य में भी करता है। यह प्रतिकूलता विकृतियों को जन्म देती है। यौवन में मनुष्य की प्रकृति परिपक्व होती है, और उसके सहज सुख का चरम उत्कर्ष होता है। प्रकृति की प्रवृत्ति भोग की ओर है। यौवन की परिपक्व प्रकृति में भोग की आकांक्षा अधिक होती है; भोग के सुख का अनुभव भी तीव्र होता है। किन्तु प्रकृति के साथ ही साथ यौवन में

मनुष्य की बुद्धि भी परिपक्व होती है। चेतना की समृद्धि चिन्तन और कल्पना के क्षितिज खोलती है। चिन्तन दर्शन को जन्म देता है तथा कल्पना धर्म और कला का विधान करती है। यौवन के उत्कर्ष के बाद प्रकृति का वेग मन्द होने लगता है और चेतना के अवलम्ब धर्म दर्शन आदि के रूप में दृढ़ होने लगते हैं। प्रकृति के मन्द होने पर मनुष्य उससे कुछ उदास होकर एक स्वतंत्र और समृद्ध अध्यात्म लोक की रचना करता है। प्रकृति की आकांक्षाओं से पूर्णतः मुक्त होना तो जीवन में सम्भव नहीं है, फिर भी चेतना के भाव में वासना से वीतराग होकर मनुष्य अध्यात्म के स्वतंत्र लोक में आनन्द की साधना करता है। प्रकृति का सुख सम्वेदनात्मक और अल्प अस्थाई है। अध्यात्म के आनन्द को स्वतंत्र और स्थायी माना जाता है।

कल्पना और बुद्धि मनुष्य की स्वतंत्र शक्तियाँ हैं। इसका अर्थ यह है कि वे प्रकृति से शासित नहीं हैं। इनके द्वारा मनुष्य प्रकृति के प्रतिकूल आचरण भी कर सकता है, और करता है। अध्यात्म की साधना में तप और संयम के रूप में प्रकृति का प्रतिरोध इसका एक उदाहरण है। अनेक उपायों के द्वारा प्रकृति की अतिरंजित उत्तेजना और भोग का अतिचार इसका दूसरा उदाहरण है। कुछ लोग तप और संयम को भी विकृति मानते हैं। किन्तु भोग का अतिचार विकृति के रूप में अधिक मान्य है। विकृति के और भी अनेक रूप हो सकते हैं। मनोविज्ञान में विकृति के मानसिक रूप विदित है। प्रकृति की सहज गति ही भ्रष्ट होकर विकृति बन जाती है। प्रकृति का भोग सहज सुखमय है। विकृति के कुछ रूपों में भोग और सुख की अतिरंजना दिखाई देती है। किन्तु अन्ततः उससे दुःख, और भोग की असमर्थता उत्पन्न होती है। प्रकृति के सहज भोग में एक सुखमय तृप्ति और एक सहज विरति है। उसकी एक नैसर्गिक मर्यादा भी है। विकृति का फल अतृप्ति है और तृष्णा है। वह आकांक्षाओं को अतिरंजित कर दुःख का कारण बनती है।

अध्यात्म प्रकृति से अतीत एक स्वतंत्र आनन्द की साधना है। उसमें मनुष्य की चेतना का स्वच्छन्द अध्यवसाय ही प्रधान है। मनुष्य की अधिकांश जीवन प्राकृतिक है। प्रकृति की प्रेरणा से ही वह प्रकृति का अनुगमन करता है। अतिचारों के द्वारा जीवन में विकृति भी उत्पन्न होती

है। अध्यात्म की दिशा में भी मनुष्य का अध्यवसाय प्रचुर है। यद्यपि प्रकृति की प्रेरणायें और विकृति के प्रभाव उसे प्रायः खंडित करते रहते हैं। इन तीनों ही रूपों में मनुष्य का जीवन प्रकृति और कृति का संगम है। प्रकृति जीवन की निसर्ग से प्राप्त गति है। प्रकृति का पोषण करने वाले मानवीय कृतित्व को अभिकृति कह सकते हैं। प्रकृति के सहज सुख में विक्षेप करने वाला कृतित्व विकृति है। प्रकृति के आधारों से स्वतंत्र चेतना का अध्यवसाय अध्यात्म है। अध्यात्म मानवीय कृतित्व का सर्वोत्तम रूप है। उसमें मनुष्य की स्वतंत्रता और उसके कृतित्व का चरम उत्कर्ष होता है। अध्यात्म का लोक प्रकृति से स्वतंत्र माना जाता है। यद्यपि प्रकृति के आधार के बिना अध्यात्म की साधना संभव नहीं, फिर भी अध्यात्म के अनुभव और आनन्द को अपने स्वरूप में स्वतंत्र मान सकते हैं। अध्यात्म में चेतना का भाव प्रकृति के नियमों से स्वतंत्र होकर अलौकिक आनन्द को प्रकट करता है। प्रकृति से अतीत होने के कारण हम अध्यात्म को अतिकृति कह सकते हैं। मनुष्य के जीवन में प्राकृतिक रूपों के साथ-साथ कृति के इन तीनों ही रूपों का संगम है।

किन्तु कृति के ये तीनों रूप प्रकृति के साथ तथा परस्पर समंजसित नहीं हैं। प्रकृति और अभिकृति का सहज सामंजस्य है। किन्तु विकृति का तीनों के साथ विरोध है। अध्यात्म का स्वरूप स्वतंत्र है किन्तु प्रकृति, अभिकृति और विकृति तीनों ही उसे खंडित करते हैं। अध्यात्मवादी प्रायः अध्यात्म को सबसे अतीत और स्वतंत्र मानते रहे हैं। किन्तु प्रत्यक्ष साधना में अध्यात्म का यह रूप बहुत कम प्रकट हो सकता है। अध्यात्म चेतना की संगति है। यह धर्म, दर्शन और साधना के अतिरिक्त कला काव्य आदि के रूप में भी प्रकट होती है। कला, काव्य आदि में प्रकृति के उपकरणों का ग्रहण अधिक स्पष्ट है। फिर भी इनमें सौन्दर्य की साधना का रूप चेतना की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। अतः इन्हें अध्यात्मिक कहना अनुचित नहीं है। कला और काव्य का सुख प्रकृति की सम्वेदना के समान अल्प स्थायी नहीं है। वह अध्यात्म के आनन्द के अधिक निकट है। वह संवेदना के सुख से अधिक स्थायी और व्यापक है।

प्रकृति और अध्यात्म दोनों के विपरीत होने के कारण विकृति वांछनीय नहीं है। फिर भी मनुष्य की सभ्यता का यह एक अप्रिय सत्य

है, कि उसमें विकृति का ही अधिक विस्तार हुआ है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से सभ्यता में विकृति ही बढ़ती गयी है। यद्यपि विकृत्ति का विस्तार करके मनुष्य ने अपने को विवश बना लिया है, फिर भी उसकी प्रवृति प्रकृति के सुख की ओर ही है, और एक प्रकार से विकृति भी प्रकृति का ही स्वरूप से भ्रष्ट रूप है। सामंजस्य और सुख से रहित होने पर प्रकृति ही विकृति बन जाती है। प्रकृति के अनुकूल होने के कारण हम अभिकृति को भी प्रकृति के अन्तर्गत ही मान सकते हैं। अभिकृति मनुष्य के कृतित्व का वह रूप है, जो प्रकृति के अनुकूल होने के कारण प्रकृति के सुख और सामर्थ्य का सम्बन्ध करता है। इन सबके सम्बन्ध में पृथक विवेचन भी अपेक्षित है। किन्तु अध्यात्म की तुलना में हम अभिकृति और विकृति को प्रकृति के आधार के अन्तर्गत ही मान सकते हैं। अध्यात्म मनुष्य का कृतित्व अवश्य है, किन्तु वह प्रकृति से अतीत माना जाता है। अतः उसे अतिकृति कहना होगा। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में प्रकृति और अध्यात्म दो प्रमुख तत्व दिखाई देते हैं। सभ्यता की व्यवस्था में प्रकृति का ही विस्तार अधिक हुआ है। संस्कृति के अन्तर्गत अध्यात्म अथवा चेतना की समृद्धि को अधिक महत्व दिया जाता है। धर्म और दर्शन में तो अध्यात्म ही प्रधान है। प्रकृति का इनमें कोई स्थान नहीं है। चाहे मनुष्य की विवशता के कारण प्रकृति इनको प्रभावित करती रहती है। कला, काव्य आदि के रूप अधिक संदिग्ध हैं। कुछ विचारक उनमें सम्वेदना को प्रधान मानते हैं। दूसरी ओर कुछ विचारक कला और काव्य के सौन्दर्य को अध्यात्म के अलौकिक आनन्द के समान मानते रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में कलाओं में सम्वेदनाओं का आधार मिलता है, किन्तु अध्यात्मवादी विचारक कलात्मक अनुभूति को अलौकिक और आनन्दमय मानते हैं। कुछ मनोविज्ञान कला को सम्वेदना और वासना का उन्नयन मानते हैं।

इस प्रकार हम जीवन में प्रकृति और कृति का संगम पाते हैं। कृति का सर्वोत्तम रूप अध्यात्म है जो प्रकृति से अतीत होने के कारण अतिकृति है। प्रकृति और उससे सम्बन्ध रखने वाली अभिकृति तथा विकृति का आधार व्यक्तित्व की ईकाई है। संवेदना और वासना इनके मुख्य रूप हैं। [इनके सुख-दुःख व्यक्तित्व की इकाई में ही सम्पन्न होते हैं।

इसके विपरीत अध्यात्म प्रकृति की इकाई आदि के नियमों से अतीत है। अध्यात्म के आनन्द में व्यक्तित्व विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से प्रकृति और अध्यात्म का विरोध स्पष्ट है। अध्यात्मवादी दर्शनों में इस विरोध के कारण ही संन्यास और वैराग्य पर जोर दिया गया है, तथा प्राकृतिक वासनाओं के दमन की शिक्षा दी गई। यह अलौकिक अध्यात्म मनुष्य का लक्ष्य रहा है। किन्तु दूसरी ओर प्रकृति की सहज प्रेरणा उसे विवश करती रही है। अध्यात्म की साधना करते हुए भी प्रकृति के अवलम्ब पर ही उसका जीवन और साधना सम्भव रही है। प्रकृति की प्रवलता का प्रमाण यह है कि अध्यात्म ने भी प्रकृति के माध्यम का अवलम्ब ग्रहण किया। भक्ति-दर्शनों में यह प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलता है। शृंगार प्रकृति का सबसे मनोहर रूप है। धर्म और भक्ति में शृंगार के प्रतीक वहुत मिलते है। प्राय: धर्म और भक्ति के सम्प्रदायों में प्रकृति का यह अवलम्ब विकृति और पतन का कारण हुआ है। अलौकिक अध्यात्म की साधना यदि सम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। वह एक दुर्लभ आदर्श है। धार्मिक श्रद्धा को यह जानकर वड़ा आघात होगा कि प्राय: धर्म, भक्ति और अध्यात्म की साधना करने वालों में प्रकृति की वासना साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप में मिलती है। सम्भवत: प्रकृति अजेय है। धर्म और अध्यात्म की भाँति काव्य के रस को भी अलौकिक मानने वाले अधिकांश काव्य में भी प्रकृति की, विशेषत: शृंगार की, प्रधानता है।

प्रकृति स्वार्थमय अवश्य है, किन्तु उसका स्वरूप आवश्यक रूप से दोषपूर्ण नहीं है। प्रकृति के स्वार्थ की एक सहज मर्यादा है। इस मर्यादा के भीतर भी मनुष्य में संयम की वहुत शक्ति है। यह संयम प्रकृति के दोष को और कम करता है। प्रकृति के अतिचार का मूल्य प्रकृति में नहीं, वरन् मनुष्य की वुद्धि और कल्पना में है। मन की कल्पना मनुष्य की वासना का विजृम्भण करती है, और वुद्धि अतिचार के मार्ग वनाती है। यह अतिचार प्रकृति को विकृत वनाता है। अध्यात्म का दमन भी प्रकृति को जीतने की अपेक्षा उसे विकृत करने में ही सहायक हुआ। प्रकृति का स्वरूप सभ्यता और कला में वहुत कम मिलता है। दोनों में मिलने वाली अतिरंजित वासना विकृति का ही लक्षण है। सभ्यता और

कला में प्रकृति को जीतने की अपेक्षा प्रकृति के स्थापन की समस्या अधिक प्रबल है। इसका मार्ग अध्यात्म की अतिकृति नहीं, वरन् अभिकृति है। अभिकृति जीवन की प्रकृति के अनुकूल और उससे समंजसित समृद्धि है।

प्रकृति की तुलना में संस्कृति भी मनुष्य की कृति का ही रूप है। संस्कृति कृति का वह भाव है जो जीवन और उसकी रचनाओं को समभाव अथवा सम्भावन से अंचित करता है। कृति के अन्य रूपों की भांति संस्कृति भी मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृव्य का फल है। सामान्यतः संस्कृति के विवेचनों में धर्म, दर्शनों, कला आदि को अधिक महत्व दिया जाता है। इनमें प्रकृति और अध्यात्म दोनों ही सम्मिलित हैं। किन्तु इस सम्मिलित रूप में दोनों का संकर अधिक है। प्रकृति और अध्यात्म का सामंजस्य और समन्वय मिलना कठिन है। इसका कारण यह है कि प्रकृति को महत्व देने वाले अध्यात्म के मर्म का स्पर्श बहुत कम करते हैं, और अध्यात्म को मानने वाले प्रकृति की उपेक्षा करते हैं। अध्यात्म की उपेक्षा प्रकृति की अतिरंजना का कारण बनती है। प्रकृति की उपेक्षा अध्यात्म की भ्रान्ति है। प्रकृति की उपेक्षा करके अध्यात्म प्रायः प्रकृति की विडम्बना से भ्रष्ट हुआ है। इतना ही नहीं है कि प्रकृति की वासनायें अध्यात्म के साधकों को स्खलित करती रहीं हैं वरन् प्रकृति की उपेक्षा करते हुए भी प्रकृति का स्वार्थ अध्यात्म की साधना को निष्फल बनाता रहा है। प्रायः अध्यात्म की साधना एकान्त रही है। इस एकान्त साधना में प्रच्छन्न रूप से मनुष्य के स्वार्थ की वासनायें पलती रही हैं। इसीलिए अध्यात्म के साधकों में प्रायः प्राकृतिक स्वार्थों की वासना साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र रूप में मिलती है। अस्तु प्रकृति की उपेक्षा करने वाला अध्यात्म स्वयं प्रकृति के स्वार्थ के एक अतिरंजित रूप से पराभूत होता रहा है। अध्यात्म की असफलता का यही कारण है।

जीवन के जिन रूपों में मनुष्य का कृतित्व दिखाई देता है, उनमें अभिकृति ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ विकृति भी बढ़ती गयी है। जिसे अध्यात्म कहा जाता है, वह जीवन की अपेक्षा साहित्य और दर्शन में अधिक मिलता है। तात्पर्य यह है कि वह व्यवहार की अपेक्षा कल्पना और विचार में ही अधिक स्पष्ट रूप से

व्यक्त होता है। दर्शन और साहित्य भी जीवन का कृतित्व है लेकिन वह जीवन का साक्षात् और सजीव रूप नहीं है और यदि है भी तो उसका एक अंश मात्र है। जीवन का अधिक सजीव और अधिक व्यापक रूप साक्षात् और सजीव व्यवहार है। संस्कृति के आचार्य प्रायः जीवन के इस सजीव कृतित्व की उपेक्षा करते आये हैं। व्यवहार के रूप में होने के कारण यह सजीव कृतित्व वर्तमान में ही रहता है। इसकी परम्परा बन सकती है किन्तु इतिहास के रूप में इसका लेखा इसकी सजीवता को भंग कर देता है। साहित्य और कला में कुछ संजीवता का अंश रहता है। इसी कारण संस्कृति में साहित्य और कला का महत्व है। साहित्य और कला में सौन्दर्य की साधना की जाती है। सौन्दर्य को एक आध्यात्मिक मूल्य मानते हैं। कुछ के अनुसार प्रकृति की संवेदना इसका आधार हैं। कुछ इसे अलौकिक आध्यात्मिक अनुभूति मानते हैं। किन्तु प्रायः सभी विचारक व्यक्ति को सौन्दर्य की अनुभूति का अधिष्ठान मानने में एक मत हैं। अध्यात्म की भांति सौन्दर्य की साधना भी व्यक्तिगत रही है। इसीलिये अध्यात्मवादियों के समान ही जहां सभी कलाकार लोक के दुःखों का गान करते हैं, वहां उन दुःखों को दूर करने में उनकी व्यावहारिक चेष्टा बहुत कम रही है। विचार और कल्पना की दृष्टि से साहित्य और कला भी कृतित्व है। किन्तु वह केवल मानसिक कृतित्व है, व्यावहारिक कृतित्व नहीं। शिल्प आदि का कृतित्व भी इसी कोटि का है। संस्कृति के निरूपण में इसी मानसिक कृतित्व की प्रधानता है। सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से यह व्यावहारिक कृतित्व नहीं है।

विचार का प्रश्न यह है कि संस्कृति का भाव क्या है और उसमें वस्तुतः कृतित्व का कौनसा रूप प्रधान है ? जहां तक प्रकृति का सम्बन्ध है वह किसी न किसी रूप में अनिवार्य है। मनुष्य का कृतित्व बहुत थोड़ी सीमा तक प्रकृति के रूप और दिशा में हस्तक्षेप कर सकता है। अभिकृति के द्वारा मनुष्य निसर्ग प्रकृति को ही अधिक स्वस्थ और समृद्ध बनाता है। वस्तुतः अभिकृति मनुष्य के कृतित्व का वह रूप है जिसके द्वारा वह प्रकृति की प्रवृत्तियों का स्वस्थ गति से पोषण करता है। विकृति में प्रकृति अपने निसर्ग रूप और सहज गति से भ्रष्ट होकर रोग का रूप धारण कर लेती है। शारीरिक विकृति से शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं, जो जीवन

को दूभर बनाते हैं। मानसिक विकृतियों से मानसिक सन्तुलन और शान्ति भंग होती है। विकृति के असन्तुलन का रूप यह है कि वह किसी ओर से जीवन को उदासीन बनाती है, तो दूसरी दिशा में प्रकृति की प्रवृतियों को उग्र बनाती है। शारीरिक सेवा और सुख की कामना तथा मानसिक वासनाओं के रूप विकृति से अधिक उग्र होते हैं। अध्यात्म का लक्ष्य प्रकृति के उक्त तीनों रूपों से अतीत है। किन्तु प्रकृति का अतिक्रमण जीवन में असंभव है। इसीलिये युगों से अध्यात्म का प्रचार होते हुए भी अध्यात्म के साधक और साधारण लोग दोनों समान रूप से प्रकृति का अवलम्ब लेते रहे हैं। साधकों की प्राकृतिक आकांक्षायें वस्तुत: साधारण लोगों से भिन्न अथवा कम नहीं रहीं हैं। यह आश्चर्य की किन्तु यथार्थ बात है कि अध्यात्म का दंभ भरने वालों में प्रकृति का अनुराग साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। एकान्त साधना के कारण साधकों का अहंकार और तीव्र हो जाता है और उसके साथ प्रकृति की वासनायें भी तीव्र हो जाती हैं। साधारण लोगों का जीवन दूसरों में अधिक बँटा रहता हैं। अत: उनकी प्राकृतिक आकाक्षायें सामाजिक मर्यादाओं से सहज सीमित हो जाती हैं।

संस्कृति मनुष्य के कृतित्व का सम्यक् रूप है। जहाँ तक मनुष्य का कृतित्व स्वार्थमय है, वहां तक वह प्रकृति के ही अनुरूप है। ज्ञान, साधना, उपासना आदि अनेक बौद्धिक और आध्यात्मिक विधियां स्वार्थमयी प्रतीत होती हैं, क्योंकि उनका फल अपने ही लिये होता है। धर्म और अध्यात्म परार्थ की दुहाई बहुत देते हैं। किन्तु उनके व्यावहारिक रूप में परार्थ का अंश बहुत कम दिखाई देता है। अध्यात्म जिस व्यापक आत्मा को मानता है, उसका केन्द्र साधक के व्यक्तित्व में ही रहता है। दूसरों के व्यक्तित्व में उस आत्मा की विभूति का अनुभव साधकों को बहुत कम होता है। इस अनुभव के होने पर साधक का जीवन स्वार्थ के अनुरोध से रहित तथा दूसरों के प्रति प्रेम से ओत-प्रोत हो जायेगा। ऐसी साधना की अभिव्यक्ति दूसरों की सक्रिय और सचेष्ट सेवा में होगी। इस सेवा का मार्ग बहुत कम साधकों ने अपनाया है। अधिकांश साधक व्यक्तिगत साधना, धर्मोपदेश, भजन और कीर्तन में ही लीन रहे हैं। सामाजिक दृष्टि से ये सभी कार्य निष्फल हैं। अस्तु जिस धर्म और अध्यात्म को संस्कृति

के इतिहास में बहुत महत्व दिया जाता है। वह न प्रकृति का अतिक्रमण कर पाता है और न परार्थ की साधना में सफल होता है।

अध्यात्म के अतिरिक्त कला, काव्य, शिल्प आदि का भी संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रचलित धारणा में तो नृत्य, संगीत, शिल्प आदि को ही संस्कृति समझा जाता है। सांस्कृतिक कार्य-क्रम के नाम पर आजकल नृत्य, गान, नाटक आदि का ही आयोजन होता है। शास्त्रीय परम्परा में एक अलौकिक आनन्द को इन सबका लक्ष्य माना गया है। समस्त काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र व्यक्ति को ही इस आनन्द का अधिष्ठान मानता है। केवल व्यक्ति में आश्रित होने पर यह आनन्द प्रकृति के स्वार्थमय सुख से मूलतः भिन्न नहीं हैं। अधिकांश कलाओं के माध्यम प्राकृतिक होते हैं। अतः प्राकृतिक संवेदनाओं का सुख भी कलाओं के सौन्दर्य में अनुस्यूत रहता है। यह कहना अनुचित न होगा कि कलाओं के शैली-सौन्दर्य का अनुभव कुछ विद्वानों को ही होता है। साधारण लोग कलाओं के प्रदर्शन में प्राकृतिक सम्वेदनाओं के सुख से ही आकर्षित होते हैं। शास्त्रीय कलाओं का रूप प्राकृतिक सम्वेदना और मानसिक अनुभूति दोनों ही दृष्टियों से व्यक्तिगत होने के कारण अध्यात्म की भाँति ही प्रकृति के अत्यन्त निकट है। कलाओं में जिस सौन्दर्य की साधना की जाती है, उनमें प्राकृतिक संवेदना और शैली की रूप-व्यवस्था तो स्पष्ट है। एक व्यक्तिगत और स्वार्थमय तथा दूसरी रूपात्मक होने के कारण व्यक्ति निरपेक्ष है। व्यक्तिगत और प्राकृतिक सम्वेदना तो प्रकृति का ही रूप है। व्यक्ति से निरपेक्ष-रूप व्यवस्था में कृतित्व का कौशल है, जिसका अपने आप में स्वतन्त्र महत्व हैं। किन्तु व्यक्तियों के जीवन में इसका कुछ सम्पर्क होने पर ही ये कलायें जीवन की विभूति बन सकती हैं। यह सम्पर्क न रहने के कारण ही कलायें लोक-जीवन से दूर होती जा रही हैं, और लोक-जीवन कला से दूर होता जा रहा है। लोक-कलाओं के रूप में कला जीवन के अधिक निकट थी क्योंकि वह व्यक्ति का कौशल न होकर लोक समूह का उत्सव थी। कला का कुछ अंश लोक जीवन के उपकरणों में भी अन्वित हो गया है। सौन्दर्य के समन्वय से इन प्राकृतिक उपकरणों में उपयोगिता के साथ साथ एक अतिरिक्त सौन्दर्य और आनन्द का उद्भव हुआ है। फिर भी कलाओं के

रूपों और माध्यमों में प्रकृति के व्यक्तिगत सुख और संवेदना के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व को खोज सकना बहुत कठिन है।

प्रकृति के व्यक्तिगत सुख और सम्वेदना के अतिरिक्त दो ही तत्वों की कल्पना की जा सकती है। ये दोनों ही तत्व चिन्मय होंगे, क्योंकि केवल चेतना ही प्रकृति से अतीत है। चेतना की अनुभूति भी व्यक्तिगत होती है। फिर भी इसमें व्यक्तित्व की सीमा का अतिक्रमण करने की शक्ति है। बुद्धि अथवा ज्ञान के रूप में वह व्यक्तित्व से निरपेक्ष हो जाती है। कल्पना अथवा भाव के रूप में वह दूसरों के व्यक्तित्व से आत्मीयता स्थापित करती है। इसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। बुद्धि अथवा ज्ञान की निरपेक्षता अन्ततः दूसरों के ही व्यक्तित्व की उपेक्षा में परिणित होती है, क्योंकि निरपेक्ष ज्ञान की साधना करते हुए भी मनुष्य अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रकृति की प्रेरणा उसे अपने व्यक्तित्व का आदर करने के लिए विवश करती है। ज्ञान की सचेतनता के कारण साधकों का स्वार्थ और अहंकार अधिक व्रती हो जाता है। अतः निरपेक्ष साधना स्वार्थमय अथवा उदासीन हो जाती है। संस्कृति में इसे बहुत महत्व दिया जाता है। किन्तु इसका सम्यक् भाव अपने रूप के विकास में ही है। लोक के लिए इसका हित और सौन्दर्य जिस समृद्धि ज्ञान पर आश्रित है, वह साधारण जनों के लिए सम्भव नहीं है।

व्यक्तित्व के सुख और स्वार्थ अतीत के चिन्मय साधना का दूसरा रूप कल्पना और भावना पर अवलम्बित है, जिसमें हम अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर दूसरों के साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं। कलाओं में साधना के इस रूप का आधार बहुत रहता है। यद्यपि कलाकार और कलाशास्त्री दोनों ही कला में इसके महत्व को स्पष्ट रूप से नहीं समझ सके हैं। धर्म और अध्यात्म का भी यही सार है। यह समात्मभाव ही कृतित्व का सम्यक रूप है। अतः यही संस्कृति का मूल तत्व है। इसमें मनुष्य की कृति को समता और सन्तुलन का गौरव मिलता है। दो मन मानों गंगा यमुना की भाँति मिलकर एक हो जाते हैं। मनुष्य की चेतना में कुछ ऐसी विलक्षण शक्ति है कि प्रकृति की स्वार्थमय सम्वेदना, ज्ञान की निरपेक्ष साधना और समात्मभाव तीनों में उसकी गति सम्भव

है। इनमें चेतना की गति का तीसरा चरण ही संस्कृति का चरण है। इसमें मनुष्य की भावना स्वार्थ की सीमा से उठकर परार्थ की ओर अभिमुख होती है। इसे हम प्रकृति और अध्यात्म का संगम कह सकते हैं। किन्तु यह संगम प्रकृति के स्वार्थ और अध्यात्म की निरपेक्षता दोनों से भिन्न है। समात्मभाव का संगम प्रकृति के अन्तर्गत प्रवाह की सहज मर्यादा बन जाता है। दूसरी ओर अध्यात्म की निरपेक्षता परार्थ भाव से सरल होती है। समस्त अतिचारों का मूल प्रकृति के स्वार्थ की अतिरंजना और दूसरों के व्यक्तित्व की उपेक्षा में है। अतः प्रकृति और अध्यात्म दोनों में ही अतिचार सम्भव रहे हैं। इसी कारण धर्म सम्प्रदायों में प्रकृति और अध्यात्म का अद्भुत संगम रहा है, तथा धर्म और अध्यात्म की छाया में अनेक रूपों में अतिचार पलते रहे हैं। इसी कारण अलौकिक आनन्द का दम्भ भरने वाले कला और काव्य के अंचल में अतिरंजित वासनायें पलती रही हैं।

अस्तु कृतित्व का सम्यक रूप समात्मभाव में ही है। यही संस्कृति का मूल तत्व है। मूलतः यह समात्मभाव चेतना का भाव है, जो न प्रकृति के समान स्वार्थमय है और न ज्ञान अथवा अध्यात्म की भाँति निरपेक्ष। किन्तु साथ ही प्रकृति के सहज और स्वस्थ रूप से इसका कोई विरोध नहीं है। यह अध्यात्म की भाँति प्रकृति के अतिक्रमण और उसकी उपेक्षा का दुःसाहस नहीं करता। इस प्रकार से प्रकृति के उपकरणों में ही यह समात्मभाव सम्पन्न होता है। प्रकृति के उपकरण इसके माध्यम अथवा निमित्त बन जाते हैं। किन्तु ये निमित्त मात्र होते हैं। क्योंकि अन्ततः स्वार्थ प्रकृति की सीमा है। लघुतम निमित्ति यथेष्ट परिमाण में समात्मभाव के साधन बन सकते हैं। यह समात्मभाव ही संस्कृति और सौन्दर्य का मूल है। संस्कृति और लोककला में अनेक व्यक्तियों के सहयोग के कारण इस समात्मभाव की भूमि में ही सौन्दर्य सम्पन्न होता है। इसलिए उनमें लोक की सहज रुचि थी। आज सभ्यता में एकान्त बढ़ता जा रहा है। अपार जन समूह में रहते हुए भी मनुष्य मन से अकेला है। इसीलिए प्रकृति का अनुराग बढ़ रहा है, और कलात्मक रुचि कम हो रही है। प्रकृति और अध्यात्म दोनों की संगति होने के साथ-साथ समात्मभाव विकृति का रोधक और उपचार भी है। समात्म-

भाव की कमी के कारण ही स्वार्थमय किन्तु शून्य आधुनिक जीवन में विकृतियाँ बढ़ रही हैं। अभिकृति में पूर्ण होकर प्रकृति की स्वस्थ भूमिका समात्मभाव का आधार बनती है। इस भूमिका में प्रकृति और अध्यात्म का संगम संस्कृति के सौन्दर्य को रूप देता है। धर्म, अध्यात्म, कला आदि सभी में संस्कृति का यह रूप साकार और सफल हो सकता है। किन्तु संस्कृति का यह रूप एकान्त साधना में सम्भव नहीं है। प्रदर्शन में भी समता खण्डित होती है। अतः लोककला और लोकपर्व के वे रूप ही जिनमें अनेक व्यक्ति समान भाव से भाग लेते हैं, संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

१३–संस्कृति का व्याकरण

सामान्यतः 'संस्कृति' शब्द अंग्रेज़ी के 'कल्चर' का पर्याय माना जाता है। संस्कृति और कल्चर के पदों से जीवन के जिन क्षेत्रों तथा जीवन की जिन क्रियाओं को लक्षित किया जाता है, उनमें बहुत कुछ समानता है। अतः इन दोनों पदों का पर्यायभाव पूर्णतः अनुचित नहीं है। संस्कृति का विकास मनुष्य-समाज के आरंभिक काल से ही होता आया है। किन्तु संस्कृति के सम्बन्ध में विचार और विश्लेषण आधुनिक युग में ही आरंभ हुआ है। भिन्न देशों में विकसित होने वाले संस्कृति के रूपों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी उनमें कुछ महत्वपूर्ण भिन्नतायें भी हैं। इन भिन्नताओं का कुछ सूत्र 'संस्कृति और कल्चर' की व्याकरणगत भिन्नता में मिलता है। किन्तु पूर्व और पश्चिम के विषम सम्पर्क के आधुनिक युग में अध्ययन और अनुवाद की सुविधा की दृष्टि से इन दोनों पदों का पर्याय-भाव पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया है। पश्चिमी परिभाषाओं, सिद्धान्तों आदि का अविचारित स्वीकरण आधुनिक पूर्वीय मनीषा की शोचनीय विडम्बना है। अध्ययन और अनुवाद की सुविधा के लिए 'संस्कृति' और 'कल्चर' के पदों को 'धर्म' और 'रिलीजन' की भांति पर्याय मानने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के अध्ययनों में भारतीय संस्कृति के विशेष लक्षणों और रूपों को ध्यान न देकर संस्कृति के लक्षणों और रूपों का विवरण भी प्रायः संस्कृति की पश्चिमी धारणा के अनुसार किया जाता है। अतः इन आधुनिक विवरणों में संस्कृति के महत्वपूर्ण भारतीय लक्षण और रूप छूट जाते हैं। भारतीय संस्कृति के अध्ययनों का यह एक प्रधान दोष है।

संस्कृति के ये आधुनिक विवरण संस्कृति की पश्चिमी धारा से प्रभावित रहते हैं। संस्कृति की यह धारणा संस्कृति के पश्चिमी पर्याय कल्चर पर आधारित है। पश्चिमी परम्परा में पश्चिम के सांस्कृतिक विकास और उसकी सांस्कृतिक धारणा के अनुरूप ही 'कल्चर' पद का ग्रहण और व्यव-हार हुआ है। 'संस्कृति' का भारतीय पद उसके बहुत कुछ समान है। किन्तु जिस प्रकार संस्कृति की भारतीय और पश्चिमी परम्पराओं में कुछ

महत्वपूर्ण अन्तर हैं, उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से 'संस्कृति' और 'कल्चर' के पदों में भी महत्वपूर्ण अन्तर है। 'संस्कृति' पद के व्याकरण और उसकी वर्ण-व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति की भारतीय धारणा और संस्कृति की भारतीय परम्परा की विशेषताओं को समझा जा सकता है तथा संस्कृति की पश्चिमी धारणा एवं पश्चिमी परम्परा की तुलना में दोनों का अन्तर भी प्रकट हो सकता है। विवेचन के इसी क्रम में 'संस्कृति' और 'कल्चर' के पर्यायों के मौलिक भेद भी स्पष्ट हो सकते हैं।

'संस्कृति' का अंग्रेज़ी पर्याय 'कल्चर' का मूल लैटिन भाषा की 'कल्टस' क्रिया और लैटिन भाषा के 'कल्तुर' शब्दों में खोजा जाता है। लैटिन भाषा में 'कल्टस' क्रिया का अर्थ 'खेती के लिए भूमि को जोतना है'। संस्कृति के पश्चिमी अध्ययनों में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग एक अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया जाता है। मनुष्य के समाज और जीवन के सभी रूपों, मनुष्यों की सभी क्रियाओं और उनके सभी फलों को 'कल्चर' की व्यापक परिधि में समेट लिया जाता है। शिकार के औजारों का निर्माण, नागरिक सुविधाओं का विकास, युद्ध, व्यापार, उद्योग, साहित्य, कला, दर्शन आदि 'कल्चर' की व्यापक परिधि में समाहित हो जाते हैं। इस व्यापक प्रयोग में कल्चर का भाव मनुष्य के सामाजिक जीवन का पर्याय बन जाता है। समाज के इतिहास में मनुष्य ने जो कुछ भी किया है वह सब अंग्रेजी के 'कलचर' के अन्तर्गत है। 'कल्चर' की व्यापक परिधि में समाहित होने वाले जीवन के इन अनेक रूपों में कई प्रकार की भिन्नताएँ मिल सकती हैं। किन्तु इन सब में एक मौलिक समानता दिखाई देती है कि वे सब मनुष्य की कृति हैं अर्थात् वे सब मनुष्य की क्रिया तथा उसके प्रयत्न एवं उद्योग के फल हैं। भाषा के ऐसे प्रयोग में एवं संस्कृति की ऐसी धारणा में 'कल्चर' मनुष्य की इसी 'कृति' का पर्याय है। उसकी सभी कृतियां तथा उसकी कृति के सभी रूप 'कल्चर' के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'कृति' की दृष्टि से इन रूपों के विभिन्न लक्षणों की विशेषता का भी कोई महत्व नहीं रहता, तथा जीवन के प्रयोजन की दृष्टि से इन रूपों के महत्व का विवेचन भी आवश्यक नहीं होता।

संस्कृति की इस पश्चिमी धारणा का मूल 'कल्चर' शब्द के विधायक मूल लैटिन शब्दों में मिलता है। लैटिन की जिस 'कल्टस' क्रिया से

'कल्चर' शब्द का निर्माण हुआ है उस का अर्थ 'खेती के लिए भूमि को जोतना' है। सभ्य समाज की क्रिया अथवा कृति का कदाचित् यह सबसे आदिम रूप है। खेती से पहले मनुष्य आखेट से अपना जीवन निर्वाह करता था। यह आखेट भी मनुष्य की क्रिया अथवा उसकी कृति का ही रूप है और तुलना की दृष्टि से कृषि की अपेक्षा अधिक आदिम है। शारीरिक कर्म के अतिरिक्त आखेट के लिए आदिम मनुष्यों ने कुछ अस्त्रों का भी निर्माण किया था। इन अस्त्रों को मनुष्य की कृति का विशेष और महत्वपूर्ण रूप माना जा सकता है। इस दृष्टि से 'कल्चर' के व्यापक अर्थ में ये भी मनुष्य की कृति अथवा संस्कृति माने जा सकते हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि कृषि में मनुष्य का कृतित्व आखेट की अपेक्षा अधिक स्फुट और सम्पन्न रूप में प्रकट होता हैं। कृषि के लिए भी मनुष्य ने कुछ औजारों का निर्माण किया था। इन औजारों के निर्माण में भी आखेट के औजारों की अपेक्षा अधिक कृतित्व दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त कृषि के कर्म में कृति का फल अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली दिखाई देता है। कृति की सफलता रचना अथवा निर्माण में ही है। इस निर्माण का सबसे प्रभावशाली रूप वह होता है जिसमें अभाव को भाव का रूप मिलता है। जिस रूप अथवा वस्तु की सत्ता नहीं होती है उसे सत्ता प्रदान करना कृति का प्रभावशाली रूप है। कृपि में यही होता है। बीज से वृक्ष का बढ़ना और उस पर अनेक अन्नों के दानों का खिलना कृपि के कर्म को सफल, सुन्दर और प्रभावशाली रूप देता है। अन्न के इन दानों का पहले अस्तित्व नहीं होता। इसीलिए कृषि का कर्त्तव्य प्रभावशाली बनता है। क्रिया का फल 'कृति' के क्रिया-भाव में संज्ञा-भाव का योग देता है। 'कृति' का संज्ञा-भाव उसके क्रिया-भाव की सफलता का साकार रूप है। साहित्य की रचनाओं में क्रिया के फल के लिए 'कृति' का प्रयोग होता है।

अस्तु, सभ्यता के क्रम में कृपि का कर्म और कृतित्व मनुष्य की क्रिया का आदिम, स्पष्ट और प्रभावशाली रूप है। प्रतिवर्ष के कृपिकर्म और प्रति वर्ष की सफलता से कृपि का कृतित्व अधिक प्रभावशाली बनता रहा होगा। कृपि की तुलना में आखेट के कर्म में अधिक साहस और क्रिया की अपेक्षा होती है। किन्तु आखेट के फल में मनुष्य का कृतित्व दिखाई

नहीं देता। मारा हुआ पशु मनुष्य की 'कृति' नहीं है! वह केवल उसकी खोज तथा उपलब्धि है। इसीलिए संस्कृत भाषा में आखेट के लिए मृगया (पशु की खोज) और वैदिक व्यवहार में पशु को मारने अथवा प्राप्त करने के अर्थ में आलम्भन का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत कृषि की कृति में मनुष्य का कृतित्व अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली दिखाई देता है। अतः पश्चिमी परम्परा में कृषि की वाचक कल्टस क्रिया से संस्कृति के वाचक 'कल्चर' शब्द का उदय उचित ही है। संस्कृत भाषा में भी संस्कृति के अर्थ में कृष्टि शब्द का प्रयोग होता था जो अब व्यवहार में नहीं है। 'कृष्टि' का सम्बन्ध सम्भवतः कृषि से ही है और कदाचित् वह कृषि की वाचक 'कर्ष' धातु से बना है। कृषि केवल एक प्रकार का कर्म है, यद्यपि यह अत्यन्त महत्वपूर्ण, मौलिक और प्राचीन है। अर्थ-विस्तार के द्वारा वह कृति मात्र का पर्याय बन सकता है, जैसा कि अंग्रेजी का कल्चर बन गया है। किन्तु संस्कृति के कृतित्व की विपुल सक्रियता तथा उसके अन्य भावों का सूत्र कृषि अथवा कृष्टि में मिलना सम्भव नहीं है। अतः कृषि को सांस्कृतिक के कर्तृत्व का बीज मानना अधिक उचित नहीं है। कृषि में आरम्भ और अन्त में ही कुछ क्रिया दिखाई देती है। अन्तराल के समय में तो केवल उसकी रक्षा ही मुख्य कर्म है। वह रक्षा भी बाह्य उपायों से हो सकती है। उसमें मनुष्य का कर्तृत्व अपेक्षित नहीं है। बीज बो देने के बाद खेती अपने आप बढ़ती है। भारतवर्ष के उपजाऊ मैदान में तो वह बहुत सरलता से होती है। पूर्वी भागों में तो बहुत से स्थानों पर चावल आदि का बीज गीली भूमि में बिखेर दिया जाता है। संभव है पश्चिम के देशों में कृषि का कर्म भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक कठिन रहा हो और उसमें पश्चिम के लोगों को महत्वपूर्ण कृतित्व दिखाई दिया हो। यह भी सम्भव हो सकता है कि पश्चिमी देशों में कृषि के योग्य भूमि कम होने के कारण कृषि का महत्व भी अधिक रहा हो और इस महत्व ने कृषि के कृतित्व के भाव-विस्तार में योग दिया हो। अर्थ के इसी विस्तार के द्वारा मूलतः खेती का वाचक 'कल्चर' शब्द 'संस्कृति' का पर्याय बना। कृषि एक प्राकृतिक कर्म है। अतः मनुष्य के प्राकृतिक कर्म भी संस्कृति की परिधि और परिभाषा में समाहित हो गये तथा 'कल्चर' शब्द 'कृति-मात्र' का पर्याय बन गया। कर्तृत्व की दृष्टि से संस्कृति के अनेक

रूप और भाव कृषि अथवा अन्य किसी प्राकृतिक कर्म से अनेक प्रकार से भिन्न है। इन रूपों और भावों का पश्चिमी परम्परा में अधिक विकास न होने के कारण संस्कृति की धारणा में इन्हें विशेष महत्वपूर्ण स्थान न मिल सका तथा अर्थ-विस्तार के द्वारा मनुष्य की 'कृतिमात्र' का पर्याय बनकर संस्कृति के व्यापक अर्थ में 'कल्चर' शब्द का व्यवहार सर्वमान्य हो गया।

किन्तु भारतीय परम्परा में मनुष्य के विशेष कृतित्व से प्रसूत तथा आध्यात्मिक भावों से अनुप्राणित सांस्कृतिक रूपों की विपुलता है। अतः कृषि का प्राकृतिक कर्म अथवा कृतिमात्र में उसका विस्तार संस्कृति की धारणा का मूल सूत्र न बन सका। इसी कारण कृषि के वाचक 'कृष्टि' पद के स्थान पर 'संस्कृति' पद का प्रयोग अधिक प्रचलित हुआ। संस्कृति की भारतीय धारणा और संस्कृति के भारतीय रूपों की विशेषता का सूत्र इसी 'संस्कृति' पद के व्याकरण और उसकी वर्ण-व्युत्पत्ति में मिल सकता है। संस्कृत भाषा के 'संस्कृति' पद का प्रयोग अंग्रेजी के 'कल्चर' के समानार्थक शब्द के रूप में होता है। मनुष्य के कर्तृत्व के जिन क्षेत्रों को अंग्रेजी के प्रयोग के अनुसार कल्चर की धारणा के अन्तर्गत माना जाता है उन्हीं क्षेत्रों का निर्देश आधुनिक भारतीय प्रयोग में 'संस्कृति' पद के द्वारा किया जाता है। भारतीय संस्कृति का परिचय देने वाले आधुनिक भारतीय ग्रन्थ भाषा के प्रयोग की इस समानता को प्रमाणित करते हैं। किन्तु भाषा की दृष्टि से दोनों पद एक-दूसरे के पर्याय नहीं हैं। इसके साथ-साथ संस्कृति की पश्चिमी और भारतीय धारणाओं में भी कुछ मौलिक अन्तर हैं। इनका आधार संस्कृति और कल्चर के पदों के व्याकरण की भिन्नता में भी मिलता है, यद्यपि इन अन्तरों का मूल स्रोत पश्चिमी देशों और भारतवर्ष की संस्कृति सम्बन्धी धारणाओं की भिन्नता में ही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पश्चिम की कल्चर सम्बन्धी धारणा बहुत व्यापक है। उसमें मनुष्य की सभी कृतियाँ सम्मिलित हो जाती हैं। कृषि का वाचक 'कल्चर' शब्द 'कृति मात्र' का पर्याय बन कर संस्कृति की इस धारणा के अनुरूप बन जाता है। किन्तु भारतीय परम्परा में संस्कृति की धारणा इतनी व्यापक नहीं है। मनुष्य की कृतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। इनमें अनेक कृतियों प्राकृतिक प्रवृत्तियों से प्रेरित, स्वार्थमय

तथा विषमतापूर्ण होती है। इन कृतियों को भारतीय धारणा के अनुसार 'संस्कृति' नहीं कहा जा सकता। इनमें मनुष्य का कृतित्व तो हो सकता है, किन्तु इनमें संस्कार और साम्य नहीं है। अतः इनको 'संस्कृति' के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। 'संस्कृति' शब्द का 'सम्' उपसर्ग संस्कृति और कृति के भेद की रेखा अंकित करता है। सामान्य रूप से 'सम्' संस्कार और साम्य का वाचक है। संस्कार और साम्य से युक्त कृतियाँ ही संस्कृति कही जा सकती हैं। संस्कृति का 'सम्' प्रत्यय 'संस्कृति' की भारतीय धारणा की विशेषता और पश्चिमी धारणा से उसकी भिन्नता को लक्षित करता है। 'सम्' का उपसर्ग सम्यक् भाव, संस्कार, साम्य आदि का वाचक है। सम्यक् भाव एक व्यापक भाव है। उसमें साम्य के अतिरिक्त कृति के अन्य अनेक गुण समाहित हैं। कृति के रूप की श्रेष्ठता के अतिरिक्त इनमें संकल्प की स्वतन्त्रता सामाजिक मंगल की भावना अधिक महत्वपूर्ण है। इसके बिना कोई कृति सम्यक् भाव की अधिकारी नहीं हो सकती। सामाजिक मंगल की भावना का प्रसंग आते ही मनुष्य की अनेक ऐतिहासिक कृतियाँ संस्कृति के क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाती हैं। अपने स्वरूप में सौन्दर्य, कौशल आदि से युक्त होने के साथ-साथ जो कृति सामाजिक मंगल की विधायक होती है वही संस्कृति की परिभाषा के अन्तर्गत आ सकती है। साम्य इस मंगल का मूल-सूत्र है। साम्य से युक्त भाव ही सम्यक् भाव बनता है। साम्य भाव का निर्माण भी सम्यक् भाव है। अतः संस्कृति का मूल भाव साम्य ही है।

यह साम्य सामान्य रूप से समानता, सामंजस्य आदि का वाचक है। समानता का अर्थ बराबरी है। दो व्यक्तियों अथवा वस्तुओं में ऊँच-नीच अथवा बड़े छोटे का भेद नहीं होता तो हम उन्हें समान मानते हैं। विषमता के विपरीत होने के कारण यह समानता सामंजस्य भी उत्पन्न करती है। सामंजस्य का निषेधात्मक रूप अविरोध है जो कि विषमता के अभाव से उत्पन्न होता है। विषमता ही विरोध का मूल कारण है। सामंजस्य का भावात्मक रूप अधिक सक्रिय और सार-पूर्ण होता है। वह प्रीति, प्रसन्नता, सद्भाव, आनन्द, सृजनात्मक उत्कर्ष आदि में व्यक्त होता है। एक आन्तरिक एकत्व सामंजस्य का मूल-सूत्र और उक्त भावों की प्रेरणा बनता है। उसी प्रकार ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भेद का

अभाव भी समानता का निषेधात्मक रूप है। यह अभाव विषमता का बाधक है और समता के भावात्मक रूप को सम्भव बनाता है। समता का भावात्मक रूप भी एक आन्तरिक एकता में अन्वित रहता है जिसे हमने सामंजस्य का मूल-सूत्र कहा है। व्यवहार के शील में वह परस्पर सम्भावन के रूप में फलित होता है। यह परस्पर सम्भावन ही साम्य का व्यावहारिक सूत्र है। भारतीय संस्कृति के प्राचीन शिष्टाचार में यह सर्वत्र चरितार्थ होता है। आतिथ्य, आदर, संस्कारों की विधियां आदि के परस्पर सम्भावन में साम्य का व्यवहार भारतीय शिष्टाचार को अलंकृत करता रहा है। दशरथ के प्रति जनक का वचन इसका एक उदाहरण है। कृष्णभक्ति की परम्परा का 'दोऊ परैं पैंया' इसका एक भावपूर्ण उदाहरण है। शिव के मस्तक की चन्द्रकला इसी साम्य और सम्भावन की प्रतीक है। शक्ति की प्रतीक कला को शिव शीष पर आदर देते हैं। जो एक-दूसरे के गौरव और सौन्दर्य का सम्वर्द्धन करते हैं, उन्हीं के शील और व्यवहार में साम्य का वास्तविक रूप सफल होता है। अध्यात्म, धर्म आदि के अतिरिक्त संस्कृति, कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में भी सौन्दर्य के उत्कर्ष का रहस्य परस्पर सम्भावन के इस साम्य में ही मिल सकेगा।

समानता, सामंजस्य, सम्भावन आदि से युक्त साम्य एक उदासीन भाव मात्र नहीं है। वह केवल भाव का ही साम्य नहीं है, वरन् इसके साथ-साथ वह सक्रिय और सृजनात्मक भी है। साम्य की सक्रियता और सृजनात्मकता का सूत्र 'सम्' के वर्ण-विज्ञान और उसके तांत्रिक रहस्य में मिल सकेगा। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सकार' विसर्ग का पर्याय है। इसके अतिरिक्त श, ष, र भी विसर्ग के पर्याय हैं। श, ष, र में भी विसर्ग की सृजनात्मकता के साथ-साथ विभाजन और विच्छेद का भी अन्तर्भाव रहता है। इसके विपरीत सकार में विसर्ग के साथ-साथ साहित्य (सहित भाव) का भी भाव रहता है। संस्कृत भाषा के शब्दों में सहितभाव के अर्थ में 'स' के उपसर्ग का प्रयोग होता है। सबल का अर्थ बल-सहित है। अस्तु 'सम्' का 'स' सहित भाव से युक्त विसर्ग-भाव का द्योतक है। शैव तन्त्रों में विसर्ग का अर्थ शक्ति का विमर्श है। सामान्य भाषा में हम उसे सृजन का पर्याय कह सकते हैं। शिव की यह शक्ति सृजनात्मिका

है। 'सम्' का 'म्' बिन्दु का वाचक है। संस्कृत व्याकरण में 'म्' अनुस्वार अथवा बिन्दु का पर्याय है (मोऽनुस्वारः)। शैव तन्त्रों के अनुसार बिन्दु शिव का वाचक है। 'वेत्ति इति बिन्दुः' के अनुसार चिन्मय आत्मा को 'शिव' कहते है। 'बिदिरवयवे' के अनुसार बिन्दु का अर्थ विसर्ग अथवा सृजन से उत्पन्न होने वाले बिन्दु है। बहुत्व में ये बिन्दु साकार होते हैं। इन्हें हम व्यक्तियों का वाचक मान सकते हैं। इन व्यक्तियों के 'बिन्दु' भाव में भी बिन्दु का उदार भाव विभासित होता है। एक ओर यह बिन्दु शिव और शक्ति के संगम का केन्द्र है तथा दूसरी ओर शक्ति की सृजनात्मक परम्परा का सम्वाहक है।

इस प्रकार 'सम्' के उपसर्ग के 'स' और 'म्' क्रमशः सहित भाव से युक्त विसर्ग तथा शिव-शक्ति के साम्य से युक्त बिन्दुभाव के वाचक हैं। चिन्मय होने के कारण शिव को प्रकाश कहते हैं। 'सम्' का उपसर्ग शिव और शक्ति, बिन्दु और विसर्ग, प्रकाश और विमर्श के साम्य का सूचक है। इसी सृजनात्मक साम्य के विशेषण से युक्त होने पर मनुष्य की कृतियाँ 'संस्कृति' की संज्ञा की अधिकारी बनती हैं। साधारण भाषा में हम संस्कृति को सृजन की वह परम्परा मान सकते हैं जिसमें परस्पर सम्भावन का साम्य चरितार्थ होता है। एक ओर सम्भावन इसका लक्षण है, दूसरी ओर सृजनात्मकता उसका स्वरूप है। 'सम्' के स और म् अथवा विसर्ग और बिन्दु के क्रम से यह प्रकट होता है कि संस्कृति के कृतित्व और साम्य में विसर्ग अथवा सृजन का भाव ही मुख्य है। यह सृजन का भाव स्रष्टाओं के क्रम में सफल होता है। बिन्दु का वाचक 'म्' ऐसे ही स्रष्टाओं का प्रतीक है। जीवन और कला के रूपों के साथ-साथ इन स्रष्टाओं के सृजन में संस्कृति कृतार्थ होती है। स्रष्टाओं के सृजन में साम्य और सम्भावन का भाव अपेक्षित होता है। इसी भाव के द्वारा संस्कृति की सृजनात्मक और उत्कर्षशील परम्परा बनती है। इन भावों से युक्त कृतियों को ही 'संस्कृति' कहा जा सकता है। भारतीय पर्व, संस्कार आदि इसके उत्तम उदाहरण हैं। इनमें सृजनात्मक साम्य के सुन्दर रूप साकार होते है। कल्चर की पश्चिमी धारणा और परिभाषा में जीवन के ऐसे अनेक रूप सम्मिलित हो जाते हैं जो इन भावों को खंडित कर देते हैं। साम्य और सृजन के भावों को स्वार्थ, अहंकार आदि तथा उनसे उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक भाव खंडित करते हैं। ये भाव विषमता और विरोध उत्पन्न

करते हैं। अतः संस्कृति के साम्य और सृजन का मूल प्रकृति से भिन्न अध्यात्म में ही मिल सकेगा। अनेक विचारक प्रकृति की विवश प्रेरणा से प्रसूत कार्यों में भी मनुष्य का कृतित्व देखते हैं। तथाकथित संस्कृति के अनेक रूपों में ऐसा ही कृतित्व मिलता है। किन्तु इस कृतित्व के पीछे मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प का गौरव नहीं है, वरन् उसके स्थान पर प्राकृतिक प्रलोभनों की विवश प्रेरणा है। इन प्रेरणाओं से भिन्न आत्मा के स्वतंत्र संकल्प की कृतियाँ ही संस्कृति का वास्तविक अलंकार है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में यही स्वतंत्र कृतित्व साकार होता है। शैव-तंत्रों के अभीष्ट शिव और शक्ति के साम्य में भी इस आत्मिक संकल्प का अत्यन्त महत्व है। शिव की शक्ति को इच्छा शक्ति कहते हैं। 'इच्छा' संकल्प का ही दूसरा नाम है। शैव-तन्त्र और भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मिक संकल्प की स्वतंत्रता और परस्पर सम्भावना के साम्य से युक्त कृतियों को ही 'संस्कृति' की संज्ञा का अधिकारी माना जा सकता है। संस्कृति की पश्चिमी धारणा की व्यापक परिधि में समाहित मनुष्य की अन्य अनेक कृतियां प्रकृति अथवा विकृति कही जा सकती हैं। प्राकृतिक प्रेरणा से प्रसूत होने पर भी जो विषमता और विरोध उत्पन्न नहीं करतीं, वे कृतियां प्रकृति के अन्तर्गत हैं तथा जो वैषम्य और विरोध उत्पन्न करती हैं, उनको विकृति के लांछन से विभूषित करना होगा।

१४–जीवन और संस्कृति

जीवन मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों का सामान्य धर्म है, किन्तु संस्कृति मनुष्यों की ही विशेषता है। पशु-पक्षियों ने किसी संस्कृति का विकास नहीं किया। वे युगों से वैसा ही प्राकृतिक जीवन बिताते आ रहे हैं, जैसा कि उनका जीवन लाखों वर्ष पहिले था। विकासवाद के अनुसार पशुओं के इस प्राकृतिक जीवन में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। किन्तु वे सब परिवर्तन प्रकृति के ही अन्तर्गत हुए हैं। पशु-पक्षियों के प्राकृतिक आकार और धर्म में ही कुछ परिवर्तन अथवा विकास हुआ है किन्तु उनके प्राकृतिक प्रक्रियाओं में ही सीमित रहा है और उसमें किसी सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का विकास नहीं हो सका है।

किन्तु इसके विपरीत मनुष्यों के जीवन में संस्कृति के अनेक रूप विकसित हुए हैं। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि इन संस्कृति के रूपों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। जीव अथवा प्राणी होने के नाते मनुष्य का जीवन भी बहुत कुछ प्राकृतिक है। किन्तु संस्कृति के प्रभाव से मनुष्य का समस्त जीवन प्राकृतिक नहीं रह गया है। इसका बहुत कुछ अंश सांस्कृतिक जीवन से घुल-मिलकर सांस्कृतिक बन गया है। संस्कृति के इस प्रभाव से मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी की अपेक्षा एक सांस्कृतिक प्राणी अधिक बन गया है। वह पशुओं की भाँति प्राकृतिक प्रवृत्तियों और आवेगों से भी प्रेरित होता है, किन्तु उसके जीवन का विशेष और सुन्दर रूप वही है जो कि संस्कृति से अनुप्राणित होता है।

मनुष्य के जीवन में प्राकृतिक जीवन और संस्कृति घुल मिल गये हैं। इसलिए उनको सर्वत्र अलग करना कठिन है। किन्तु पशुओं के जीवन को ध्यान में रखकर हम इन्हें अलग कर सकते हैं। पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक होता है। मनुष्यों का जीवन जहाँ तक पशुओं के समान है, वहाँ तक वह प्राकृतिक ही है। किन्तु पशुओं का जीवन पूर्णतः और विशुद्ध रूप से प्राकृतिक है। मनुष्यों के जीवन में प्रकृति का ऐसा शुद्ध रूप मिलना कठिन है। घोर स्वार्थमय भोग और निर्मम हिंसा में ही

इसके उदाहरण मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अधिकांश जीवन में प्रकृति और संस्कृति की धाराएँ मिली रहती हैं। इतना अवश्य है कि इन धाराओं में कहीं प्रकृति की प्रधानता और कहीं संस्कृति की प्रधानता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इसके लिए हमें जीवन, प्रकृति और संस्कृति की धारणाओं को स्पष्ट एवं निश्चित करना होगा तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझना होगा। पशु-पक्षियों के प्रसंग में जीवन और प्रकृति एक दूसरे के पर्याय हैं। जन्म से लेकर मरण तक प्राणों की प्रक्रिया का नाम ही जीवन है। प्राणों की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वे प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं जो प्राणों की प्रक्रिया के रक्षण एवं पोषण के लिए अपेक्षित हैं। भोजन की प्रक्रिया इनमें मुख्य है। प्राणों की प्रक्रिया के अतिरिक्त प्रजनन की प्रक्रिया को भी जीवन का लक्षण माना जाता है। प्राकृतिक जीवन के समग्र रूप में इसे भी सम्मिलित करना होगा।

पशुओं के प्राकृतिक जीवन की परिधि भोजन और प्रजनन की प्राकृतिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित है। अन्य क्रियाएँ इनकी सहकारी हैं। प्राकृतिक अर्थ में मनुष्यों का जीवन भी जन्म और मरण के बीच की प्राण-प्रक्रिया है। भोजन और प्रजनन के धर्म भी मनुष्यों के जीवन में पशुओं से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। किन्तु जहाँ पशुओं का जीवन इतने में ही पूर्ण हो जाता है, वहाँ मनुष्यों के जीवन में प्राण, भोजन और प्रजनन के धर्म केवल एक आधार बनाते हैं। जिनके ऊपर मनुष्य के जीवन का सांस्कृतिक प्रासाद रचा जाता है। मनुष्य के जीवन की इस सांस्कृतिक रचना को प्राकृतिक आवश्यकता की दृष्टि से एक अतिशय कहा जा सकता है। संस्कृति एक प्रकार का अतिशय ही है क्योंकि वह प्राकृतिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। पशुओं के जीवन में संस्कृति का अतिशय नहीं होता। संस्कृति के बिना मनुष्य के जीवन की भी कल्पना की जा सकती है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि वह जीवन कितना मानवीय होगा।

संस्कृति ही मनुष्य के जीवन की विशेषता है। वही पशुओं के प्राकृतिक जीवन से मानवीय जीवन को भिन्न करती है। मनुष्यों के जीवन का आधार भी प्राकृतिक है। किन्तु मनुष्यों के जीवन में वह

प्राकृतिक आधार अपने विशुद्ध और नग्न रूप में कदाचित् ही मिलता है। मनुष्य जीवन में वह प्राकृतिक आधार प्रायः संस्कृति से अलंकृत रहता है। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की तुलना हम एक अलंकार से कर सकते हैं। जिस प्रकार अलंकार का उपादान तत्व सुवर्ण की धातु होती है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन का आधार भी प्रकृति है। इसे जीवन का तत्व कहा जा सकता है। किन्तु सुवर्ण ही अलंकार नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन का यह प्राकृतिक आधार ही संस्कृति नहीं है। अलंकार सुवर्ण के उपादान में एक कलात्मक रूप की रचना है उसी प्रकार संस्कृति भी प्रकृति के आधार पर जीवन की कलात्मक रचना है। अलंकार में सुवर्ण की धातु समाहित रहती है। इसी प्रकार मनुष्य की संस्कृति में भी जीवन का प्राकृतिक तत्व समवेत रहता है। किन्तु अलंकार का कलात्मक रूप ही प्रधान रहता है। इसी प्रकार मनुष्य की संस्कृति में भी रचनात्मक रूप की प्रधानता रहती है। मनुष्य के समग्र जीवन में कहीं संस्कृति की अपेक्षा जीवन और कहीं जीवन की अपेक्षा संस्कृति प्रधान दिखाई देती है। इनकी गौणता और प्रधानता के आधार पर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और भूमियों में भेद किया जा सकता है।

पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक होता है। उसे प्रकृति का पर्याय कहा जा सकता है। किन्तु मनुष्यों के प्रसंग में जीवन को अधिक व्यापक अर्थ में समझना होगा। मनुष्यों के इस व्यापक जीवन में प्रकृति और संस्कृति का संगम मिलता है। जीवन का जो अंश पशुओं के समान है तथा आवश्यक और अनिवार्य है, उसे प्रकृति कहा जा सकता है। यह प्राकृतिक जीवन एक प्रकार से न्यूनतम जीवन है। पशुओं का जीवन इस न्यूनतम स्तर पर ही रहता है। उसमें कमी नहीं की जा सकती। इस प्राकृतिक जीवन को पशुओं, पक्षियों और मनुष्यों का लघुतम समापवर्तक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पशुओं की तुलना में मनुष्य के जीवन में जो अतिशय है, उसे संस्कृति कह सकते हैं। जहाँ प्रकृति जीवन का न्यूनतम रूप है, वहाँ संस्कृति जीवन की समृद्धि है। समृद्धि होने के साथ-साथ वह समृद्धिशील भी है अर्थात् उसकी वृद्धि होती है। जबकि प्रकृति की एक लघु सीमा है जिसके आगे उसकी वृद्धि नहीं हो सकती। इसी कारण पशुओं के जीवन में वृद्धि नहीं हो सकी

हैं। मनुष्य के जीवन में संस्कृति के संयोग से प्रकृति की भी किन्हीं रूपों में समृद्धि हुई है। यदि प्रकृति की सीमा में नहीं तो उसकी सार्थकता और उसके आनन्द में निस्सन्देह वृद्धि हुई है। संस्कृति के समवाय से मनुष्य का समग्र जीवन ही अधिक सार्थक और आनन्दमय बना है।

प्रकृति की समृद्धि होने के साथ-साथ संस्कृति के समवाय से मनुष्य के जीवन में प्रकृति का कायाकल्प भी हुआ है। संस्कृति ने प्रकृति का रूपान्तर किया है। यह कह सकते हैं कि मानो संस्कृति में समवेत होकर मनुष्य के जीवन में प्रकृति भी सांस्कृतिक बन गई है। इसीलिए जीवन के सम्बन्ध में प्रकृति और संस्कृति की धाराओं का विवेक करना कठिन हो जाता है। पशुओं के जीवन में प्रकृति का विशुद्ध रूप मिलता है। इसी रूप के सहारे मनुष्यों के जीवन में भी प्रकृति और संस्कृति का विवेक किया जा सकता है। पशुओं में जो प्रकृति का रूप मिलता है, वह स्वार्थमय, व्यक्तिगत, आवश्यक, अनिवार्य और संकल्परहित है। प्रकृति के धर्म शारीरिक होते हैं और वे शरीर के हित के लिए ही होते हैं। शरीर प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अन्वय की इकाई है। शरीर के धर्म व्यक्तिगत हैं। वह प्राकृतिक धर्मों का व्यक्तिगत आश्रय है। प्रजनन के धर्म में कुछ पारस्परिकता आ जाती है। किन्तु उसमें भी शरीर के व्यक्तिगत सुख की प्रधानता रहती है, और प्रजनन का वास्तविक रूप पारस्परिक आकांक्षा का मुख्य अंग नहीं रहता। मनुष्यों में यह प्राकृतिक धर्म रूपान्तरित हो जाते हैं किन्तु इनका मूल प्राकृतिक रूप भी बना रहता है।

स्वार्थमय होने के साथ-साथ प्राकृतिक धर्म आवश्यक और अनिवार्य होते हैं। उनमें संकल्प का अवकाश नहीं रहता। अनिवार्य होने के कारण प्राकृतिक धर्म एक रूप होते हैं। मनुष्यों में ही नहीं वरन् पशुओं में भी वे उसी रूप में पाए जाते हैं। मनुष्यों के जीवन में संकल्प इन प्राकृतिक धर्मों को कुछ प्रभावित करता है किन्तु वह भी इनके मूल रूप को नहीं बदल सकता। भोजन आदि की प्राकृतिक क्रियाएँ स्वार्थ में ही अन्वित होती हैं, और वे अनिवार्य तथा एक रूप होती हैं। प्रकृति के शासन में मनुष्य एक दास के समान है। वह दास के समान ही पराधीन है। किन्तु संस्कृति उसकी स्वाधीनता का साम्राज्य है। संस्कृति के साम्राज्य में वह एक सम्राट के समान गौरव पाता है।

संस्कृति का यह साम्राज्य मनुष्य के संकल्प की रचना है। संकल्प आत्मा की स्वतंत्रता का रचनात्मक रूप है। संकल्प से रचित होने के कारण संस्कृति स्वतंत्र है। स्वतंत्र होने के कारण वह एक रूप नहीं वरन् अनेक रूप है। विभिन्न देशों और समाजों में संस्कृति की रचनाओं ने विविध रूप ग्रहण किये हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति स्वार्थमय नहीं है। संस्कृति के परिणाम व्यक्ति में अन्वित नहीं होते, यद्यपि संस्कृति व्यक्ति के जीवन को अधिक समृद्ध और सार्थक बनाती है, फिर भी व्यक्ति के एकान्त में उसकी रचना सम्भव नहीं है और न उसके फल का आस्वादन व्यक्ति एकान्त में करता है। संस्कृति एक सामाजिक रचना है। जीवन के सामाजिक सन्दर्भ में ही संस्कृति का स्रोत और संस्कृति की सफलता है।

इस प्रकार प्रकृति और संस्कृति के स्वरूप में भेद है। मनुष्य के जीवन में इन दो भिन्न धाराओं का संगम हुआ है। इनकी भिन्नता से जो विरोध उत्पन्न होता है, उसी विरोध से मनुष्य जाति का संघर्षमय इतिहास बना है। इस संगम के द्वारा मनुष्य की प्रकृति का बहुत कुछ संस्कार और संस्कृति के साथ समन्वय भी हुआ है। जिन अंशों में मनुष्य का जीवन स्वार्थमय, एक रूप और अनिवार्य है, उन अंशों में उसे प्राकृतिक कहना होगा। जीवन के इस प्राकृतिक पक्ष को भी संस्कृति ने बहुत कुछ सभ्य और सुन्दर बनाया है। किन्तु संस्कृति का अधिक सम्पन्न रूप मनुष्य की उन रचनाओं में देखा जा सकता है, जिनमें उसके स्वतंत्र और अनेक रूप संकल्प की अभिव्यक्ति हुई है। कला, साहित्य, धर्म आदि इन रचनाओं के प्रसिद्ध रूप हैं। ये सांस्कृतिक रचनायें दो परिस्थितियों में जीवन में अन्वित हुई हैं। एक परिस्थिति में ये जीवन का अंग बनी हैं तथा दूसरी परिस्थिति में ये सम्पूर्ण और साक्षात् जीवन में समवेत हुई हैं। ये दो परिस्थितियाँ संस्कृति के दो रूप हैं। एक संस्कृति अभिजात और आंशिक रूप है और दूसरा संस्कृति का जीवन, समग्र और लोक सम्मत रूप है। कदाचित् दूसरे रूप में ही आदिकाल में संस्कृति का आरम्भ हुआ, किन्तु सभ्य समाज में संस्कृति का पहिला रूप ही अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। दूसरे रूप के उदाहरण आदिम जातियों के जीवन में मिलते है। ग्रामीण जीवन में भी उसके कुछ अवशेष शेष हैं। केवल भारत वर्ष ही एक ऐसा देश है, जिसके नागरिक जीवन में भी जीवन्त संस्कृति का समृद्ध रूप मिलता

है। पर्व, संस्कार, उत्सव आदि इसके उदाहरण हैं। भारतीय जीवन में इनकी विपुलता प्रकृति और संस्कृति के अधिकतम क्षेत्र को एकाकार बनाती है।

किन्तु सामान्यत: प्रकृति और संस्कृति का इतना व्यापक सामञ्जस्य सम्भव नहीं हो सका है तथा कला, साहित्य, धर्म आदि के अभिजात और आंशिक रूप में ही संस्कृति का विकास हुआ है। प्रकृति की विशेषताएँ और सभ्यता की आकांक्षाएँ संस्कृति के इस अभिजात और आंशिक रूप को प्रमुख बनाने के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। संस्कृति के ये रूप भी जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। जीवन के अंग बनकर संस्कृति के ये रूप जीवन को मधुर और सुन्दर बनाते हैं, यद्यपि समग्र जीवन के साथ इनका समवाय नहीं होता। कला सौन्दर्य की साधना है। जीवन में अन्वित होकर वह समग्र जीवन को सुन्दर बना सकती है। कला के सौंदर्य का ऐसा व्यापक समन्वय लोक-कला और लोक-संस्कृति में ही मिल सकता है। इनमें सौन्दर्य जीवन में समाहित होता है। इनके द्वारा प्राकृतिक जीवन भी सांस्कृतिक बन जाता है। किन्तु जीवन में सौन्दर्य का ऐसा समवाय और उसका निर्वाह प्राय: कठिन होता है। सभ्यता के विकास में प्रकृति की प्रबलता सौन्दर्य की साधना को जीवन का केवल एक अंग बनाकर अभिजात कला को जन्म देती है। शास्त्र और विद्या के सहयोग से अभिजात कला में रूपगत सौन्दर्य का विकास लोक-कला और लोक-संस्कृति की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु इसी विकास के कारण वह सार्वजनीन नहीं रह जाती। सभी लोग उसकी साधना नहीं कर पाते।

साहित्य और दर्शन भी इसी प्रकार अभिजात बन जाते हैं। संगीत, नृत्य, आदि की कलाओं का रूप व्यावहारिक है। इस दृष्टि से वह अधिक सुलभ है। भाषा की कला होने के कारण साहित्य इतना सुलभ नहीं रहता। शिक्षित लोग ही उसकी साधना कर सकते हैं। साहित्य की रचना और उसका आस्वादन दोनों ही भाषा के अधिक ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, जो सबके लिए सुलभ नहीं है। दर्शन साहित्य से भी अधिक अभिजात हैं। वह एक बौद्धिक साधना है। उसमें बुद्धि के द्वारा जीवन के गंभीर तत्वों का चिन्तन होता है। यह सबके लिए सम्भव नहीं है। धर्म को

प्रचारकों ने अधिक व्यापक और लोकप्रिय बनाया है, किन्तु धर्म के वास्तविक और गम्भीर तत्व भी सुलभ नहीं हैं। साधारण लोग धर्म के आडम्बर, उपचार, और बाहरी रूपों से ही अपना सन्तोष करते रहे हैं। फिर भी प्रकट रूप से धर्म की छाया पिछले युगों में साधारण जनों के जीवन पर बहुत रही है। वर्तमान युग में विज्ञान और औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव से वह अवश्य कम होती जा रही है।

सर्वजन सुलभ न होने के कारण कला, साहित्य, दर्शन आदि को हमने संस्कृति का अभिजात रूप माना है। इनकी साधना करने वाला वर्ग अपने को अभिजात मानता रहा है। इनकी साधना के लिए अपेक्षित तथा इस साधना से प्राप्त होने वाली योग्यता भी संस्कृति के इन रूपों को अभिजात बनाती है। साधना की उत्कृष्टता अभिजात्य का ही लक्षण है। अभिजात होने के साथ-साथ संस्कृति के ये रूप इस अर्थ में आंशिक हैं, कि वे जीवन के एक अंग ही बन पाते हैं, तथा समग्र जीवन को व्याप्त नहीं कर पाते। संस्कृति के इन रूपों से अस्पृष्ट अधिकांश जीवन अपने प्राकृतिक रूप में ही चलता रहा है। उसे संस्कृति के इन रूपों का संस्कार प्राप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त संस्कृति के इन अभिजात रूपों की विशेषता यह है कि इनके अपने रूप ही प्रधान होते हैं तथा इन रूपों में विषय अथवा तत्व बनकर जीवन को समाहित किया जाता है। जीवन को प्रधान मानकर जीवन के व्यापक तत्व में इन रूपों का समवाय नहीं किया जाता। इस कारण संस्कृति के ये रूप प्रायः जीवन के कुछ अंशों को ही ग्रहण कर पाते हैं। समग्र जीवन को ये अपने सौन्दर्य और अपनी महिमा से अंचित नहीं कर पाते। जीवन के कुछ अंशों को भी ये विषय रूप में ही ग्रहण करते हैं। विषय रूप में ग्रहीत जीवन की छाया मात्र रह जाता है, उसमें साक्षात् जीवन की सजीवता नहीं रहती। संस्कृति के प्रचलित विवेचनों में संस्कृति के जिन रूपों की चर्चा मिलती है, वे संस्कृति के ये ही अभिजात और आंशिक रूप हैं।

इसके विपरीत संस्कृति का एक दूसरा रूप भी है, जो जीवन्त संस्कृति के रूप में मिलता है। यह संस्कृति का लोक सुलभ रूप है। इसमें जीवन विषय नहीं बनता वरन् जीवन के साक्षात् सजीव और समग्र

रूप में ही संस्कृति के सौन्दर्य का समवाय किया जाता है। अभिजात संस्कृति से भेद करने के लिए इसे लोक संस्कृति कह सकते हैं। लोक संस्कृति केवल वन्य, आदिम और ग्रामीण समाजों की ही संस्कृति नहीं है। वह सम्पूर्ण समाज की संस्कृति के रूप में विकसित होती है। सभ्यता के प्रभाव से नागरिक समाज उससे अलग हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि इस लोक-संस्कृति का सौन्दर्य हीन और उपेक्षणीय ही हो। पश्चिमी देशों में किसी कारण इस लोक-संस्कृति का रूप हीन रहा, अतः नागरिक समाज उससे दूर हो गया। किन्तु इससे दूर होकर पश्चिमी समाज जीवन्त संस्कृति से बहुत कुछ वंचित भी हो गया। इसी कारण पश्चिम के विद्वान अभिजात संस्कृति को ही मुख्य मानने लगे और इसी रूप में उन्होंने संस्कृति का विवेचन किया है। उनके दृष्टिकोण में लोक-संस्कृति एक आदिम और पिछड़े हुए समाज की धरोहर है।

किन्तु इसके विपरीत भारतीय परम्परा में लोक-संस्कृति अथवा जीवन्त संस्कृति का एक अत्यन्त समृद्ध और श्रेष्ठ रूप मिलता है। इसीलिए उस जीवन्त संस्कृति का नागरिक समाज में भी प्रचार है जो अभिजात संस्कृति का भी आदर करता है। अभिजात संस्कृति की साधना सभी नगरवासियों के लिए भी सुलभ नहीं है। किन्तु जीवन्त लोक-संस्कृति के सुलभ सौन्दर्य का आदर नागरिक समाज भी करता है। भारत की इस जीवन्त लोक-संस्कृति के अनेक रूप हैं। प्रतीक, पर्व, संस्कार, उत्सव, मेले, व्रत, तीर्थ-यात्रा आदि को इनमें मुख्य मानकर गिनाया जा सकता है। जीवन्त संस्कृति के ये रूप इतने व्यापक और विपुल हैं कि लगभग समग्र जीवन को आत्मसात कर ये उसे संस्कृति की सुन्दरता और महानता प्रदान करते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को समाहित कर जीवन्त संस्कृति में उन्हें सुन्दर बनाया है। भारतीय पञ्चांग में लगभग प्रतिदिन ही कोई पर्व रहता है। इनमें दीपावली, होली आदि के पर्वों में संस्कृति की रागिनी के स्वर अपनी उच्चतम परिणति पर पहुँच जाते हैं। समग्र सामाजिक जीवन ही संस्कृति का पर्याय बन जाता है। अन्य संस्कार, उत्सव आदि जीवन की रागिनी को तानों और मीड़ों से सम्पन्न बनाते हैं। भारतीय परम्परा की यह जीवन्त संस्कृति ही संसार के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण है जिसमें

जीवन के अधिकतम भाग में संस्कृति के सौन्दर्य का समवाय हुआ है तथा जीवन और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। जीवन के अधिकतम भाग में संस्कृति के इस समवाय ने भारतीय जीवन को सौन्दर्य से इतना सम्पन्न और आनन्द से इतना समृद्ध बनाया है कि इसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। जीवन की इस व्यापक समृद्धि में संस्कृति का मूल प्रयोजन (जीवन को समृद्ध बनाना) अधिकतम सीमा तक सफल हुआ है।

१५–कला और संस्कृति

संस्कृति और कला दोनों में ही रूप की प्रधानता होती है। किन्तु संस्कृति में रूप की चिरन्तनता प्रतिष्ठित होती हैं, तो कला में रूपों की नवीनता अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त कला के रूप अधिक शुद्ध और स्वतंत्र होते हैं। जीवन के तत्वों और भावों से उसका आवश्यक सम्वन्ध नहीं होता। कला के रूप की यह शुद्धता उन्हें शून्य-कल्प वना देती है। यह शून्यता सही न होने के कारण ही कला के रूप जीवन और संस्कृति का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। जीवन के तत्वों और भावों को आकार देकर वे स्वयं मूर्त्त और मांसल वनते हैं। संस्कृति के रूप कला की भांति पूर्णतः शुद्ध और स्वतंत्र नहीं होते। रूप का अतिशय संस्कृति के रूपों का भी लक्षण है। किन्तु यह अतिशय जीवन के तत्वों से अलग नहीं होता। साधारण लोक जीवन के उपकरणों और व्यवहारों में ही वे सौन्दर्य के ज्वार उठते हैं। रूप की प्रधानता होते हुए भी संस्कृति में जीवन के तत्वों का अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार संस्कृति में दर्शन और कला की सन्धि है। इसीलिए एक ओर अपने तत्वों को सौन्दर्य का रूप देने के लिए दर्शन और दूसरी ओर अपने रूपों के प्रेतों को देह और प्राण देने के लिए 'कला' ये दोनों ही संस्कृति का अवलंव लेते हैं। जीवन के तत्वों से समन्वित होने के कारण ही संस्कृति के रूप प्रतीक वन जाते हैं। प्रतीक की कल्पना में रूप और तत्व का समन्वय है। प्रकट रूप में संस्कृति के प्रतीक रूप के अतिशय-से ही प्रतीत होते हैं। किन्तु इस रूप के अंचल में जीवन के गहन तत्वों का अन्तर्भाव रहता है। विल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार की रंग-विरंगे वादलों में जल भरा रहता है अथवा रंग-विरंगे पुष्पों में रस भरा रहता है। तत्व के अन्तर्भाव से पूर्ण होने के कारण संस्कृति के प्रतीक सामाजिक रूप होते हैं। वे कला के रूपों की भांति व्यक्तिगत नहीं होते हैं। किन्तु संस्कृति व्यक्तिगत नहीं होती, वह एक सामाजिक रचना है। लोक-कला में संस्कृति और कला का समन्वय होता है। अतः उसके रूप सामाजिक होते हैं। किन्तु अभिजात कला के साधनामय रूप मूलतः व्यक्तिगत होते हैं। इसीलिए कला के शुद्ध और स्वतंत्र रूपों में भी समात्मभाव की आकांक्षा छिपी रहती है। यह समात्मभाव ही कला के शून्य रूपों को

सौन्दर्य प्रदान करता है। इस समात्मभाव से ही कला अपने नाम को सार्थक बनाती है। इससे युक्त होकर ही कला के रूप सुन्दर बनते हैं। जीवन का प्राकृतिक तत्व ही अधिकांश में व्यक्तिगत होता है। व्यक्तिगत होने के कारण कला प्राय: इस तत्व को ग्रहण करती है और प्रकृति के रमणीय आधार से अपने को मधुर बनाती है। अनेक कलाकार और कला प्रेमी इसी माधुर्य को कला का सौन्दर्य समझने की भूल करते हैं। ऐसी कला में प्रकृति के माधुर्य और कला के सौन्दर्य का संकर रहता है। जिन्हें बहुत कम लोग पृथक कर पाते हैं। प्रकृति ही यथार्थ अभिधा का विषय है। अतः ऐसी कला में सौन्दर्य केवल रूप की व्यंजना के रूप में रहता है। प्रकृति का तत्व तो अभिधेय है। अत: कला की व्यंजना में भाव का अतिशय अधिक न होकर रूप की भंगिमा के साथ प्रकृति का तत्व भी उसी प्रकार बल खाता है, जिस प्रकार वायु की तरंगों के साथ पानी में तरंगे उठती हैं। प्रकृति के कुछ तत्वों में एक ऐसा अनिर्वचनीय आस्वाद होता है कि वह अभिधेय प्रकृति में रूढ़ होने पर भी लक्षणा और व्यंजना के क्षितिजों का स्पर्श करता है। काम और शृंगार प्रकृति के ऐसे ही तत्वों में हैं। इसीलिए कला और काव्य में इन्हें विपुलता से ग्रहण किया जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि प्राकृतिक होते हुए भी काम पूर्णत: व्यक्तिगत नहीं है। वह एक मिथुन धर्म है। सम्बन्ध और भाव के अतिशय के कारण उसमें लक्षणा और व्यंजना का प्रकाश भी होता है।

किन्तु संस्कृति केवल प्राकृतिक और व्यक्तिगत नहीं है। वह अनेक व्यक्तियों के समात्मभाव में ही संभव होती है। वह एक सामाजिक भाव है, जो प्रतीकों के रूप में साकार होता है। प्रतीक रूप के ऐसे अतिशय हैं जो अपनी विशेषता में महत्वपूर्ण होते हुए भी कला के शुद्ध रूपों की भांति शून्य नहीं हैं। सामाजिक भावों और सम्बन्धों का अन्तर्निधान इन प्रतीकों को सार्थक बनाता है। किन्तु जीवन के इस सामाजिक भाव तत्व से प्रतीकों का सम्बन्ध अभिधेय तत्व के समान नहीं है। इस सम्बन्ध में लक्षणा और व्यंजना की विपुलता है। इसीलिये संस्कृति कला के अधिक निकट रहती है। कला व्यक्तिगत और अभिव्यक्ति प्रधान होती है। अतः उसमें लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना अधिक होती है। किन्तु संस्कृति एक

सामाजिक विभूति है। सामाजिकता परस्पर सम्बन्ध में ही चरितार्थ होती है। अतः संस्कृति में लक्षणा की महिमा व्यंजना से कम नहीं है। लक्षणा मूलक सम्बन्धों के विस्तार संस्कृति में बहुत महत्व पूर्ण हैं। वन्दना, आशीर्वाद, सप्तपदी आदि अनेक संस्कृति प्रतीक सम्बन्धों के रूपों में ही हैं। अन्य प्रतीक भी सम्बन्धों में ही चरितार्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त समाज के इतिहास के कितने प्रसंगों और सम्बन्धों का अनुपर्ग संस्कृति की परम्परा में अन्तर्निहित रहता है। प्रतीकों के स्वरूप और समाज की परम्परा दोनों में अन्तर्निहित सम्बन्धों की विपुलता संस्कृति के इन रूपों को लक्षणा के वैभव से सम्पन्न बनाती है। यह कहना अनुचित न होगा कि इस लक्षणा के वैभव में ही प्रतीकों की व्यंजना का सौन्दर्य खिलता है। जिस प्रकार संस्कृति में दर्शन और कला अथवा तत्व और रूपों की सन्धि है, उसी प्रकार संस्कृति में लक्षणा की विपुलता में अभिधा और व्यंजना का भी सामंजस्य है। लक्षणा के सम्बन्धों का विस्तार और व्यंजना के रूप एवं भाव का अतिशय विपुल होते हुए भी अभिधा का तिरस्कार नहीं करता। जहां कला में अभिधा और लक्षणा को तिरोहित कर व्यंजना अपने विशेष ऐश्वर्य में प्रकाशित होती है, वहां लक्षणा के विस्तार में व्यंजना का वैभव अभिधा के ऐश्वर्य पर अवलम्बित होता है। इसीलिये संस्कृति में प्रकृति के उपकरणों का विपुलता से ग्रहण किया गया है। किन्तु प्रकृति के उपादान संस्कृति के उपकरण बन कर व्यक्तिगत नहीं रह जाते। स्वार्थ से बहुत कुछ मुक्त होकर ही वे लक्षणा और व्यंजना के अनुकूल बनते हैं। समात्मभाव से मुक्त होकर प्रकृति के उपकरण सम्बन्धों के विस्तार और व्यंजना के सौन्दर्य में समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति में प्रकृति, दर्शन और कला तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का सन्तुलित समन्वय है। अभिधा के आधार के कारण संस्कृति के प्रतीकों का रूप अत्यन्त सरल है, और जीवन के साधारण व्यवहारों में ही संस्कृति के रूप साकार हुए हैं। लक्षणा की विपुलता इन प्रतीकों को समाज और इतिहास में विस्तार का वैभव प्रदान करती है। व्यंजना का सौन्दर्य संस्कृति को कला के अत्यन्त निकट ले आता है। किन्तु साथ ही लक्षणा की विपुलता और प्रतीकों के रूपों की सामाजिकता संस्कृति को कला से अलग करती है। कालिदास के काव्य की भांति जिस काव्य में लक्षणा के विपुल सम्बन्धों का सन्निधान होता है, वह कला

वन जाती है। यद्यपि सांस्कृतिक सौन्दर्य के कारण उसका सौन्दर्य और वढ़ जाता है। प्रतीकों की सामाजिकता सांस्कृतिक रूपों का एक सरल सत्य है। रचना और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से वे सामाजिक और सार्वजनिक हैं। अभिजात कलाओं के रूपों की भांति किसी विशेष कलाकार ने इन रूपों की रचना नहीं की। ये सामज के सामूहिक जीवन में किसी संयुक्त प्रेरणा से प्रसूत हुए हैं, यह निश्चित करना कठिन है। इनका अकृत होना भी इन्हें एक निसर्ग सौन्दर्य का वैभव प्रदान करता है। सामाजिक आचारों में चरितार्थ होकर संस्कृति के प्रतीक संस्कृति को दर्शन की गंभीर यमुना और कला की उज्ज्वल गंगा का पवित्र संगम बनाते हैं। संस्कृति का यह संगम ही मनुष्य जीवन का तीर्थराज है।

कला और संस्कृति दोनों में ही समात्मभाव की प्रेरणा रहती है। दोनों में सौन्दर्य की प्रधानता है और समात्मभाव सौन्दर्य को स्रोत है। किन्तु, कला और संस्कृति दोनों में समात्मभाव की स्थिति भिन्न है। एकान्त साधना बनकर अभिजात कला में समात्मभाव एक आकांक्षा और अप्रस्तुत की कामना बन गया है। कला की प्रेरणा का सजीव यथार्थ न होकर समात्मभाव एक कल्पना का अभीप्सित है। कला के सुन्दर और मार्मिक प्रसंगों में इसी रूप में समात्मभाव मिलता है। वर्तमान और वास्तविक समात्मभाव कला में वहुत कम मिलता है। जिस शृंगार की काव्य में विपुलता है, उसमें भी संयोग की अपेक्षा विप्रलंभ अधिक है। संयोग वास्तविक और संजीव समात्मभाव की स्थिति है। विप्रलंभ अभीष्ट और काल्पनिक समात्मभाव की अवस्था है। लोक-कला के स्वरूप में वास्तविक और वर्तमान समात्मभाव अधिक है। किन्तु उसके विषयों में विप्रलंभ के गीत बहुत रहते हैं। संस्कृति कला की भांति अभाव की प्रेरणा नहीं, वरन् भाव की सृष्टि है। अत: उसके स्वरूप और विषय दोनों में ही वास्तविक और वर्तमान समात्मभाव की विपुलता रहती है। संस्कृति के इस वर्तमान में अतीत का भी अन्तर्भाव है। वर्तमान स्मृति में अतीत संचित रहता है। स्मृति मानों पश्चातगामी कल्पना है। वह जीवन की विगत विभूतियों को अपने अंचल में समेट कर रखती है और इच्छा होने पर उन्हें अनेक सुन्दर रूपों में संजोती है। अप्रस्तुत होते हुए भी स्मृति की निधियां कल्पना की विभूतियों की भांति अनिश्चित नहीं हैं।

स्मृति की निधियां वे हैं, जिन्हें हम प्राप्त कर चुके हैं, और जो वर्तमान को अपने ऐश्वर्य से अलंकृत करके चिरन्तन काल को अपनी महिमा से गौरवान्वित करती हैं। कल्पना की विभूतियां वे हैं जो भविष्य की आकांक्षायें और सम्भावनायें मात्र हैं। अतः अप्रस्तुत होते हुए भी स्मृति और कल्पना की निधियों में बहुत अन्तर है। इसी अन्तर पर संस्कृति और कला का भेद भी अवलम्बित है। स्मृति अतीत को महिमा से मंडित करती है और कल्पना भविष्य के स्वप्न संजोती है। स्मृति एक परम्परा है। कल्पना को विकास कहना अधिक उचित है। स्मृति विगत भावों और प्राचीन रूपों को परिचय की आत्मीयता के द्वारा वर्तमान की सुन्दर विभूति बनाती है। कल्पना नये रूपों की रचना करती है। चिरन्तन भाव भी उन व्यक्तियों के लिए, जिन के अनुभव में वे साक्षात् नहीं हुए हैं, कल्पना के भव्य विषय बन सकते हैं। कल्पना को अपनी रचनाओं के उपकरण स्मृति से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्मृति का भी कला में बहुत योग है। मनुष्य के मन और कला दोनों का स्मृति से मुक्त होना कठिन है। अतः स्मृति के माध्यम से कला में बहुत कुछ संस्कृति ही का अंश रहता है। स्मृति के उपकरणों के नवीन रूप विधानों के द्वारा कला भी स्मृति में अपना स्थान रखती है। स्मृति और कल्पना की घनिष्टता के कारण संस्कृति और कला में भी बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

समात्मभाव की दृष्टि से दोनों में यही अन्तर किया जा सकता है कि जहां कला में अप्रस्तुत की कल्पना अधिक रहती है, और इस कल्पना के द्वारा ही समात्मभाव स्थापित किया जाता है, वहां संस्कृति साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होती है। क्रिया की दृष्टि से दोनों ही वर्तमान के व्यवसाय हैं। किन्तु लक्षण और भाव की दृष्टि से संस्कृति स्मृति के उपकरण में और कल्पना के योग से वर्तमान को सुन्दर और आह्लाद पूर्ण बनाती है। कला के लिए संस्कृति का आधार आवश्यक नहीं है। आधुनिक प्रयोगवाद की भांति बहुत सी कला कृतियां केवल नये रूपों की रचना में कृतार्थ हो सकती हैं। इतना अवश्य है कि ऐसी कला के जीवन का कोई दृढ़ अवलम्ब नहीं रहता। अतः वह रूप के सौन्दर्य के आधार पर ही जी सकती है। संस्कृति की परम्परा में उसकी जड़ें न होने के कारण प्रायः इस कला के रूप-कुसुम शीघ्र ही बिखर जाते हैं। इसीलिये

कला के वे ही रूप स्थायी रहे हैं, जो अपने कलात्मक सौन्दर्य में संस्कृति के तत्वों और रूपों को आकार दे सके हैं। संस्कृति की परम्परा के अतिरिक्त दर्शन के चिरन्तन सत्य ही ऐसे तत्व हैं, जिनका अवलम्ब लेकर कला के रूप स्थायी हो सकते हैं। जीवन की परम्परा में रूढ़ रहने के कारण संस्कृति के चिरन्तन रूप अधिक स्थायी रहते हैं। साक्षात् समात्मभाव का रस उनकी जड़ों को निरन्तर सींचता रहता है। यदि वनस्पति जगत से उपमा लेकर संस्कृति और कला का भेद स्पष्ट किया जाय, तो यह कह सकते हैं, कि कला उन मौसमी पादपों के समान है, जो प्रति वर्ष नए लगाए जाते हैं और थोड़े दिन फूलों से खिलते हैं, तथा संस्कृति उन विशाल वृक्षों के समान है, जो दीर्घ जीवी होते हैं तथा प्रति वर्ष नए फल-फूल देते रहते हैं। यदि केवल नए पल्लवों और फूलों को सौन्दर्य के संकेत के लिए पर्याप्त मान लिया जाय तो वट का दीर्घजीवी वृक्ष संस्कृति का सबसे उत्तम उपमान है। कला के रूप परिवर्तनशील होने के साथ-साथ अपना सर्वत्र अस्तित्व और महत्व रखते हैं। रूप की दृष्टि से अनेक सांस्कृतिक रूपों को भी कलात्मक कहा जा सकता है। संस्कृति में कुछ व्यवहार और आचार के रूपों का भी ग्रहण होता है। किन्तु रूप की दृष्टि से इन्हें भी कलात्मक रूपों से पृथक करना कठिन होगा। चिरन्तन और स्थायी बन कर ये रूप संस्कृति के आधार बनते हैं। साक्षात् और सामाजिक समात्मभाव की चिरन्तन परम्परा में ये रूप स्थायी होते हैं। रूपों की चिरन्तनता और सामाजिक समात्मभाव की साक्षात् व्यापकता ही संस्कृति को कला से पृथक करने वाले दो प्रमुख लक्षण हैं। लोक-कला में इनका सन्निधान अधिक होने के कारण वह संस्कृति के अधिक निकट है।

वर्तमान की प्रधानता और साक्षात् समात्मभाव के कारण संस्कृति जीवन के अधिक निकट है। जीवन का साक्षात् रूप भावात्मक अधिक है, यद्यपि जीवन की वेदना और कल्पना में अभाव की प्रेरणा भी बहुत रहती है। भाव का अतिरेक आनन्द में उमड़ता है, और अभाव कल्पना की आकांक्षा को प्रेरित करता है। कला की सृष्टि और अभिव्यक्ति इसी प्रेरणा से दीपित होती है। केवल रूप के अतिशय में भी एक सौन्दर्य है। रूप का अतिशय अभिव्यक्ति को प्रखर बनाता है। इस प्रखरता में ही

भाव तत्व और उपकरण सौन्दर्य नहीं है। एकान्त के अभाव में काल्पनिक समात्मभाव इस सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व रखते हुए भी कला के रूप का सामाजिक महत्व अधिक नहीं होता। इसी कारण कला के रूप निरन्तर नवीनता में अपने सौन्दर्य को उसी प्रकार बनाये रखते हैं, जिस प्रकार प्रेम से वंचित तरुणी अपना भेष बदल-बदल कर अपने आकर्षण को बनाये रखने का प्रयत्न करती है। जीवन का सौन्दर्य अनुभूति से साक्षात् होकर आनन्द से फलित होता है। कला का सौन्दर्य अभिव्यक्ति में अधिक रहता है। क्रोचे के समान अभिव्यक्ति को आन्तरिक तथा अभिव्यक्ति और अनुभूति को समानार्थक मान लेने पर कला कृतियों की बाह्य अभिव्यक्ति निरर्थक हो जाती है। अनुभूति के सौन्दर्य को आनन्द से पृथक करना कठिन है। संस्कृति का सौन्दर्य की रूप पर अवलम्बित है। किन्तु वह साक्षात् अनुभूति के आनन्द से अभिन्न है। जिस प्रकार संस्कृति के रूप सार्वजनिक हैं, उसी प्रकार सांस्कृतिक सौन्दर्य की आनन्दमयी अनुभूति भी व्यक्तिगत न होकर सामाजिक समात्मभाव में फलित होती है। कला का सौन्दर्य अत्यन्त सीमित समात्मभाव में भी सम्भव हो सकता है। किन्तु सांस्कृतिक सौन्दर्य के लिए सामाजिक समात्मभावों की व्यापक भूमिका अपेक्षित है।

इस प्रकार संस्कृति कला की अपेक्षा अधिक सामाजिक है। सामाजिक होने के साथ-साथ वह कला की अपेक्षा अधिक भावात्मक भी है। कलाकारों के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि अधिकांश कला अभाव से ही प्रेरित हुई है। इसी कारण कला के अधिकांश सौन्दर्य में वेदना और वियोग का योग अधिक है। जिनका जीवन कुछ भाव प्रचुर रहा है, उनकी कला का सौन्दर्य बहुत मन्द है। उसमें उस कला के सौन्दर्य की प्रखरता नहीं है, जो अभाव से प्रेरित हुई है। अभाव से प्रेरित कला का सौन्दर्य काल्पनिक समात्मभाव में अधिक प्रखरता से प्रकाशित होता है। इसके विपरीत संस्कृति का सौन्दर्य भाव के अतिशय में उमड़ता है। इसलिए संस्कृति की क्रियाएँ साक्षात् समात्मभाव में सम्पन्न होती हैं। संस्कृति में रूप का अवलम्ब होते हुए भी कला के समान रूपों की नवीनता संस्कृति को अभीष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानों अभाव कला के नये-नये रूप में अपना सन्तोष

खोजता हो। भाव से प्रसूत होने के कारण संस्कृति में ये परिवर्तन अपेक्षित नहीं हैं। सम्पन्न और सन्तुष्ट व्यापारी या धनी वर्ग में कला का वास्तविक अनुराग कम देखने में आता है। इससे भी कला की अभाव मूलकता का संकेत मिलता है। कला की अपेक्षा धनिकों की संस्कृति में अधिक रुचि होती है। इसलिए नहीं कि वह उनके निहित स्वार्थों की रक्षा करती है, वरन् इसलिए की वह उनके भावमूलक जीवन को आनन्दमय बनाने का अधिक अनुकूल माध्यम है। सभी प्रकारों की समृद्धि जीवन के भौतिक और बाहरी अभावों को दूर करती है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से न सही, किन्तु भौतिक साधनों के अर्थ में तो समृद्धि जीवन को भावात्मक आधार देती है। मन के कुछ भाव तो अभाव की व्यवस्था में भी अधिक तीव्रता से जाग्रत होते हैं। किन्तु ये भाव सम्भवतः जीवन की पूर्णता के धरातल से नीचे के भाव हैं, जो समृद्धि के द्वारा जीवन के अभाव दूर होने पर नहीं रहते। इसीलिए समृद्धि जनों की रुचि कला में बहुत कम होती है। वे कला का पोषण अलंकार और अभिमान की दृष्टि से अधिक करते हैं। कला के प्रति उनका वास्तविक अनुराग कम होता है। अभाव केवल भौतिक ही नहीं होते, वे मानसिक भी होते हैं। मनोभावों के रूप में भी मनुष्य कुछ चाहता है। वह उसको नहीं मिल पाता, तो अभाव का अनुभव करता है। गौरव, स्नेह, सम्बन्ध आदि अनेक रूपों में मनुष्य की ये मानसिक आकांक्षाएँ अपनी पूर्ति चाहती हैं। वास्तविक जीवन में यह पूर्ति न मिलने पर मनुष्य कल्पना के द्वारा इसकी पूर्ति करता है। मन के अभावों की पूर्ति का प्रयास बहुत कुछ कला को प्रेरणा देता है। इस प्रयास में कला के अन्तर्गत विकृतियाँ भी पैदा होती हैं, जो आधुनिक युग में बहुत बढ़ रही हैं। मनोविलास के रूप में विकृति सभी युगों की कलाओं में मिल सकती है। भौतिक समृद्धि होते हुए भी प्रायः जीवन में मानसिक विषमताएँ और मानसिक अभाव रहते है। इसीलिए इस अभाव की पूर्ति करने वाली कला में कुछ लोगों की रुचि रहती है। किन्तु पूर्ति का यह मार्ग भी उन्हीं के लिए आवश्यक होता है, जिनके लिए विकृति के भी व्यवहारिक मार्ग आर्थिक और सामाजिक कठिनाईयों के कारण रुके रहते हैं।

अस्तु सभ्यता में कला और उसके प्रति अनुराग बहुत दुर्लभ है। कला और संस्कृति के स्वरूप के कुछ लक्षणों में बहुत अन्तर है। किन्तु

उनका समन्वय भी सम्भव है। जीवन के कुछ अभावों की आकांक्षाएँ भी संस्कृति के साथ संगत हो सकती हैं, किन्तु उनके प्रति विकृति दृष्टिकोण की संगत संस्कृति के साथ नहीं हो सकती। रूप और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य कला का मूल लक्षण है। उसका संस्कृति में समन्वय हो सकता है। किन्तु अभाव की अपेक्षा संस्कृति में भाव का योग अधिक रहता है। भौतिक और मानसिक दोनों ही क्षेत्रों में भाव की प्रचुरता के पीठ पर संस्कृति के पर्व प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार एक दृष्टि से जहाँ कला का अन्त होता है, वहाँ संस्कृति का आरम्भ होता है। भौतिक समृद्धि और मानसिक भाव प्रचुरता की भूमि पर ही सांस्कृतिक उल्लास के निर्झर बहाते हैं। इसीलिए अनेक पर्वों का सम्बन्ध उन अवसरों से है, जिनमें मनुष्य का श्रम, आर्थिक वैभव के रूप में सफल होता है, और समृद्धि के द्वार पर वह सामाजिक सम्बन्धों का स्वागत करता है। आर्थिक समृद्धि भौतिक अभावों को दूर करती है, और सामाजिक सम्बन्ध मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। कला की जो कल्पना अभाव में पलती है, वह समृद्धि और सम्बन्धों के इस भाव को सहन नहीं कर पाती। इसीलिए इन्हें पाकर कला का अन्त हो जाता है। अभावों में पलने वाले न जाने कितने कलाकारों की कला का अन्त समृद्धि और सम्बन्धों द्वारा पूर्ति होने पर हुआ है। प्रायः कला का वही रूप जो जीवन की भावात्मक स्थिति में उदय होता है, वही संस्कृति के साथ अधिक घनिष्टता से संगत हो सकता है। भारतीय संस्कृति के सजीव रूप में भावात्मक कला का ही समन्वय अधिक है। भावात्मक कला के सौन्दर्य में आनन्द का उदय होता है। अभाव की कला का आनन्द काल्पनिक अधिक होता है। हम कल्पना को भी अनुभव मान लें, ये दूसरी बात है। किन्तु वह जीवन की भाव सम्पन्नता के अर्थ में यथार्थ नहीं होती, आनन्द का वास्तविक रूप भावात्मक अनुभूति है। वह आनन्द पूर्णता के धरातल के ऊपर समुद्र के ज्वार की भाँति छलकता है। आनन्द के इस उद्रेक में ही संस्कृति की पूर्णिमाओं के पर्व सम्पन्न होते हैं।

अस्तु संस्कृति का कल्प वृक्ष जीवन की उस भावात्मक भूमि पर उगता है, जिस तक बहुत कम कला पहुँचती है। अधिकांश कला इस भूमि तक पहुँचने पर काल्पनिक प्रयास रहती है। अनेक कलाकारों की

प्रेरणा इस भूमि-तल तक पहुँचने पर मन्द हो जाती है। जीवन की भावात्मक भूमि पर भी कला की सृष्टि सम्भव है। किन्तु कला का यह रूप तभी श्रेष्ठ और प्रखर हो सकता है जब उसमें सामाजिक समात्मभाव का सन्निधान विपुल परिमाण में हो, अन्यथा भावात्मक भूमि की कला भी मध्यकाल के संस्कृत और हिन्दी काव्य की भाँति बौद्धिक चमत्कार अथवा विलास का रूप लेगी। ऐसी कला संस्कृति की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हो सकती। वाल्मीकि और कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत और सांस्कृतिक काव्य बहुत कम हैं। कालिदास का सांस्कृतिक काव्य भी युग की शृंगार भावना से सबल है। हिन्दी में सांस्कृतिक काव्य बहुत दुर्लभ हैं। तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ के समान भक्ति और आध्यात्म का काव्य भी बहुत कुछ भावात्मक भूमि का ही काव्य है। बौद्धिक चमत्कार और बौद्धिक विलास के अतिरिक्त भावात्मक भूमि के काव्य की ये तृतीय कोटि है। चमत्कार और विलास की प्राकृतिक रमणीयता से मुक्त होने के कारण भक्ति और अध्यात्म का काव्य संस्कृति के अधिक निकट है। इस निकटता के कारण प्रायः इस काव्य को सांस्कृतिक समझने की भूल भी की जाती है। संस्कृति के कुछ बिखरे हुए तत्व इस काव्य में मिल जाते हैं। वे इस भ्रम को और बढ़ाते हैं। इसमें सन्देह नहीं है, कि कला और काव्य का धार्मिक और अध्यात्मिक रूप भावात्मक रूप की कला के अन्य दो रूपों की अपेक्षा अधिक सांस्कृतिक है। किन्तु प्रधानतः सांस्कृतिक कला वही मानी जाएगी, जिसमें कला के रूप के साथ संस्कृति के रूपों का विपुल समन्वय हो। कालिदास के काव्य के अतिरिक्त ऐसी कला का उदाहरण मिलना कठिन है। कालिदास का काव्य एक सम्पन्न युग और कलाकार की सम्पन्न स्थिति का काव्य है। अतः उसमें भावात्मक तत्व की ही प्रधानता है। किन्तु अभाव की विषमताओं और वेदनाओं का संस्कृति से कोई द्वेष नहीं है। संस्कृति की भावात्मक भूमिका अभाव की वेदनाओं को अपने उदार अंचल में समेट कर कला और संस्कृति को और अधिक मार्मिक बना सकती है। किन्तु अभाव की विषमता और वेदनाओं के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण के द्वारा ही अभाव की प्रेरणा का अन्वय संस्कृति में हो सकता है। यह भावात्मक दृष्टि-कोण रचनात्मक और सामाजिक होता है। अभाव और वेदना के व्यक्तिगत अहंकार की निष्क्रिय अतिरंजना जो कि हिन्दी के आधुनिक

काव्य में बहुत पायी जाती है, अभाव की प्रेरणा को संस्कृति के साथ संगत नहीं बना सकती। व्यक्तिगत अहंकार की अतिरंजना में अभाव की वेदना एक काल्पनिक विलास बन जाती है। ऐसी व्यक्तिगत आत्म-लीनता संस्कृति के अनुकूल नहीं है। जीवन की भावात्मक और सामाजिक भूमि पर अभाव की विषमताओं को अपनी रचनात्मक प्रेरणाओं में समेट कर कला का सौन्दर्य संस्कृति में समन्वित होता है।

यह रचनात्मक संस्कृति की एक दूसरी विशेषता है। कला को भी रचनात्मक मानते हैं। कला भी भाव और रूप की रचना है। इसमें सन्देह नहीं, किन्तु कला का यह कृतित्व मानसिक और काल्पनिक अधिक है। नृत्य, संगीत, चित्र आदि की कलाओं में जो साक्षात् कृतित्व होता है, वह भी जीवन का केवल एक अंग है। संस्कृति कला की भाँति एकांगी नहीं है। उसमें जीवन का कृतित्व समग्र और साक्षात् रूप में समाहित है। संस्कृति जीवन का साक्षात् और सुन्दर रूप है। जीवन कृतिमय है। जीवन का समग्र कृतित्व जब सौन्दर्य से अंचित होता है, तो जीवन का साक्षात् रूप ही जीवन बन जाता है। कला और संस्कृति की रचनात्मकता में यह अन्तर है कि जहाँ कला का कृतित्व जीवन की अन्य क्रियाओं में चरितार्थ होता है, वहाँ संस्कृति का कृतित्व जीवन की साक्षात् क्रियाओं में ही सफल होता है। इन क्रियाओं में ही कलात्मक सौन्दर्य का अन्वय इसके कृतित्व को संस्कृति बनाता है। यह कलात्मक रूप की अभि-व्यक्ति है, यद्यपि संस्कृति के रूप नवीन नहीं वरन् चिरन्तन होते हैं। कला का कृतित्व रूप और भाव की रचना में ही समाप्त हो जाता है। किन्तु संस्कृति का कृतित्व रूप और भाव की रचना को जीवन के साक्षात् और सामाजिक आचारों में समाहित करता है। इससे संस्कृति जीवन का साक्षात् और सुन्दर रूप बन जाती है। इसी कारण प्रकृति की प्रकृतियों और उसके उपकरणों की संगति संस्कृति में अधिक सफलता से होती है। इनकी विपुलता जहाँ कला को संस्कृति से दूर करती है, वहाँ यह विपुलता संस्कृति को अधिक सजीव बनाती है। इसका कारण यह है कि संस्कृति का रूप और भाव प्रकृति की प्रवृतियों और उसके उपकरणों का उन्नयन तथा संस्कार करता है। किन्तु कला के सम्बन्व प्रकृति के भाव कला के रूप को अभिभूत करके उसे संस्कृति से दूर ले

जाते हैं। कला की रचनात्मकता प्रायः जीवन को भुलाती और जीवन से दूर ले जाती है। संस्कृति की रचनात्मकता हमें जीवन के अधिक निकट लाती है, तथा जीवन को सौन्दर्य और श्रेय के भावों से सम्पन्न बनाती है। जहाँ कला के सौन्दर्य में सम्मोहन अधिक है, वहाँ संस्कृति के सौन्दर्य में उल्लास और प्रेरणा अधिक है। नवीन रूपों की रचना होते हुए भी कला में प्रेरणा बहुत कम होती है। विश्व की प्रगति में कला का बहुत कम योग है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रगति की प्रेरणा बनने की अपेक्षा कला प्रगति के अवरोध का कारण अधिक रही है। कला का सम्मोहन कृतित्व से विरत करता है, किन्तु सांस्कृतिक सौन्दर्य जीवन के साक्षात् कृतित्व में अन्वित होने के कारण चिरन्तन रूपों की आराधना होते हुए भी समाज की प्रगति में निरन्तर प्रेरणा देता है।

जीवन की क्रियाओं, जीवन के भावों और सम्बन्धों का समन्वय कला की अपेक्षा संस्कृति में अधिक साक्षात् रूप से हुआ है। ये कला के आवश्यक उपकरण नहीं हैं। कला का रूप इनसे स्वतंत्र भी हो सकता है। किन्तु संस्कृति का सौन्दर्य इन्हीं के माध्यम से साकार होता है। रूप की रचना होते हुए भी कला स्वरूप से गतिशील अथवा क्रियात्मक नहीं है। उसके सम्मोहक सौन्दर्य में अगति अथवा स्थिरता अधिक है। मानों कला सौन्दर्य के कुछ क्षणों को स्थिर बनाने का प्रयास है। इसीलिए कला में ओज की अपेक्षा प्रसाद माधुर्य के गुण अधिक मिलते हैं। संस्कृति के उल्लास और उत्साह में प्रसाद और माधुर्य के साथ ओज की क्रांति भी रहती है। संस्कृति के सामाजिक समात्मभाव में रचना की प्रेरणा भी रहती है। संस्कृति स्वयं रचनात्मक ही नहीं है, वह रचना की प्रेरणा भी है। इस प्रेरणा के द्वारा ही संस्कृति के सुन्दरम् में शिवम् का संगम होता है। सुन्दरम् रूप और भाव की मनोहर सृष्टि है। शिवम् भाव की सृष्टि के साथ-साथ सृष्टि की प्रेरणा भी है। संस्कृति की रचनात्मकता का रूप कला की अपेक्षा अधिक पूर्ण और प्रगतिशील है। इसीलिये कला की वैसी परम्परा नहीं होती जैसी की संस्कृति की परम्परा होती है। कला की परम्परा की प्रेरणा स्वयं में नहीं, वरन् कलाकारों की व्यक्तिगत मनः स्थितियों में रहती है। इसीलिए कला की परम्पराएँ निरन्तर बदलती रहती

हैं। संस्कृति की परम्परा प्राय: एकसी बनी रहती है, क्योंकि संस्कृति के स्वरूप में ही रचनात्मक प्रेरणा निहित है।

सामाजिक समात्मभाव की विपुलता और भावात्मक भूमि की दृढ़ता के कारण लोक-कला अभिजात कला की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट है। किन्तु सौन्दर्य का सम्मोहन उसमें भी कला के अन्य रूपों के समान है। इसी दृष्टि से लोक-कला भी संस्कृति का केवल एक अंग है। जीवन की भावात्मक, सक्रिय और सामाजिक स्थिति में अन्वित होने पर ही लोक-कला संस्कृति के अधिक निकट आ जाती है। लोक-कला संस्कृति के रूपों को कला के आकार में अन्वित करती है, तथा कला को साँस्कृतिक बनाती है। फिर भी वह कला ही है, संस्कृति नहीं। इसके विपरीत संस्कृति अपने चिरन्तन रूपों के सौन्दर्य में कला के सौन्दर्य को समाहित कर अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है। लोक-कला को हम संस्कृति और कला की सन्धि कह सकते है। यद्यपि उसमें कला का सौन्दर्य ही प्रधान रहता है।

कला और संस्कृति में एक और अन्तर है। यद्यपि सिद्धान्ततः कला इस दृष्टि से सार्वभौम है, कि सभी उसके सौन्दर्य में भाग ले सकते हैं। बालक और किशोर भी कला की शिक्षा और प्रदर्शन के योग हैं। फिर भी अधिकांश कला में प्रौढ़ों का ही साम्राज्य है। इसकी रूप रचना का कौशल इतना समय चाहता है कि उसे प्राप्त करने तक मनुष्य प्रौढ़ हो जाता है। बालकों और किशोरों का कला में बहुत कम स्थान है। रूप-रचना के कौशल से वंचित प्रौढ़ भी उसमें कोई स्थान नहीं रखते। इसके विपरीत संस्कृति अधिक उदार और व्यापक अंश में सार्वजनिक है। उसमें बच्चे, बूढ़े, युवक, प्रौढ़, स्त्री, पुरुष, धनी, निर्धन सबके लिए समान स्थान है और सब उसके आनन्द में समान भाग ले सकते हैं। सांस्कृतिक अवसरों की योजना में प्रौढ़ों पर कुछ अधिक भार रहता है। इस दृष्टि से बालक और किशोर सांस्कृतिक पर्वों में अधिक उल्लास पाते हैं। इसके विपरीत कला प्रौढ़ों का विलास अधिक है। इस दृष्टि से भी संस्कृति में आत्मदान का शिवम् कला की अपेक्षा अधिक है। कलाकारों के बीच कला चाहे समानता का सूत्र हो किन्तु दूसरों के लिए वह भेद की रेखा बनाती है। संस्कृति अपने उदार अंचल में बालकों और किशोरों को अधिक गौरव का स्थान देकर अपनी शिवत्व की प्रधानता चरितार्थ करती है।

कुछ कलाशास्त्री कला में एक ऐसा चमत्कार देखते हैं, जिसके द्वारा वह वासनाओं, उद्वेगों और विषमताओं का शमन करके शांति और श्रेय का पथ प्रशस्त करती है। कला के रूपगत सौन्दर्य की तन्मयता का कुछ समय के लिए ऐसा प्रभाव होता है किन्तु कला में स्वरूपतः वासनाओं का परिष्कार और व्यक्तित्व का उत्कर्ष करने की शक्ति है। यह सन्देह का विषय है कि कला के सौन्दर्य का सम्मोहन मनुष्य को तन्मय और विमुग्ध बनाता है। सौन्दर्य की यह तन्मयता एक निष्क्रिय आनन्द है। इस निष्क्रियता के कारण कलाकारों की रुचि सभी प्रकार के कर्मों में कम होती है। इस कारण उन अनीति के कर्मों में भी उनकी प्रवृत्ति कम होती है, जिनमें दूसरों को अधिक अपराधी पाया जाता है। इस दृष्टि से कला के प्रभाव में सहज नैतिक गुण माना जा सकता है। किन्तु कलाकारों में कुछ ऐसे नैतिक दोष भी मिलते हैं, जो सामान्यतः लोगों में उनकी अपेक्षा कम होते हैं। सौन्दर्य एक अध्यात्मिक मूल्य है, उस मूल्य को पाकर कलाकार अपने जीवन को सम्पन्न मानता है। कला की निधि से उसके मन का कोष-पूर्ण रहता है। अतः साधारण कलाकारों को धन के प्रति इतना मोह नहीं रहता, जितना की दूसरों लोगों को होता है। सौन्दर्य की निधि पाकर वह अपने को इतना श्रीमन्त मानता है कि व्यक्तित्व के गौरव के लिए वह अन्य किसी वैभव को आवश्यक नहीं मानता। इसीलिये रहन-सहन, वेष-भूषा, धनोपार्जन आदि की ओर से इसका दृष्टिकोण ऐसा होता है कि हम उसे उदासीन अथवा फक्कड़ कह सकते हैं। इसीलिए आर्थिक अनीति अथवा अपराध कलाकारों में बहुत कम मिलते है। इस आर्थिक उदासीनता तथा स्वभाव की मस्ती के कारण कलाकारों के दूसरों के साथ लड़ाई-झगड़े और संघर्ष भी बहुत कम होते हैं। किन्तु कलाकारों की यह शांतिप्रियता पूर्णतः भौतिक गुण नहीं है। उसमें कलाकार की स्वभावगत दुर्बलता का योग भी हो सकता है। कला का अनुराग एक कोमल वृत्ति है। इसलिये कलाओं के सौन्दर्य में माधुर्य की प्रधानता है। माधुर्य की दृष्टि से जिसे कोमलता कहा जाता है वह ओज की दृष्टि से दुर्बलता ठहरती है। सौन्दर्य के तेजस्वी रूप की साधना बहुत कम कलाकारों ने की है। कोमलता के कारण कलाकार युद्ध और संघर्ष से ही नहीं अन्य कठिन कर्मों से भी दूर रहता है, जिनमें श्रम और साहस की आवश्यकता है। इस दृष्टि से यदि कला को कोमलता का

विकास कहा जाय तो अनुचित न होगा। संघर्ष से दूर रहने में कलाकार की शान्तिप्रियता ही नहीं, उसकी कोमलता-जन्य दुर्बलता भी कारण है। इस दुर्बलता के कारण ही जहां कलाकारों ने युद्ध और क्रांति के गीत बहुत गाये हैं, वहां इनमें साक्षात् भाग और भी कम लिया है। चन्दवरदाई के समान युद्ध में वीर राजाओं का साथ देने वाले कवि और कलाकार बहुत कम हुए हैं। सामाजिक अनीतियों के प्रति होने वाली क्रान्तियों में भी उन्होंने बहुत कम भाग लिया है।

फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि किसी भी कारण से सही आर्थिक अनीति और लड़ाई झगड़े से दूर रहकर कलाकार प्रायः सौन्दर्य की साधना करते हैं। चाहे इसका कारण निषेधात्मक ही हो, चाहे उद्योग के प्रति अनुत्साह और दुर्बलता ही उनकी शान्तिप्रियता के कारण हों, किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि अधिकांश कलाकार अर्थलोलुपता और अशान्तिमय संघर्षों से दूर रहते है। इस दृष्टि से कला में कुछ नैतिक प्रभाव माना जा सकता है। किन्तु दो अन्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रायः कलाकार साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक दोषी ठहरते हैं। ये प्रवृत्तियां अहंकार और काम हैं। सभी मनुष्यों में ये स्वाभाविक होती हैं। किन्तु धर्म, कला आदि का यह दम्भ झूठा है कि वे नई प्रवृत्तियों का शमन कर सकते हैं। काम की दृष्टि से कलाकार साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक रसिक होते हैं। चित्र-कला, नृत्य, संगीत आदि के अधिकांश भाव और विषय ही प्रमाणित करते हैं कि काम का अनुराग कलाकारों में साधारण लोगों से अधिक होता है। कलाकारों का मानसिक विलास तो कला के भावों और विषयों से ही प्रमाणित किया जा सकता है। व्यावहारिक विलास का दोषारोपपण भी प्रायः कलाकारों पर किया जाता है, जो नितान्त निराधार नहीं है। विलास के सहयोगी अन्य व्यसन भी अनेक कलाकारों में मिलते हैं। काम की भांति अहंकार भी कलाकारों में अधिक मिलता है। वे अपने को साधारण लोगों से श्रेष्ठ समझते हैं। एक कलाकार दूसरे कलाकार की प्रशंसा अथवा ख्याति सह नहीं सकता। कलाकारों में काम और अहंकार की वृत्तियों के अधिक प्रबल रहने पर यह कहना, कि कला वासनाओं को शान्त करती है और सहज रूप में नैतिक श्रेय का सम्पादन करती है, उचित नहीं है। कला के अनुरागियों में कला

किन्हीं नैतिक संस्कारों का उद्भावन करती है, यह कहना भी ठीक नहीं है। कला के अधिकांश विषय और भाव वासनाओं से पूर्ण हैं। कला के रूपगत सौन्दर्य की अपेक्षा साधारण जनों के लिए कला में वासना का आकर्षण अधिक महत्वपूर्ण रहता है। कलाकारों के लिए मनोविश्लेषणवाद का यह आरोपण पूर्णतः अनुचित नहीं है कि कलाकार सौन्दर्य की छाया में अपनी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति करते हैं। कलाकार और कलानुरागी दोनों प्रायः काल्पनिक मनोविलास के द्वारा अपनी अतृप्त वासनाओं का सन्तोष करती हैं। नैतिकतावादियों के कला की ओर से सन्देह पूर्णतः निराधार नहीं है। सौन्दर्य की तन्मयता के द्वारा यदि कला प्रवृत्तियों को मन्द बनाती है तो यह भी कला का कोई नैतिक संस्कार नहीं है वरन् एक प्रकार का निषेधात्मक फल है। सौन्दर्य में तन्मय होकर मन की वृत्ति कुछ काल के लिये वासनाओं से विरत हो सकती है। किन्तु कला का यह प्रभाव निषेधात्मक होने के कारण किसी नैतिक संस्कार का निर्माण नहीं करता। वस्तुतः यह एक प्रकार का पलायन है। कला में यह पलायन बहुत मिलता है। इस पलायन में यदि एक ओर कुछ प्रवृत्तियों से विरति है, तो दूसरी ओर कुछ अन्य प्रवृत्तियों में अतिरंजित रति के द्वारा सन्तोष की खोज रहती है।

सत्य यह है कि रूप की अभिव्यक्ति के अर्थ में कोई नैतिक संस्कार कला का आवश्यक लक्ष्य नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्वरूप से कला निरपेक्ष है। कला की यह निरपेक्षता इन वासनाओं का शमन नहीं करती, तो दूसरी ओर वासनाओं का उत्तेजन भी कला का धर्म नहीं है। मनुष्य की प्रकृति ही अपने स्वभाव के प्रभाव से कला को वासना का माध्यम बनाती है। कला रूप प्रधान है। उसमें वासनात्मक भाव और विषयों का सन्निधान मनुष्य ने अपने स्वभाव से विवश होकर किया है। कला का शुद्ध स्वरूप निरपेक्ष है किन्तु ऐतिहासिक कला में वासना का दोष अधिक है। प्रकृति का संस्कार और उन्नयन एक कठिन कार्य है। प्रकृति की प्रबलता ही इसमें सबसे अधिक बाधक है। व्यक्तिगत तप की निष्ठा और सामाजिक सद्भाव का शील ये दो प्रकृति के संस्कार में विशेष सहायक हैं। कला की साधना स्वयं एक तप है, किन्तु प्रकृति के संस्कार के योग और तप का कला में कोई स्थान नहीं है। सामाजिक दुर्भाव

के लिए कला में स्थान नहीं है। किन्तु विशेष रूप से यह सद्भाव का घोषण नहीं करती। वस्तुतः कला का रूप-प्रधान स्वरूप प्राकृतिक प्रवृत्तियों की ओर से उदासीन है। यह उदासीनता यदि प्रकृति का उत्ते-जन नहीं करती तो प्रकृति के संस्कार और उन्नयन में भी कोई योग नहीं देती, नैतिक चरित्र के निर्माण अर्थात् प्रकृति के संस्कार और उन्नयन के लिये प्रकृति के प्रति अधिक सक्रिय दृष्टिकोण अपेक्षित है। इस दृष्टिकोण के तीन पक्ष हैं। सबसे पहली बात प्रकृति का स्वीकरण है। कला सम्भवतः धर्म और अध्यात्म की भांति आदर्शवादी नहीं है। वह प्रकृति की भर्त्सना और उपेक्षा नहीं करती है, किन्तु साथ ही प्रकृति के स्वीकरण के योग्य यथार्थवाद भी कला में स्पष्ट नहीं है। दूसरी बात विकृतियों की सम्भा-वनाओं को रोकना है। यह एक मर्यादा के अन्तर्गत प्रकृति के परितोष और विकृतियों की दिशाओं में मर्यादा की अर्गला के द्वारा संभव होता है। ऐसी कोई मर्यादा कला के स्वरूप का अंग नहीं है। तीसरी बात कुछ सरल भावों के द्वारा अलक्षित रूप से प्रकृति का श्रेष्ठ आदर्शों में अन्वय है। संस्कृति में प्रकृति के संस्कार और उन्नयन के उक्त तीनों ही तत्व विद्यमान होते हैं। इन तीनों तत्वों की त्रिवेणी संस्कृति को सौन्दर्य, शील और सत्यता का तीर्थ बनाती है। ये तीनों तत्व भी संस्कृति को कला से पृथक करते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रतीकों, पर्वों, संस्कारों, व्रतों आदि में इन तीनों तत्वों का विपुल सामंजस्य मिलता है। कला के रूपों में चरि-तार्थ होने वाले प्रतीक प्रकृति के आधारों में उन भावों की प्रतिष्ठा करते हैं, जो प्रकृति के संस्कार और उन्नयन का पथ प्रशस्त करते हैं। संस्कारों का उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकृति का ग्रहण करके उसका परिष्कार करना है। व्रतों की व्यक्तिगत साधना में तप का समावेश है, जो प्रकृति के संस्कार के लिए संयम और मर्यादा की आवश्यक भूमिका बनाता है। प्रकृति के स्वीकरण, संस्करण और उन्नयन की त्रिवेणी के तीर्थ में ही पर्वों के पवित्र और आनन्दमय उत्सव सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार संस्कृति की योजना में प्रकृति के संस्करण और उन्नयन की सक्रिय प्रेरणा है, जो संस्कृति को कला से पृथक करती है।

१६–प्रकृति और संस्कृति

संस्कृति आधुनिक युग का धर्म बन रही है। प्राचीन काल में जो धर्म का मान और महत्व था वही आज संस्कृति को प्राप्त है। धर्म को ग्रहण करने में लोग जिस प्रकार का गर्व अनुभव करते थे उसी प्रकार के गर्व के साथ आज संस्कृति को अपनाया जा रहा है। धर्म के समान ही संस्कृति का प्रचार हो रहा है। केवल एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि धर्म के नाम पर पहले जो अत्याचार होते थे उनके लिए संस्कृति के प्रचार में स्थान नहीं है। इसका कारण कुछ तो समय का भेद है, किन्तु धर्म और संस्कृति के स्वरूप का भेद भी है। संस्कृति एक लौकिक वस्तु है। उसमें प्राचीन धर्म के समान अत्याचारों के लिए ईश्वरीय प्रेरणा नहीं है।

पिछले वर्षों में पूर्वी देशों की स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बढ़ने के कारण सभी देशों में सांस्कृतिक जागरण अधिक दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है धर्म से निराश होकर मानवता अपनी रक्षा के लिए संस्कृति का अंचल पकड़ रही है। यह सांस्कृतिक जागरण मुख्यतः राजधानियों में उत्सवों और प्रदर्शनों के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। आए दिन किसी न किसी अवसर के निमित्त से लोक-गीतों, लोक-नृत्यों आदि के रूप में लोक संस्कृति के उन्नयन के आयोजन होते हैं। सरकार और शिक्षित जनता दोनों ही लोक संस्कृति के प्रति सजग और उत्सुक दिखाई देते हैं। पत्र पत्रिकाओं में भी लोक-कला और लोक-संस्कृति की चर्चा प्रायः रहती है।

लोक संस्कृति की रक्षा इन मार्गों से हो सकेगी अथवा नहीं, यह एक दूसरा प्रश्न है। इसके समझने के लिए पहले यह समझना आवश्यक है कि संस्कृति क्या है ? संस्कृति का रूप बड़ा मनोहर और व्यापक है। इसीलिए उसको ठीक-ठीक समझना कठिन है। व्यापकता संस्कृति के मूल तत्व की खोज को कठिन बनाती है, और मनोहरता भ्रम उत्पन्न करती है। व्यापकता के कारण धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि सबको संस्कृति की परिधि में सम्मिलित किया जाता है। भ्रम के कारण मनोरंजन

और विलास की अनेक विधियाँ संस्कृति के गौरवपूर्ण पद से समादृत होती है।

मनुष्य की जिन रचनाओं की प्रेरणा जीवन में है वे जीवन के समान ही व्यापक होती हैं। उनका सामान्य तत्व जीवन के अनेक रूपों में साकार होता है। जीवन से प्रसूत होकर 'धर्म' उपासना, युद्ध, आचार, व्यापार आदि अनेक रूपों में व्यक्त हुआ। इसी प्रकार 'व्यापार' धर्म, कला, साहित्य आदि अनेक रूपों में व्याप्त हो गया। धर्म, संस्कृति, व्यापार आदि के मूल तत्व को समझने के लिए इनकी अभिव्यक्ति के वाह्य रूपों को छोड़ कर उनके आन्तरिक तत्व को परखना होगा।

धर्म के सम्वन्ध में जो अनेक धारणायें हैं वे समान नहीं हैं। कुछ धर्मों में ईश्वर आवश्यक है और 'धर्म' ईश्वर के साथ मनुष्य का सम्वन्ध है। भारतीय धर्मों में ईश्वर की अपेक्षा आत्मा का अधिक महत्व है। किन्तु संस्कृति के सम्बन्ध में इतना मतभेद नहीं है। साहित्य, कला, कौशल आदि को सभी संस्कृति के अन्तर्गत मानते हैं। किन्तु इनके रूप का निर्धारण भी कठिन है। विलास से लेकर अध्यात्म तक अनेक कोटियों के अन्तर्गत साहित्य, कला आदि का रूप सम्पन्न होता है।

संस्कृति मनुष्य की चेतना की स्वतंत्र रचना है। संस्कृति रचनात्मक है, यह संस्कृति की परम्परा से ही स्पष्ट है। आदिम मनुष्य और नवजात वालक संस्कृति को लेकर उत्पन्न नहीं होता। वह अपनी जाग्रत चेतना की प्रेरणा से संस्कृति के रूपों की रचना करता है। इन रूपों में मनुष्य की चेतना अभिव्यक्त होती है। इस दृष्टि से हम चाहें तो संस्कृति को मनुष्य का स्वभाव कह सकते हैं। किन्तु चेतना का स्वभाव स्वतन्त्र और अनेक रूप है। वह प्रकृति और देह के स्वभाव से भिन्न है जो वहुत कुछ सीमा तक एक-रूप और अनिवार्य है।

इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की कृति है। प्रकृति से हम इसका विवेक कर सकते हैं, जो ईश्वर की कृति है। यदि हम ईश्वर को मानें तो प्रकृति को हम एक स्वतन्त्र सत्ता मान सकते हैं। प्रकृति की स्वतन्त्रता का अर्थ इतना ही है कि वह हमारे अधीन नहीं है, और अपने नियमों के अनुसार चलती है। किन्तु न वह इन नियमों का निर्माण करती है और न इनके उल्लंघन में समर्थ है। प्रकृति के नियम अनिवार्य हैं इन

नियमों का पालन उसका स्वभाव है, अथवा यों कह सकते हैं कि ये नियम ही प्रकृति हैं। इन नियमों की प्रक्रिया प्रकृति की सत्ता में ही समाहित है।

प्रकृति चाहे ईश्वर की कृति हो और चाहे एक आत्म-तन्त्र सत्ता हो किन्तु इतना निश्चित है कि प्रकृति के नियम मनुष्य के विधान नहीं है, और न इन नियमों में मनुष्य का कोई अधिकार है। अपनी देह के रूप में भी मनुष्य ने जो प्रकृति पाई है उस पर भी मनुष्य का शासन अत्यन्त सीमित है। देह और मन के मौलिक नियम भी मनुष्य के अधिकार से परे हैं। वह उनका उल्लंघन नहीं कर सकता, वरन् उनका पालन करके ही वह उन रूपों की रचना करता है, जिन्हें हम संस्कृति कहते हैं। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जो सत्ता और व्यवस्था मनुष्य को अपने उद्योग के बिना प्राप्त है वह प्रकृति के अन्तर्गत है। इस प्राप्त प्रकृति के आधार पर संस्कृति के भवन का निर्माण होता है।

भौतिक जगत्, देह, मन और उनके नियम जीवन के प्राप्त तथा प्राकृतिक उपादान है, ये उपादान सांस्कृतिक रचनाओं के उपकरण बनाए जा सकते हैं किन्तु मनुष्य इनकी सत्ता का सृजन नहीं करता और इनके नियमों का विधान ही करता है। फिर मनुष्य की रचना का रूप क्या है? उसकी रचना इन प्राप्त उपकरणों की नई-नई व्यवस्था है। इस व्यवस्था का रूप अथवा आकार मनुष्य की कल्पना है, जो इन रूपों में साकार होती है। कल्पना मनुष्य की चेतना की स्वच्छन्द शक्ति है, और उसकी रचनाओं के रूप चेतना की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति हैं।

रूपों की यह रचना पदार्थों, गुणों और क्रियाओं की नूतन योजनाओं के रूप में होती है। स्थापत्य पदार्थों की योजना है। चित्रकला गुणों की योजना है। नृत्य और गान क्रिया की योजना है। ये योजनायें सर्वथा पृथक नहीं होती। सांस्कृतिक रचनाओं में इनका सम्बन्ध भी हो सकता है, जैसा कि धर्म, नाटक आदि में होता है। मनुष्य की ये रचनात्मक योजनायें ही उसकी संस्कृति है। इन योजनाओं के उपकरण प्राप्त और प्राकृतिक हैं। इनके रूप मनुष्य की चेतना की सृष्टि हैं। काव्य की भाँति जिन योजनाओं का भाव अथवा तत्व भी मनुष्य की चेतता से प्रसूत होता है, वहां संस्कृति का अधिक स्वतंत्र रूप प्रकाशित होता है। इनमें योजनाओं के रूप और तत्व दोनों ही मनुष्य की रचना होते हैं।

किन्तु मनुष्य की ये सभी रचनायें सांस्कृतिक नहीं कहलाती। उद्योग और व्यापार को किसी ने संस्कृति में सम्मिलित नहीं किया। समस्त साहित्य संस्कृति के अन्तर्गत नहीं है। रचनाओं के अनेक रूप पूर्णतः सांस्कृतिक नहीं माने जाते। मनुष्य के अनेक निर्माण और अनेक क्रिया-विधान प्राकृतिक माने जाते हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति की प्रेरणा प्रबल है। इन रचनाओं की प्रेरणायें और इनके प्रयोजन ही यह निश्चित कर सकते हैं कि इन रचनाओं में प्राकृतिक आधार कितना है और उसके अतिरिक्त प्रेरणा अथवा प्रयोजन कितना है। संस्कृति का शुद्ध रूप इस अतिरिक्त तत्व में ही है।

इस अतिरिक्त तत्व का निर्धारण ही संस्कृति की कसौटी है। प्रकृति से इस सांस्कृतिक तत्व का कोई विरोध नहीं है। प्रकृति के आधार के बिना संस्कृति के केवल और शुद्ध रूप की कल्पना भी कठिन है। प्रकृति के माध्यम में ही संस्कृति के रूप साकार होते हैं। किन्तु प्रकृति और संस्कृति का अविरोध स्वयं प्राकृतिक नहीं है। वह स्वयं एक सांस्कृतिक अध्यवसाय का फल है। जिन अनेक-रूप समन्वयों का आधार संस्कृति का लक्षण है उनमें प्रकृति और संस्कृति का समन्वय प्रथम है।

संस्कृति का रूप बहुत व्यापक है। किन्तु प्रकृति का रूप बहुत निश्चित और स्पष्ट है। प्रकृति अनिवार्य है। मनुष्य अथवा जीव में उसके धर्म स्फुट रूप में स्वार्थमय हो गए हैं। इस स्वार्थ के स्वरूप में कोई आवश्यक दोष नहीं है। प्रकृति स्वरूप से स्वस्थ है। इस स्वास्थ्य का सिद्धान्त प्रकृति की स्वभावगत मर्यादा है। जगत की प्रकृति तो एक स्थिति और प्रक्रिया है। किन्तु जीवों की प्रकृति इनके अतिरिक्त बाह्य तत्वों का आदान और उपभोग हैं। बाह्य तत्वों के आदान से जीव बढ़ता और जीता है। इसे 'अर्थ' कह सकते हैं। उपभोग काम के अन्तर्गत है। प्राकृतिक धर्मों के निर्वाह में जो सुखद अनुभूति होती है वही उपभोग अथवा काम का मार्ग है।

इन्द्रियां आदान और उपभोग की माध्यम हैं। इन्द्रियों की आकांक्षा और शक्ति सीमित है। अतः प्राकृतिक धर्मों में अतिचार आवश्यक नहीं है। अतिचार का अभाव ही स्वास्थ्य का लक्षण है। पशुओं में अतिचार कम होता है। इसलिए मनुष्य की अपेक्षा स्वास्थ्य और शान्ति अधिक

हैं, तथा विरोध और संघर्ष कम है। अभाव होने के कारण पशुओं में संस्कृति का विकास न हुआ हो किन्तु पशु जीवन में प्रकृति बहुत स्वस्थ है। उसके धर्म अपनी मर्यादाओं में रहने के कारण अतिचार से विकृति के कारण नहीं बनते। पशु-जीवन में यह मर्यादा प्रकृति का एक अन्तर्गत विधान है। किन्तु मनुष्य जीवन में बुद्धि और कल्पना अतिचार के यंत्र हैं। इनसे जहाँ संस्कृति की सम्भावनायें उत्पन्न हुई हैं, वहाँ विकृति की आकांक्षायें भी उत्पन्न हुईं। विकृति की आकांक्षाओं में ही संस्कृति के संकट सन्निहित हैं।

मर्यादा प्रकृति के स्वास्थ्य का लक्षण है। अतिचार अस्वास्थ्य और विकृति का कारण है। अतिचार में प्रकृति के धर्मों की अनेक रूपों में अतिरंजना होती है। यह अतिरंजना उपभोग का अतिशय बन कर कर्ता के अस्वास्थ्य और उसके जीवन में प्रकृति की मन्दता का कारण बनती है। सामाजिक दृष्टि से यह अतिचार दूसरों के प्राकृतिक स्वास्थ्य और सांस्कृतिक स्वतंत्रता का घातक है। स्वार्थ प्रकृति का लक्षण है। किन्तु वह प्रकृति की मर्यादा भी है। दूसरों के घातक बनकर प्रकृति के अतिचार विकृति के कारण बनते हैं।

स्वस्थ प्रकृति के समन्वय और विकृति की सम्भावनाओं के आधार पर संस्कृति के परीक्षण की कसौटी बन सकती है। संस्कृति में स्वस्थ प्रकृति का समवाय सम्भव है। किन्तु विकृति की संभावना संस्कृति की ही नहीं प्रकृति का भी घातक है। सामान्यतः विकृति का रूप प्रकृति का अतिचार और उसकी अतिरंजना है। अन्त में उसका परिणाम प्राकृतिक धर्मों की क्षीणता ही होती है। अतः विकृति का अस्वाभाविक आनन्द प्रकृति के स्वाभाविक सुख को भी क्षति पहुँचाता है। स्वस्थ प्रकृति का समवाय संस्कृति की पहली कसौटी है। दूसरी कसौटी का सम्बन्ध संस्कृति के उस तत्व से है जिसे हम प्रकृति से अलग करके समझ सकते हैं।

यदि प्रकृति और संस्कृति में कोई भेद नहीं है तब तो दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं और वे केवल भ्रान्ति पैदा करते हैं। यदि उनमें कोई भेद है तो यह स्पष्ट है कि संस्कृति प्रकृति से अतिरिक्त कोई वस्तु है। प्रकृति मनुष्य का स्वभाव है। प्रकृति के धर्मों का फल अपने ही लिये

होता है। दूसरे को उसमें भाग नहीं मिल सकता। हमारी प्रकृति अपने आप में सीमित है। किन्तु संस्कृति चेतना की स्वतंत्र रचनाओं के रूपों में फलित होती है। स्वार्थ उसकी सीमा नहीं है। जब हम एक दूसरे की रचनाओं में योग देते हैं तथा एक दूसरों के अनुभवों में भाग लेते हैं, तभी संस्कृति का उदय होता है। चेतना की स्वतंत्र रचना होने के साथ-साथ संस्कृति का रूप सामाजिक भी है। इसलिये लोक-जीवन की सामाजिक परिस्थितियों में संस्कृति का आरम्भ हुआ और ऐसी ही परिस्थितियों में उसका विकास होता रहा है।

समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है। व्यक्तित्व की सीमाओं में रह कर समाज का निर्माण नहीं होता। जब एक व्यक्तित्व दूसरे के हित की ओर अभिमुख होता है, तभी समाज का उदय होता है। स्वार्थ के सहित, किन्तु स्वार्थ से रहित भी, आदान-प्रदान का भाव समाज का मूल है। संस्कृति के उपादान और उपकरण चाहे प्राकृतिक हों किन्तु उनमें संस्कृति के रूप की प्रतिष्ठा तभी होती है, जब व्यक्तित्व और स्वार्थ से ऊपर उठकर उनमें पारस्परिकता और परार्थ का भाव स्फुटित होता है। पारस्परिकता और परार्थ का भाव स्वार्थ से ऊपर और उसका उन्नायक है। संस्कृति में अन्वित होकर प्रकृति के स्वार्थमय धर्म इस रूप में परिष्कृत और उन्नत होते हैं, कि वे पारस्परिकता और परार्थ के अनुकूल बन जाते हैं। व्यक्तित्व की धरती जहाँ पारस्परिकता और परार्थ के क्षितिजों का स्पर्श करती, वहीं भावों की ऊषा और संध्या में संस्कृति के रूपों की रचना होती है।

कसौटी के पहलू ये हैं। सबसे पहले प्रकृति से संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। किन्तु संस्कृति केवल प्रकृति नहीं है। प्रकृति के उपादान और उपकरण सांस्कृतिक रचनाओं के आधार बन सकते हैं। किन्तु संस्कृति का आधार बन कर प्रकृति केवल स्वार्थ में सीमित नहीं रहती। उसमें पारस्परिकता और परार्थ के भाव उदय होते हैं। इससे स्पष्ट है कि विकृति का संस्कृति के साथ सामंजस्य सम्भव नहीं है। विकृति प्रकृति का अतिचार है। वह संस्कृति की ही नहीं, प्रकृति की भी घातक है। प्रकृति की प्रतिक्रिया अतिचार हो सकती है। किन्तु उसकी प्रेरणा सीमित स्वार्थ का साधन ही रहती है। दूसरे के स्वार्थ का अपघात

प्रकृति का लक्षण नहीं है। इस अपघात में प्रवृत्त होते ही प्रकृति विकृति बन जाती है। यह प्रकृति के स्वरूप के कारण नहीं वरन् बुद्धि और कल्पना की अतिरंजनाओं से होता है। इसीलिए मनुष्य समाज में पशुओं की अपेक्षा अधिक विकृति उत्पन्न होती है।

अस्तु दूसरा पहलू यह है कि विकृति संस्कृति की ही नहीं, प्रकृति की भी घातक है। वह प्रकृति के धर्मों के सुख को अतिरंजित कर क्षीण बनाती है। स्वस्थ प्रकृति ही संस्कृति का आधार बन सकती है। बुद्धि और कल्पना के कारण मनुष्य में विकृति की सम्भावना अधिक रहती है। अतः यदि यह कहा जाय कि मनुष्य जीवन में प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही संस्कृति का विकास हुआ, तो अनुचित न होगा। यह ठीक है कि संस्कृति का अपना स्वरूप है और प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा ही उसका प्रयोजन नहीं है। किन्तु प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा संस्कृति का महान् फल है। सभ्यता की कृत्रिमता के साथ-साथ स्वस्थ प्रकृति के आनन्द से हम इतने दूर होते जा रहे हैं कि आज उसके रक्षा के महत्व को भी समझने में असमर्थ हैं। प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा को भी उसका परिष्कार और उन्नयन समझना चाहिए, जो संस्कृति से प्रकृति को प्राप्त होने वाला महनीय संस्कार है। प्रकृति के स्वास्थ्य का लक्षण प्राकृतिक धर्मों में सक्रियता, उत्साह, उल्लास और हर्ष की विपुलता है। तृप्ति उसका फल है। अतृप्ति और असन्तोष विकृति और अस्वास्थ्य के लक्षण हैं।

तीसरा पहलू यह है स्वस्थ प्रकृति के आधारों पर चेतना की स्वतन्त्रता के द्वारा उन रूपों की रचना ही संस्कृति का अपना स्वरूप है जिनमें चेतना का आनन्द पारस्परिक और परार्थ भावों में स्फुटित होता है। यह संस्कृति का वह स्वरूप है जो प्रकृति से अतिरिक्त है और जिसके द्वारा प्रकृति से उसका सूक्ष्म विवेक किया जाता है। यह स्पष्ट है कि संस्कृति का यह रूप चेतना के भावों के रूप में होगा। प्राकृतिक उपादानों में पारस्परिकता और परार्थ चिन्मय भावों के रूप में उदित हो सकते हैं। इसलिए संस्कृति में तत्व की अपेक्षा रूप का ही महत्व अधिक है। प्राकृतिक उपादानों के अतिरिक्त चेतना के भाव को ही हम तत्व मान लें तो दूसरी बात है। इतना अवश्य है कि संस्कृति की रचनाओं में प्राकृतिक

उपकरण इन भावों के अनुरूप बन जाते हैं। रूप और तत्व का समन्वय संस्कृति की सफलता है।

चौथा पहलू यह है कि संस्कृति के रूप बन कर चेतना के भाव अधिक सम्पन्न और समृद्ध हो जाते हैं। भावों की यह सम्पन्नता और समृद्धि संस्कृति की सफलता की अन्तिम कसौटी है। नियमों की अनिवार्यता के साथ-साथ गणित की नियमितता भी प्रकृति का लक्षण है। प्रकृति के परिमाणों के योग का फल गणित के नियमों के अनुसार होता है। इन नियमों के विरुद्ध समृद्धि की सम्भावना प्रकृति में नहीं है। सांस्कृतिक रचना के रूप इन नियमों के विरुद्ध एक अनियमित रूप से समृद्धिशील होते हैं। यह समृद्धि ही संस्कृति की आत्मा है। कला और सांस्कृतिक आचार दोनों के भाव-बिन्दुओं में समृद्धि के सागर लहराते हैं। इनके ज्वारों में ही संस्कृति की पूर्णिमाओं के पर्व सफल होते हैं।

समाज के इतिहास में संस्कृति के नाम से धर्म, कला, साहित्य आदि के जिन रूपों का विकास हुआ है, उनके नीर-क्षीर का विवेक कसौटी के उक्त चार पहलुओं के आधार पर हो सकता है। प्राकृतिक उपादानों में ही संस्कृति की रचनायें रूप ग्रहण करती हैं। किन्तु प्रकृति के जो उपादान सांस्कृतिक रचनाओं के रूपों के तत्व हैं, उनके सम्बन्ध में सबसे पहले यह विचार करना है कि वे स्वस्थ हैं अथवा नहीं। यह देखना होगा कि इनके स्वभाव में अतिचार अथवा अतिरंजना की वृत्तियाँ तो नहीं हैं। इन सम्भावनाओं से प्रकृति विकृति बन जाती है। विकृति के साथ संस्कृति का सामंजस्य नहीं हो सकता। विकृति संस्कृति का विलोम है। देखना होगा कि संस्कृति के इन रूपों में प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा की कितनी सामर्थ्य है। इस स्वास्थ्य के लक्षणों का इन सांस्कृतिक रचनाओं में कितना सन्निधान है। प्रकृति के धर्मों में ये कितनी स्फूर्ति, कितना उत्साह और उल्लास संचारित करने में समर्थ हैं।

संस्कृति का अपना स्वरूप प्रकृति के आधारों पर प्रतिष्ठित पारस्परिकता और परार्थ के चिन्मय भावों में स्फुटित होता है। इन भावों की सम्पन्नता और समृद्धि संस्कृति की सफलता की अन्तिम कसौटी है। कला और संस्कृति के रूपों में इन भावों का कितना समावेश हुआ है तथा इनकी सम्पन्नता और समृद्धि कितनी है। इसी कसौटी के आधार पर

यह निर्णय किया जा सकता है कि संस्कृति के कौन से रूप कहाँ तक सचमुच सांस्कृतिक है और कितने रूप संस्कृति की विडम्बना मात्र है।

प्रकृति के उपादानों में ही अधिकांश सांस्कृतिक रूप मूर्त्त हुए हैं। यह स्वाभाविक है। किन्तु प्रकृति के स्वास्थ्य की रक्षा और स्वस्थ प्रकृति के साथ इन रूपों का समन्वय सर्वत्र नहीं हुआ है। जहाँ यह नहीं हो सका हैं, वहाँ संस्कृति की रचनायें असफल ही रही हैं, यह मानना होगा। संस्कृति के स्वरूपगत भावों के सन्निवेश और उनकी समृद्धि के आधार पर ही संस्कृति अपने अस्तित्व को सार्थक बना सकती है। संस्कृति के अनेक रूपों में यह नहीं है, अतः वे असफल हैं। अनेक रचनाओं में संस्कृति की छाया में विकृति पल रही है। प्रकृति के उन्नयन के स्थान पर उसके अतिचार की प्रेरणायें हैं। अतिचार की उत्तेजना विकृति में संस्कृति का भ्रम उत्पन्न करती है। सांस्कृतिक रचनाओं में ही नहीं, उनके आस्वादन की सामाजिक स्थिति में भी, संस्कृति के मूल तत्वों का अभाव मिलता है। व्यक्ति और समाज दोनों में समान भाव से संस्कृति के मूल तत्वों का आदर ही संस्कृति को सभ्य जीवन की जीवन्त विभूति बना सकता है।

१७–मानवता और संस्कृति

अन्तर्राष्ट्रीयता एक आधुनिक रोग है, जो दो विश्व-युद्धों से अधिक बढ़ा है और भारतवर्ष में इसका प्रभाव स्वाधीनता के बाद ही अधिक हुआ है। यह एक राजनीतिक रोग है। अतः राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद ही भारतवर्ष में इसका प्रभाव हो सकता था। इसके पूर्व भारतवर्ष अंगरेजी साम्राज्य का एक अंग था। उसका अपना कोई राजनीतिक अधिकार न था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी कोई स्थिति नहीं थी। किन्तु स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीयता और अपनी संस्कृति की उपेक्षा करके जिस वेग और व्यापकता के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का रोग भारतवर्ष में बढ़ा है उसके मूल कारण मानवता की उस उदार भावना में हैं जो भारतवर्ष में सनातन काल से गर्व का विषय रही है। वेदों से लेकर विवेकानन्द तक अधिकांश भारतीय धर्म और दर्शन में मानवीयता की भावना व्याप्त है। मानवीयता की भावना मनुष्य के मन की अत्यन्त उदात्त विभूति है। भारतीय मनीषियों की चेतना इसी उदात्त भाव से ओत-प्रोत थी। मनीषियों के अतिरिक्त सन्तों और भक्तों ने अपने सहज और सरस भाव से अंचित करके लोक मानस की श्रद्धा में इसे प्रतिष्ठित किया। सभी युगों के साहित्य में मानवीयता की भावना का आदर हुआ। आधुनिक साहित्यकार तो अपने राष्ट्र और समाज की समस्याओं की अपेक्षा मानवता की समस्याओं से अधिक चिन्तित रहते हैं।

इस प्रकार मानवता की भावना भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना से अधिक आदर पाती रही। इसीलिये हमारी भाषाओं में राष्ट्रीय साहित्य बहुत कम है। व्यास और वाल्मीकि तो राष्ट्रीय संस्कृति के सागर हैं। किन्तु उनके बाद कालिदास और प्रसाद के अतिरिक्त राष्ट्रीय साहित्य बहुत कम है। प्रसाद की राष्ट्रीयता में भी सांस्कृतिक महिमा की अपेक्षा ऐतिहासिक गौरव अधिक है। प्रसाद के समय तक हम सदियों की पराधीनता के कारण अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को बहुत कुछ भूल चुके थे। कालिदास के साहित्य में जिस आत्मीयता, विपुलता और सजीवता के साथ सांस्कृतिक विशेषताओं का समावेश मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ

है। दक्षिण का समाज मुसलमानी आतंकों से उत्तर की अपेक्षा कम प्रभावित हुआ। अतः वहां के सामाजिक जीवन में प्राचीन संस्कृति की परम्परा के भाव एवं संस्कार अधिक विपुल परिमाण में और अधिक शुद्ध रूप में सुरक्षित हैं। किन्तु दक्षिणी भाषाओं में भक्ति साहित्य की ही प्रधानता है। अतः सम्भवतः उनमें सांस्कृतिक विशेषताओं का ऐसा समावेश नहीं है, जैसा कालिदास में मिलता है। रवीन्द्रनाथ के काव्य में आध्यात्मिक अलौकिकता और व्यंजना की रहस्यमय भंगिमा अधिक है। लौकिक और राष्ट्रीय समस्याओं से पलायन कर अध्यात्म की शरण में स्वर्गिक भावों और दिव्य कल्पनाओं का सौन्दर्य जितना मनोहर बन सकता है, उतना ही मनोहर रवीन्द्रनाथ का काव्य है। अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को भूले हुए पराधीनता से विवश भारतीय मन को रवीन्द्रनाथ के रहस्यमय काव्य के मनोहर नन्दन में विहार करना इतना प्रिय लगा कि अपने युग में रवीन्द्रनाथ इतने पूजित हुए कि जीवन काल में कदाचित् ही कोई कवि हुआ होगा। रवीन्द्रनाथ के काव्य में मानवीय चेतना की आध्यात्मिक, अलौकिक और रहस्यमय भावनाओं की अभिव्यक्ति विपुल एवं सुन्दर हुई है। किन्तु उसमें भारतवर्ष अथवा बंगाल की सांस्कृतिक विशेषताओं का ऐसा समावेश नहीं है, जो इनकी महिमा की ओर देश की चेतना को सजग करता। इसी प्रकार मध्य काल के सन्त काव्य में भी मनुष्य के मन की आध्यात्मिक भावनाओं का वैभव अधिक है, किन्तु देश की सांस्कृतिक विशेषताओं का सन्निवेश नहीं है। इसका कारण यह है कि संस्कृति का रूप लौकिक है और भक्ति में अलौकिकता प्रधान होती है।

भारतीय अध्यात्म, भक्ति, साहित्य आदि में देश की सांस्कृतिक विशेषताओं की अपेक्षा सामान्य और निर्विशेष मानवीय भावना का समावेश अधिक है। मानवीय भावना की महिमा अपार और असन्दिग्ध है। इससे बढ़ कर जीवन का कोई सत्य नहीं है। किन्तु अपने सामान्य रूप में मानवता की भावना निरपेक्ष होने के कारण केवल आध्यात्मिक सम्मोहन है। प्रत्येक भाव जीवन में विशेष सम्बन्धों और रूपों में ही चरितार्थ होता है। मानवता और अध्यात्म का मर्म अभेद और अविरोध है। समाज में प्रेम और शान्ति के लिये यह आवश्यक है। इसीलिये ज्ञानी, सन्त और कवि सभी इसकी महिमा का गान करते रहे हैं। मानवताओं के इन मसीहाओं

के उपदेशों से संसार में कितना प्रेम और सद्‌भाव बढ़ा है कि इसका प्रमाण युद्धों की बढ़ती हुई भीषणता और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में मिलता है। मनुष्य केवल अध्यात्म और भाव से नहीं जीता, वह भौतिक उपादानों से भी जीता है। उनमें संघर्ष होने पर अध्यात्म और मानवता के उदात्त भाव काम में नहीं आते। सुख और अहंकार पर आघात होने पर अध्यात्म का उपदेश देने वाले सन्त भी अपने सिद्धान्तों से स्खलित हो जाते हैं। उनकी कुशलता और लोक की सरलता के कारण इन मसीहाओं को सुख और अहंकार की अपार सुविधायें मिली रहती हैं। इसीलिये युग-युगान्तर से अध्यात्म का राग सुनाना सन्तों के लिए सम्भव रहा है। स्वयं संघर्षों और कठिनाइयों से दूर रहने के कारण बड़ी गरिमा के साथ सुविधा पूर्वक लोगों को अध्यात्म और मानवता का सन्देश सुनाते आये हैं। अध्यात्म और मानवता के सिद्धांत इतने सत्य और श्रेष्ठ हैं कि कोई भी मनुष्य प्रकट रूप में इनका निरादर नहीं कर सकता, चाहे व्यवहार में इन्हें अपनाने में उसे कितनी ही कठिनाई हो। अतः सन्तों के उच्च और पवित्र उपदेशों को लोग सुनते आये हैं, तथा मुख से सदा उनकी जय बोलते आये है। कौन मनुष्य इतना नीच हो सकता है कि जो विरोध और संघर्ष का समर्थन करें और एकता के सूत्रों का निरादर कर सके। इसीलिए भारतवर्ष में उपनिषद् काल से अब तक आध्यात्मिक और मानवता का दिव्य गान होता आया है।

इसमें सन्देह नहीं कि भेद और विरोध मनुष्य जाति के लिए कल्याणकारी नहीं है। किन्तु इनका समाधान अध्यात्म और मानवता की भावनाओं से नहीं हो सकता। यह भावना एकता का सूत्र और आधार अवश्य है किन्तु जीवन के भौतिक उपकरणों और सामाजिक व्यवहारों में इसका अनुशीलन होने पर ही यह सार्थक होती है। सन्तों ने अध्यात्म की इस सार्थकता पर कभी अधिक ध्यान नहीं दिया। वे उपदेश के उत्तर में औपचारिक आदर करने वाली जनता की ही पूजा और प्रशंसा तथा उनके फल से प्राप्त होने वाले सुख और सुविधा से सन्तुष्ट रहे। दूसरी ओर सन्तों की सेवा करने वाली जनता अपने लौकिक संघर्षों में उलझी रही। इन संघर्षों के अतिरिक्त जनता का जो शान्ति प्रेम, और आनन्द का जीवन था उसे भी सफल बनाने का जनता प्रयत्न करती रही। किन्तु इस सफ-

लता के पीछे सन्तों की कृपा नहीं थी। सन्तों के अलौकिक उपदेश तो उसे अध्यात्म के अन्तर्लोक में ही भुलाते रहे। किन्तु मनुष्य की सांस्कृतिक आकांक्षा लौकिक जीवन के विशेष रूपों में जीवन का सांस्कृतिक सौन्दर्य खोजती रही। इन विशेष रूपों में अनेकता है, किन्तु विरोध और संघर्ष आवश्यक नहीं। संस्कृति का क्षेत्र विरोध का क्षेत्र नहीं है। जहां विरोध उत्पन्न होता है वहां प्रकृति के स्वार्थ कारण होते हैं और संस्कृति का सौन्दर्य नष्ट होता है। किन्तु जहां संस्कृति का सौन्दर्य खिलता है, वहां वह जीवन और आचार के विशेष रूपों तथा विशेष उपकरणों के माध्यम में ही खिलता हैं। प्रकृति के पुष्पों की भांति संस्कृति का सौन्दर्य भी अनेक रूपों और वर्णों में प्रकाशित होता है। रूपों की यह अनेकता ही संस्कृति की सम्पन्नता है। इस अनेकता का अध्यात्म और मानवता की एकता से कोई विरोध नहीं है, वरन् यह कहना होगा कि जिस प्रकार फूलों में पृथ्वी की गन्ध ही अनेक रूपों और रंगों में साकार होती है, उसी प्रकार अध्यात्म और मानवता की भावना ही संस्कृति के अनेक रूपों में मूर्त्त होती है। किन्तु संस्कृति के रूपों में मूर्त्त होने वाली अध्यात्म और मानवता की भावना केवल अपनी सामान्यता और अन्तर्मुखता में संस्कृति का अवलम्बन नहीं बनती। जीवन के विशेष रूपों और विशेष भौतिक उपकरणों में ही संस्कृति आकार ग्रहण करती है। इन विशेष रूपों में इतिहास की परम्परा और संस्कृति के संस्कार एक अपूर्व सौन्दर्य का प्रकाशन करते हैं। यह सौन्दर्य ही संस्कृति के आनन्द का स्रोत है। एक ओर प्रकृति के भौतिक संघर्षों में संस्कृति का सौन्दर्य नहीं खिलता, दूसरी ओर निरपेक्ष अध्यात्म और सामान्य मानवता में भी संस्कृति का आनन्द सम्भव नहीं है। अध्यात्म और मानवता की भूमि पर विशेष रूपों और उपकरणों में ही संस्कृति का सौन्दर्य अनेक रूपों में खिलता है।

लोक-संस्कृति की परम्परा में वैदिक युग से लेकर आज तक संस्कृति का सौन्दर्य अलौकिक अध्यात्म और सामान्य मानवता में नहीं, वरन् इन्हीं विशेष और अनेक रूपों में पलता रहा है। किन्तु उपनिषदों से लेकर आज तक चलने वाले निरपेक्ष अध्यात्म और मानवता के उपदेश संस्कृति के खिलते उद्यानों में अमर बेलि की तरह छाकर उसका सौन्दर्य विशीर्ण करते रहे हैं। इसी अध्यात्म और मानवता को अपनी अमूल्य थाती मान

कर पराधीनता के युग में हम सन्तोष करते रहे हैं। संस्कृति के विशेष रूप सद्भाव के साथ-साथ स्वतंत्रता और समृद्धि में वसन्त के पुष्पों की भांति विपुलता से खिलते हैं। पराधीनता के ग्रीष्म में संस्कृति के उद्यान उजड़ जाते हैं। क्योंकि पराधीनता स्वतंत्रता और समृद्धि दोनों की घातक है। पराधीनता के ग्रीष्म की दीन और उदासीन दोपहरियों में सन्तों के उपदेश ही सांत्वना देते रहे। आज स्वतंत्र होने बाद भी हमारे मन पर प्राचीन युगों के संस्कार छाये हुए हैं, जिनमें हमने निरपेक्ष अध्यात्म और मानवता के निरन्तर गीत सुने। उस दिव्य कीर्तन के विपुल कोलाहल में हमारी चेतना इतनी भ्रांति होगई है कि आज हम अपनी सिसकती हुई संस्कृति के विशेष रूपों की महिमा को समझने में समर्थ नहीं हैं। ध्यान में अन्तर्मुख रहने के कारण हमारी इन्द्रियां संस्कृति के बचे हुए सुमनों में सौन्दर्य देखने में भी समर्थ नहीं है। युगों के अध्यात्म-कीर्त्तन के यांत्रिक संस्कार हमारे मन पर ऐसे छाए हुए हैं कि हम प्रमत्त की भांति बिना समझे हुए अध्यात्म के गीत गाते हैं। अध्यात्म और मानवता के इस प्रबल प्रभाव के कारण हम राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय संस्कृति के महत्व की भी उपेक्षा कर रहे हैं। राष्ट्रीयता और विशेषता को अपनाने अथवा उसकी चर्चा करने में हमें लज्जा का अनुभव होता है, मानों हम मानवता के उच्च धरातल से नीचे उतर आते हैं। मानवता के इस प्रमाद में हम अपने परम्परागत सांस्कृतिक रूपों को छोड़ रहे हैं। और या तो संस्कृति-शून्य बन रहे हैं या उन विदेशी रूपों को अपना रहे हैं जिनकी परम्परा भिन्न होने के कारण जो कभी हमारे लिये सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द के स्रोत नहीं बन सकते।

मानवता का यह प्रमाद हमारे जीवन के अनेक क्षेत्रों में छाया हुआ है। मानवता का भाव अत्यन्त व्यापक है। अतः उसका प्रभाव सभी क्षेत्रों में है। मानवता की व्यापक भावना से प्रभावित होने के कारण हम सभी क्षेत्रों में संस्कृति के विशेष रूपों की उपेक्षा करते हैं। इन विशेष रूपों को हम संकुचित मनोवृत्ति और संकीर्णता का सूचक समझकर इनको अपनाने में लज्जा का अनुभव करते हैं। उपनिषदों से लेकर दर्शन, भक्ति आदि के मार्ग से यह भावना अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे देश में चली है। उपनिषदों के पूर्व वैदिक धर्म और आचार में संस्कृति के विशेष रूपों का

सौन्दर्य विपुल परिमाण में वर्तमान है। दर्शनों के अध्यात्म और सन्तों की भक्ति के बावजूद भी लोक जीवन की परम्परा में वैदिक संस्कारों का प्रभाव अब तक चला आ रहा है। भिन्न-भिन्न भक्ति सम्प्रदायों में पूजा और चर्या की विधियों का विशेष रूप है। इसी प्रकार हमारे लोक पर्वों और संस्कारों के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न समाजों में विशेष प्रकार की प्रथाएं प्रचलित हैं। इन परम्परागत प्रथाओं और रूपों की विशेषता सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत है। किन्तु सामान्यता के सन्देशों ने और पराधीनता के दुर्भाग्य ने मिलकर इन्हें मन्द बनाया है। आज मानों अपनी हीन भावना के कारण हम इन विशेषताओं को अपनाने में लज्जा का अनुभव करते हैं और मानवता की दुहाई देने में अपना गौरव मानते हैं।

हमारे नेताओं, विद्वानों, साहित्यकारों आदि प्रभावशाली लोगों में यह भावना प्रमुखता से दिखाई दे रही है। अन्य साधारण लोगों पर इनके नेतृत्व का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। उपनिषद् के ऋषियों और मध्य काल के सन्तों ने ही विशेषताओं की गर्हणा और सामान्यता की प्रशंसा नहीं की, वर्तमान युग में भी विचारों के अधिनायक मानों विशेषताओं से लज्जित होकर सामान्यता का समर्थन करते हैं। धर्म के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ और राधाकृष्णन् जैसे प्रतिष्ठित विचारकों का मत बहुत कुछ उपनिषदों के अध्यात्मवाद के निकट है। अध्यात्म जीवन का परम सत्य है। किन्तु प्रत्येक देश और समाज के जीवन में वह विशेष रूपों में ही साकार होते हैं। रवीन्द्रनाथ और राधाकृष्णन् ने धर्म के आन्तरिक और सामान्य रूप पर ही अधिक जोर दिया है। रवीन्द्रनाथ के ग्रंथ का नाम 'मानवधर्म' है। राधाकृष्णन् का धर्म आत्मा का धर्म है। इनकी व्याख्याओं में धर्म के सामान्य आन्तरिक तत्व का ही महत्व अधिक है। धर्म के विशेष रूपों अथवा तत्वों का समाहार नहीं है। इसके विपरीत हम एक दूसरा उदाहरण हक्सले का ले सकते हैं। हक्सले भी इनके समान बुद्धिवादी और मानवतावादी हैं। हक्सले के ग्रंथ का नाम 'चमत्काररहित धर्म' है। मानवता मेरा धर्म है, यह हक्सले के ग्रन्थ का अन्तिम वाक्य है। वैज्ञानिक, बौद्धिक और मानवतावादी दृष्टिकोण रखते हुए भी हक्सले ने अपने ग्रंथ में ईसाई धर्म की कई विशेष रूढ़ियों की नवीन व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। रुडोल्फ ओटो के ग्रंथों में यह प्रयत्न और भी विपुल मात्रा में

मिलता है। किन्तु रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् आदि भारतीय विचारकों की व्याख्या में सामान्य मानवता का ही अनुरोध अधिक है। अपने धर्म के विशेष तत्वों को सम्भवतः ये विशेष महत्व नहीं देते अथवा विदेशों में विख्यात होने के कारण विदेशियों के सामने उस महत्व को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव करते।

सन्तों में इस सम्बन्ध में आचार्य विनोवा भावे का नाम लिया जा सकता है। वे गांधीजी के नैतिक उत्तराधिकारी हैं। अहिंसा और मानवता का प्रचार देश में सबसे अधिक उनकी पद यात्राओं से हो रहा है। इन पद यात्राओं के प्रसंग में किसी स्थान पर उनके स्वागत के समय लोगों ने 'जय भारत' के नारे लगाये। विनोवा जी ने इन नारों को पसन्द नहीं किया और कहा कि हमें 'जय विश्व' कहना चाहिये। इस का अभिप्राय यही है कि हमें समस्त विश्व के कल्याणोत्कर्ष की कामना करनी चाहिये, केवल अपने देश की उन्नति चाहना संकीर्णता का सूचक है। इस दृष्टि से देखने से विश्व और मानवता के कल्याण की भावना बड़ी उदार और उदात्त प्रतीत होती है। मानवता जीवन का परम सत्य है। इसकी हजार बार पुनरावृत्ति भी उचित है। किन्तु मानवता के अनन्त सामान्य की न कल्पना संभव है और न उसके प्रति कोई व्यवहार सम्भव है। मानवता विशेष मनुष्यों के समाजों में ही साकार होती है। इन सीमित रूपों में ही मानवता का कल्याण व्यवहार का धर्म बन सकता हैं। धर्म और संस्कृति के विशेष रूप इन सीमित समाजों में आत्मीयता के सूत्र बनते हैं। अतः इन विशेष रूपों के मार्ग से ही हम मानवता का कल्याण कर सकते हैं। विश्व अथवा मानवता के एक अनिश्चित और अनन्त प्रत्यय की कल्पना ही कठिन है। उसके साथ कोई मौलिक व्यवहार भी सम्भव नहीं है। मनुष्य के व्यवहार का क्षेत्र भी अनन्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार विश्व नागरिकता, मानवता की सदस्यता आदि की कल्पनायें भी अर्थहीन, असंगत और अव्यवहार्य है।

संस्कृति के क्षेत्र में भी हमें प्रायः बताया जाता है कि भारतीय संस्कृति का कोई निश्चित रूप नहीं है। वह अनेक संस्कृतियों से संगम से बनी है। जैसे अनेक पदों के संयोग से समास बनता है; इसीलिये इसे सामासिक संस्कृति कहते हैं। सामासिक संस्कृति के समर्थक यह बताने

का कष्ट नहीं करते कि इन संस्कृतियों के विशेष रूप क्या थे और किस रूप में इनका समास हुआ। सामाजिक संस्कृति का छल केवल प्राचीन संस्कृति के विशेष रूपों और उनके महत्व की ओर से लोगों को विमुख करने के लिए है। संस्कृति के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सत्य यह है कि वह सदा अपने विशेष रूपों में ही जीवित रहती है चाहे ये विशेष रूप सामासिक ही क्यों न हों। दूसरा सत्य यह है कि संस्कृति मुख्यतः जीवन में ही रहती है। विचार, कला, काव्य आदि में इसकी सिद्धांतिक स्थापना हो सकती है। समाज के जीवन में कहां और किन विशेष रूपों में संस्कृति का यह सामासिक रूप वर्तमान है, यह अन्वेषण का विषय है। इस अन्वेषण पर ही सामासिक संस्कृति का भाग्य निर्भर है।

साहित्य, दर्शन, कला, काव्य, शिक्षा, चिकित्सा, रहन-सहन आदि के क्षेत्रों में भी हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के विशेष रूपों को छोड़ रहे हैं। हम रवीन्द्रनाथ को विश्व कवि मानते हैं। इन के पूर्व ही श्रीकृष्ण और शंकराचार्य को जगद्गुरु मानते रहे। कामायनी को हम विश्व काव्य मानते हैं। प्रत्येक श्रेष्ठ रचना के लिये विश्व साहित्य में स्थान खोजते हैं। सार्वभौमिकता विचार और संस्कृति की श्रेष्ठता का मान-दण्ड है। इस सबके पीछे पराधीनता-जन्य हीन भावना के साथ-साथ अपनी संस्कृति के विशेष रूपों से अनुराग और परिचय का अभाव भी है। हम देश के विभाजन के सम्बन्ध में होने वाले अनर्थों की अपेक्षा बल्गेरिया, तिब्बत आदि की दुर्घटनाओं से अधिक दुःखी हैं। हीन भावना के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता की छाया में हमारी मानवता अराष्ट्रीयता का रूप ले लेती है। मानवता के नाम पर हम अपने धर्म, आचार, वेष-भूषा, भाषा, भोजन, पर्व-प्रतीक, संस्कारों आदि को छोड़ कर सार्वभौमिता के भ्रम में सांस्कृतिक वैभव से शून्य बन गये हैं। इस दिशा के पश्चिमी देशों का सा प्राकृतिक विलास ही हमारे हाथ रह जायेगा, जो चाहे सुख भले ही दे सके किन्तु जीवन में ऐश्वर्य और आनन्द नहीं दे सकेगा। किसी देश के पास सांस्कृतिक रूपों की इतनी विपुलता नहीं थी कि वे उनको प्रकृति के उन्नयन का अवलम्ब प्रदान करते। किन्तु हमारी प्राचीन परम्परा में इन रूपों की अपार निधि है। हम जीवन के ऐसे अज्ञानी जौहरी हैं कि उन असंख्य अमूल्य रत्नों को छोड़कर काँच के नकली रत्नों से अपना शृंगार कर रहे

हैं। हमें समस्त भ्रमों को छोड़कर अपने रत्नों का मूल्य परखना होगा और उन्हें अपनाना होगा, यदि हम जीवन के क्षेत्र में अपने को दीन, दरिद्र, दुखी और उपाहासास्पद बनाना नहीं चाहते। इतना अवश्य है कि उन विशेषताओं का आग्रह संस्कृति का अलंकार नहीं बन सकता, जो विरोध की जननी हैं। केवल ऐसे विशेष रूप ही संस्कृति के अलंकार बन सकते हैं जो विरोध से अलग हैं और विशेष होते हुए भी सामंजस्य की भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। भारतीय संस्कृति की प्रमुख और महत्वपूर्ण विशेषताएं विरोध से दूर सामंजस्य से पूर्ण हैं। इसीलिये हम उन्हें अपनाकर अपने जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाकर मानवता के कल्याण में भी योग दे सकते हैं। हमारी संस्कृति के विशेष रूप मानवता के कल्याण से पूर्णतः संगत हैं।

१८—सभ्यता और लोक संस्कृति

सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के विकास के लक्षण माने जाते हैं। सभ्यता मनुष्य जीवन का बाहरी विकास है। मनुष्य के रहन-सहन और उसके समाज की व्यवस्था में आदिम युग से लेकर जो परिवर्तन होते आए हैं, उन्हें सभ्यता का नाम दिया जाता है। जीवन के इस बाहरी विकास का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार और उसके मन पर भी होता है। किन्तु सामान्यतः रहन-सहन और समाज व्यवस्था के बाहरी रूप को ही सभ्यता मानते हैं। रहन-सहन और समाज व्यवस्था के उपकरण अधिकतर भौतिक होते हैं। अतः सभ्यता में प्रायः जीवन के भौतिक साधनों का ही विकास हुआ है। संस्कृति में जीवन की आन्तरिक विभूतियों की समृद्धियों का अधिक महत्व है। संस्कृति एक प्रकार से चेतना का उत्कर्ष है। चेतना के भावों की अभिव्यक्ति साहित्य, दर्शन, कला आदि में होती है। अतः संस्कृति के विवरणों में इन्हें अधिक महत्व दिया जाता है। जिस प्रकार जीवन की बाहरी व्यवस्था का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार और मन पर होता है, उसी प्रकार संस्कृति के भावों का प्रभाव समाज की बाहरी व्यवस्था पर भी होता है।

संक्षेप में हम सभ्यता को जगत् का विकास और संस्कृति को मनुष्य का उत्कर्ष कह सकते हैं। यदि मनुष्य को साध्य और बाहरी व्यवस्था को साधन मानें तो यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति जीवन के साध्यों का उत्कर्ष है तथा सभ्यता साधनों का विकास है। यदि साध्य का रूप जीवन के मूल्यों से सम्पन्न होता है तो संस्कृति इन मूल्यों की समृद्धिशील साधना है, और सभ्यता और इस साधना के उपकरणों का विकास है। साधनों तथा उपकरणों के द्वारा ही साध्यों अथवा मूल्यों की साधना सम्भव होती है। अतः सभ्यता और संस्कृति में कोई आवश्यक विरोध नहीं है। किन्तु उनकी संगति भी आवश्यक नहीं है।

सभ्यता और संस्कृति का संतुलन जीवन का सबसे संतुलित दर्शन है। किन्तु यह संतुलन कठिन आदर्श है, जो कदाचित् ही इतिहास के किसी युग में चरितार्थ हुआ हो। प्राचीन युग में मनुष्य का जब बाहरी

रहन-सहन सरल था और उसकी समाज व्यवस्था भी अविकसित थी अथवा यों कहिए कि जब सभ्यता का अधिक विकास नहीं हुआ था तब सम्भवतः संस्कृति अधिक सजीव और समृद्ध थी। जब जीवन के साधन और उपकरणों की अधिक वृद्धि और उनका अधिक विकास नहीं हुआ था तब चेतना के भाव साहित्य और कला में अधिक समृद्ध रूप में व्यक्त होते थे। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल में सभ्यता का विकास न होने के कारण संस्कृति अधिक समृद्धि थी।

यह प्राचीन काल मनुष्य के इतिहास का वह युग था जबकि मनुष्य प्रकृति और पशुओं के साथ संघर्ष तथा संकट के जीवन से निकल कर कुछ शान्तिपूर्ण समायोजन और सुव्यवस्था की स्थिति प्राप्त कर सका था। साधनों का अधिक विकास न होने पर भी मनुष्य का जीवन बहुत कुछ सुख-शान्तिमय था। विकट संकट और घोर संघर्षों की स्थिति से निकल जाने के कारण साधारण संघर्ष और असाधारण संकटों से मनुष्य अधिक चिन्तित न होते थे। सामान्यतः जीवन शान्तमय था। यह सभ्यता का कृषि युग था, जिसमें समाज में कुछ स्थिरता भी आ गई थी। स्थिरता शान्ति की सहकारिणी है। साधनों के अल्प विकसित होने के कारण मनुष्य थोड़े साधनों से ही सन्तुष्ट था। जन-संख्या कम थी। अतः थोड़े साधन भी पर्याप्त थे। जीवन के साधन सरल और कम होने के कारण मनुष्य को अवकाश भी अधिक था। इस अवकाश में उसकी चेतना के भाव स्वच्छन्द और समृद्ध रूप में साहित्य तथा कला में मुखरित एवं मूर्तिमान होते थे। छोटे-छोटे ग्रामों में सब एक दूसरे से मिलते-जुलते थे, और अवकाश के समय में सरलता से एकत्रित हो सकते थे। इसी सामूहिक स्थिति में लोक संस्कृति, कला, साहित्य और लोक कलाओं का विकास हुआ।

लोक- संस्कृति एक सामूहिक विकास है। आधुनिक कला-कृतियों की भाँति किसी एक व्यक्ति की साधना का फल नहीं थी। व्यक्तिगत साधना की कला-कृतियों में भी परोक्ष आत्मीयता के भाव की प्रेरणा रहती है। किन्तु लोक-संस्कृति का विकास सामूहिक जीवन के साक्षात् सम्बन्धों में हुआ है। लोक-संस्कृति के कलात्मक रूपों में भी किसी व्यक्ति के कृतित्व की छाप नहीं है। प्राचीन काल से जो लोक-गीत गाए जाते हैं

वे किस व्यक्ति की रचना हैं यह विदित नहीं। लोक-नृत्य, लोक-पर्व आदि के सम्बन्ध में भी यही बात है। संस्कृति के ये सभी रूप सामूहिक स्थिति में ही सम्पन्न होते हैं। अतः व्यक्ति के कृतित्व का अधिक महत्व न था। किन्तु इसके साथ-साथ समाज के साक्षात् आत्मीय भावों की विपुलता में व्यक्तित्व बहुत सम्पन्न था। व्यक्तित्व की इसी सजीव और साक्षात् सम्पन्नता के कारण व्यक्ति को अपने कृतित्व के अहंकार की आकांक्षा भी न थी। अहंकार का उद्देश्य व्यक्तित्व को सम्पन्न बनाना ही है। सांस्कृतिक जीवन से प्रत्येक मनुष्य को यह सम्पन्नता यथेष्ट रूप में प्राप्त होती थी। व्यक्तित्व की सम्पन्नता में पूर्ण होकर अहंकार विलीन हो गया था।

इसीलिए प्राचीन भारत में आधुनिक अर्थ में इतिहास प्राप्त नहीं होता। आधुनिक अर्थ में इतिहास व्यक्तित्व के अहंकार का देश और काल में अन्वय है। व्यक्तित्व की इकाई के परिच्छिन्न होकर पृथक होने से ही इतिहास का आरम्भ होता है। देश और काल में अन्वित होकर व्यक्तित्व की इकाई इतिहास की सम्पत्ति बन जाती है। इतिहास का यह रूप संस्कृति की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट है। इकाई का परिच्छिन्न रूप देश, काल, पदार्थ, शरीर आदि प्राकृतिक उपकरणों में ही मिलता है। परिच्छन्न होने के साथ साथ ये इकाइयाँ पृथक-पृथक भी होती हैं। यह पृथकत्व ही इकाईयों का स्वरूप है। बाह्य और भौतिक प्रकृति की सत्ता इसी रूप में विदित है। व्यक्तित्व का अहंकार इस इकाई का मानसिक रूप है। गीता के अनुसार अहंकार भगवान की प्रकृति का अष्टम और अन्तिम रूप है। अहंकार में केन्द्रित होकर मानों चेतना का प्रकृति की इकाइयों के साथ संगम होता है। गृह, पशु, धन, सम्पत्ति, संतति आदि के परिग्रह में अहंकार का यह प्रकृति रूप चरितार्थ होता है। एक सीमा तक जीवन के व्यवहार में यह आवश्यक है। किन्तु इसका अधिक विस्तार संस्कृति के विकास में बाधक है। इकाई के रूप में जितने अधिक प्राकृतिक उपकरणों के परिग्रह से व्यक्तित्व का अहंकार सम्पन्न होता है, उतना ही चेतना का वह आत्मीय भाव कम होता जाता है, जिसमें संस्कृति के कलात्मक रूप विकसित होते हैं। संस्कृति के कलात्मक रूप सामाजिक चेतना के आत्मीय भाव में विकसित होते हैं।

सभ्यता साधनों और उपकरणों की वृद्धि है। तब यह कहना होगा कि ज्यों-ज्यों सभ्यता विकसित होती है, त्यों-त्यों संस्कृति का ह्रास होता है।

इस दृष्टि से प्राचीन काल में जब तक सभ्यता का विकास कम हुआ था तब तक संस्कृति का रूप अधिक समृद्ध था। संस्कृति चेतना के भावों की समृद्धि है। इसी समृद्धि में कलाएँ विकसित होती हैं। इसीलिए कलाओं के विकास का संस्कृति में अधिक महत्व है। आज कलाओं को व्यक्तिगत साधना ही समझा जाता है। व्यक्ति जीवन का प्राकृतिक केन्द्र है। जीवन के सभी कार्य और भाव व्यक्ति में ही सम्पन्न होते हैं। किन्तु व्यक्ति की सम्पन्नता व्यक्तित्व की इकाई और उसके अहंकार में ही चरितार्थ नहीं होती। सामाजिक स्थितियों में चेतना के आत्मीय भावों में व्यक्तित्व अधिक समृद्ध होता है। किन्तु इन भावों के विस्तार में अहंकार पूर्ण होकर विलीन होने लगता है। यह व्यक्तित्व का सांस्कृतिक विकास है। इसके विपरीत वाह्य उपकरणों और साधनों के परिग्रह में अहंकार का विस्तार दिखाई देते हुए भी वस्तुतः उसका संकोच होता है। यह अहंकार प्राकृतिक विस्तार है, जिसमें उपकरणों की समृद्धि होते हुए भी व्यक्तित्व दीन होता जाता है।

प्राचीन कृषि युग में जब कि सभ्यता का रूप बहुत सरल और ग्रामीण था। बाहरी उपकरणों का परिग्रह जीवन में अधिक नहीं बढ़ा था। अतः अहंकार के प्राकृतिक विस्तार में व्यक्तित्व की आन्तरिक विभूति का अधिक संकोच नहीं हुआ था। व्यक्तित्व की इकाई अपनी प्रवृत्तियों और अपने परिग्रहों में रूढ़ होकर कठोर न बनी थी। यों कह सकते हैं कि जीवन में द्रवत्व अधिक था, तथा उसमें गति और प्रवाह था। जीवन के क्षेत्र में धाराओं के संगम होते थे, जिनके विशाल क्षेत्र में कला और संस्कृति के पर्व रचे जाते थे। परिग्रहों के भाव और परिस्थितियों की व्यवस्था कम होने के कारण मनुष्य का मन अधिक स्वतंत्र था। अवकाश भी अधिक था। अवकाश समय की स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता में ही चेतना के भावों की समृद्धि होती है। अहंकार का प्राकृतिक विस्तार कम होने पर उसका सांस्कृतिक विस्तार कम होता है। स्वतंत्रता और अवकाश के साथ-साथ समानता भी अधिक थी। सभी लोग कलात्मक उद्योगों और सांस्कृतिक पर्व में समान रूप से भाग ले

सकते थे। अतः कला व्यक्तिगत साधना न होकर सामाजिक जीवन की सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम था। प्राचीन काल की कला और संस्कृति को लोक-कला और लोक-संस्कृति कहना अधिक उचित है। व्यक्तिगत अध्यवसाय और साधना के रूप में वे विकसित नहीं हुई थी, वरन् सामाजिक जीवन की सामान्य स्थितियों में सहज भाव से उदित हुई थीं। सरस्वती के कोष की भांति इस सांस्कृतिक सम्पत्ति में जितने अधिक लोगों का भाग था उतनी अधिक वह समृद्ध थी।

प्राचीन भारत में संस्कृति और कला का विकास इसी रूप में हुआ था। ग्रामों और जन पदों के सामूहिक जीवन के कारण संकुचित अहंकार की इकाई कठोर न बनी थी। इसीलिए प्राचीन भारत की कला कृतियों और सांस्कृतिक रचनाओं पर व्यक्तियों के कृतित्व की छाप नहीं है। अहंकार का देश और काल में कठोर अन्वय न होने के कारण इतिहास का रूप भी निश्चित नहीं हुआ था। जिसे हमारी प्राचान संस्कृति का दोष कहा जाता है, वह मानवीय संस्कृति की सबसे उत्तम विभूति है। अहंकार के सांस्कृतिक विस्तार के कारण प्राचीन युग की रचनाओं में देश, काल और व्यक्ति के कृतित्व की निश्चित छाप नहीं है। अहंकार का संकोच न होने के कारण तथा समय का अवकाश और चेतना की स्वतंत्रता अधिक होने के कारण चेतना के भावों और रचनाओं दोनों ही रूप में भारतीय संस्कृति बहुत समृद्ध थी। इसीलिए प्राचीन भारत में सांस्कृतिक विभूति का इतना विपुल परिमाण मिलता है। प्राचीन वैदिक साहित्य इतना विशाल है। संग्रह काल में कुछ ऋषिकुलों के नाम का उसके साथ सम्बन्ध हो गया है, किन्तु वस्तुतः उसकी रचना लोक-काव्य के रूप में हुई। लोक-नृत्यों की एक विपुल परम्परा आज तक देश में प्रचलित है। देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार की लोक-संगीत की पद्धतियाँ भी वर्तमान हैं। महाभारत और पुराणों का विपुल काव्य भी लोक-काव्य के रूप में ही विस्तृत हुआ है।

नागरिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन के परिग्रह और उपकरण बढ़ने लगे। सामूहिक वासों के स्थान पर ग्रहों की अलग-अलग इकाइयां बनने लगी। ऊँची और पक्की दीवारों में उनका व्यक्तित्व संकुचित और रूढ़ हुआ। इसी के अनुरूप मनुष्य का व्यक्तित्व भी अपने

अहंकार में संकुचित होकर कठोर इकाई बनने लगा। जिस अंश तक व्यक्तित्व की यह इकाई रूढ़ हुई उसी अंश में लोक-संस्कृति मन्द होती गई, और व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ने लगी। इतिहास का आरम्भ हो गया। कला व्यक्तिगत साधना बन गई। काव्य, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि के क्षेत्र में व्यक्तिगत अध्यवसाय रचनाओं के कृतित्व में सफल होने लगे। कृषि युग की ग्रामीण लोक-संस्कृति में कलाओं के उद्योग में सभी समान रूप से भागी थे। लोक-नृत्य और लोक-संगीत में नर्तक और दर्शक अथवा गायक और श्रोता में कठोर भेद नहीं था। लोक-काव्य का रूप भी लोक-संगीत के अधिक निकट था। सामान्यतः सभी समान रूप से इनमें भाग लेते थे। स्त्रियों का भी इसमें पुरुषों के समान स्थान था। नागरिक सभ्यता में व्यक्तित्व की इकाई ज्यों-ज्यों रूढ़ होती गई त्यों-त्यों कृतित्व का अहंकार बढ़ता गया। अतः कला और संस्कृति के क्षेत्र में स्रष्टा और द्रष्टा का भेद उत्पन्न हुआ। कलाकार और भावक के भेद का यहीं से आरम्भ है। जो कला समग्र लोक जीवन की विभूति थी, वह कुछ वर्गों और व्यक्तियों की साधना बन गई। ये कला के अधिक निकट रहे, और दूसरे उससे दूर हो गए। जो दूर हो गए उनके लिए कला का आस्वादन इस रूप में ही सम्भव रह गया कि वे दूसरों की कृतियों का रसास्वादन करें। यह तभी सम्भव है जब कि वे कला की सृजनात्मक चेतना के साथ आत्मीयता स्थापित कर सकें। जीवन के प्राकृतिक परिग्रह का भार इसमें बाधक था। अतः कला के सौन्दर्य का आस्वादन कुछ लोग ही और कभी-कभी कर पाते थे। व्यक्तिगत साधना बन कर कला की कृतियों में कलाकार का अहंकार भी अधिक रूढ़ रूप में व्यक्त होने लगा। अतः भावकों के लिए आत्मीयता के द्वारा कलात्मक सौन्दर्य का आस्वादन और भी कठिन होने लगा।

बुद्धि के आविर्भाव के बाद विश्व की संस्कृति का इतिहास व्यक्तिवाद के विकास का इतिहास है। सम्भवतः बुद्ध संसार के सर्वप्रथम महापुरुष हैं जो व्यक्तिगत रूप से विश्व में यशोधर हुए। प्राचीन मिस्र के पिरामिड और ममी ये संकेत करते है कि कदाचित बुद्ध के पूर्व भी वहाँ व्यक्तिवाद समृद्ध था। सम्भवतः युग के अनुकूल न होने के कारण वह व्यक्तिवादी सभ्यता नष्ट हो गई। किन्तु भारतवर्ष में बुद्ध के पूर्व व्यक्तिवाद

स्फुटित रूप में नहीं था। भारत की प्राचीन और मौलिक संस्कृति व्यक्तिवादी नहीं थी। हम उसे सामूहिक और समात्मभावी कह सकते हैं। प्राचीन युग में एक प्रकार का सांस्कृतिक समाजवाद था। सांस्कृतिक कृतियाँ सामाजिक चेतना के संगम में फलवती हुई थी। इस संगम में व्यक्तित्व का अहंकार सरस्वती के समान विलय हो गया था। व्यक्तित्व का अहंकार देश काल में अन्वित होकर इतिहास को रूप देता है। इसी कारण प्राचीन भारत का इतिहास नहीं है। इस अन्वय में रुचि न होने के कारण ही प्राचीन भारतीयों का इतिहास में अनुराग नहीं रहा।

वैदिक संहिताओं का मन्त्र साहित्य अपने रूप और भाव से यह संकेत करता है कि वह उस युग की रचना है, जिसमें सांस्कृतिक समाजवाद पूर्ण समृद्ध था। अधिकांश मन्त्र सामूहिक प्रार्थनाएँ और गीतियां हैं। उत्तम पुरुष के बहुवचन का प्रयोग इन मन्त्रों में बहुत है। ये मन्त्र प्राचीन भारत के लोक गीत हैं। जिन ऋषियों के नाम से ये प्रसिद्ध हैं वे संग्रह के माध्यम मात्र थे। वेदों के संहिता काल से बुद्ध तक का युग परिवर्तन का युग है। जिसमें सांस्कृतिक समाजवाद धीरे-धीरे आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तिवाद के रूप में बदलता गया। आत्मवाद का खंडन करने वाले बुद्ध व्यक्तिवाद के प्रथम प्रवर्तक बने। यह मानवीय संस्कृति की अद्‌भुत विडम्बना है।

अस्तु संस्कृति और कला का मौलिक रूप वही है जिसका आभास हमें वैदिक मन्त्रों में मिलता है। इस रूप में स्रष्टा और द्रष्टा अथवा कलाकार और भावक का भेद नहीं है। समाज के सभी सदस्य समान रूप से कला की रचना और उसके आस्वादन में भाग लेते हैं। यह कला का जीवन्त रूप है, जिसमें कला जीवन से अभिन्न होती है। प्राचीन काल में अल्प-साधनों की अपेक्षा के कारण संस्कृति और काव्य ही जीवन के मुख्य साध्य थे। साधन केवल साधन थे। वे भी कला और संस्कृति के निमित्त बन जाते थे। अल्प-साधनों की आकांक्षा के कारण लोगों को अवकाश भी अधिक था। वैदिक यज्ञों तथा वैदिक जीवन की विधि के विस्तार और उसकी जटिलताएँ इस अवकाश के प्रमाण हैं। प्रकृति की सहज पराधीनता तो उस युग में भी थी और सदा रहेगी। वह मनुष्य की शारीरिक विवशता है। किन्तु अल्प साधनों की आकांक्षा और

सामाजिक व्यवस्था अधिक जटिल न होने के कारण अवकाश के साथ-साथ मनुष्य के मन को स्वतंत्रता भी बहुत थी। मन की यह स्वतंत्रता कला के सृजन और आस्वादन दोनों के लिए आवश्यक है। कला चेतना के स्वतंत्र भावों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। चेतना एक स्वतंत्र और अपरोक्ष तत्व है। आत्मबोध में सबको उसका सहज साक्षात्कार होता है। सामाजिक आत्म-भाव, अवकाश, स्वतंत्रता और अपरोक्षता कला तथा संस्कृति के मौलिक तत्व हैं। इन तत्वों का संगम ही कला को सजीव रूप देता है।

कला और संस्कृति का यह सजीव रूप लोक कला और संस्कृति के रूप में साकार होता है। कला और संस्कृति का यही रूप सबसे प्राचीन है। इस लोक कला और संस्कृति में कलाकार और भावक का भेद नहीं होता। सभी उसमें समान रूप से भाग लेते हैं। सामूहिक कृतित्व में कला जीवन की साक्षात् और सामान्य विभूति बन जाती है। नृत्य और गीत कला के दो ऐसे रूप हैं जिनमें भाव और कृतित्व का संगम सबसे अधिक सुगमता से सम्भव है। इसीलिये प्राचीन लोक संस्कृति में लोक नृत्य और लोक गीत ही मुख्यत: मिलते हैं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी नृत्य अधिक प्राचीन है। बालक बोलने से भी पहले नाचने लगता है। नृत्य में भाव शरीर की भंगिमाओं के रूप के सहज साकार होते हैं। नृत्य गीत की अपेक्षा अधिक सक्रिय भी है। कला का सक्रिय रूप जीवन के अधिक निकट है। नृत्य में गीत का संगम होने पर वह और भी सजीव हो जाता है। अत: आदिवासियों और ग्रामीणों की लोक संस्कृति में नृत्य और गीत का यह संयुक्त रूप ही अधिक मिलता है। नृत्य और गीत के समान ही लोक संस्कृति के इस प्राचीनतम रूप में स्त्री और पुरुषों का समागम है। पुरुष मानों नृत्य की गति है तथा स्त्री मानों कला के सौन्दर्य को वाणी देती है। जिस प्रकार स्त्री और पुरुषों का समागम जीवन तथा समाज को पूर्ण बनाता है उसी प्रकार वह कला और संस्कृति को अधिक सजीव और पूर्ण बनाता है। यह समागम ही प्राचीन लोक संस्कृति और लोक कला को रस में परिलुप्त बनाता था। जब से कला व्यक्तिगत साधना बनी तब से मनुष्यों का तथा स्त्रियों और पुरुषों का यह समागम विच्छिन्न हो गया। कला का सहज रस काव्य का साध्य बन गया। तब में

कला, कलाकार और भावक सभी उस रस को खोज रहे हैं। नृत्य और गीत के इस संगम में कला का अपरोक्ष सौन्दर्य अनुभव में साक्षात् होता था। लोक कला के इस सहज और समृद्ध रूप में कलाकार और भावक ही थे। दर्शन और भावक इच्छानुसार स्वतंत्रता पूर्वक कला की रचना में भाग ले सकते थे।

किन्तु जहां नृत्य लोक कला का सबसे अधिक सजीव और समृद्ध रूप है वहां दूसरी ओर वह सबसे कम स्थायी है। उसका स्थायित्व रचना काल में ही रहता है। इस दृष्टि से नृत्य जीवन के अधिक अनुरूप है। जीवन और नृत्य दोनों समय की गति के साथ चलते हैं। किन्तु नृत्य इतिहास के विपरीत है। इतिहास अतीत को स्थिर बनाता है, नृत्य अतीत में विलीन हो जाता है। नृत्य की गति का चित्र के आकार में अंकन नहीं किया जा सकता। चित्र स्थिर रहता है। वह नृत्य की केवल एक मुद्रा को ही अंकित कर सकता है। दृष्टिपटल अथवा मस्तिष्क में भी नृत्य की गति अंकित नहीं हो सकती। नृत्य की अपेक्षा गीत स्मृति में अधिक स्थायी रहता है। इस स्थायित्व के कारण शब्द की परम्परा भी बन सकती है। वेदों की मन्त्र संहिताऐं ऐसी ही प्राचीन परम्पराओं का संकलन हैं। हजारों वर्षों तक वह श्रुति परम्परा में ही अक्षुण्ण रहा। लिपि का आविष्कार होने पर उसके स्थायित्व को एक और दृढ़ आधार मिल गया। किन्तु गीत की श्रवण परम्परा भी नृत्य से अधिक स्थायी होती है। आज तक उपलब्ध होने वाले लोक गीतों का परिमाण इसे प्रमाणित करता है। शब्द के माध्यम की सुगमता अन्य कर्मों के साथ गीत की संगति तथा स्थान, अवकाश, औचित्य आदि की नागरिक मर्यादाऐं भी गीत के प्रचार और नृत्य के ह्रास में कारण है। नृत्य के लिए अधिक उल्लास और उत्साह भी अपेक्षित है। वे भी नागरिक सभ्यता में कम होते गये। दुखः मय लोक-नृत्य दुर्लभ है। स्त्रियों और पुरुषों के समागम की स्वतंत्रता कम हो जाने से नृत्य का उत्साह मन्द हुआ। लोक नृत्य दर्शकों की नहीं तो साथियों की अपेक्षा अवश्य रखता है। लोक गीत भी सामूहिक गीत होता है। किन्तु गान अकेले भी सम्भव है। सम्भव ही नहीं गायक अपने गीत का आनन्द भी ले सकता है। नृत्य में यह सम्भव नहीं है। गीत में हम एक दूसरे के भाव में भी भाग लेते हैं। यह शब्द के माध्यम का

लाभ है। शारीरिक होने के कारण नृत्य की क्रियाएँ व्यक्ति में ही सीमित रहती हैं। अस्तु कई कारणों से लोक-गीत लोक-कला और संस्कृति का अधिक स्थायी और समृद्ध रूप बना रहा। उसका सबसे बड़ा गुण समाज की बदलती हुई व्यवस्था में एकान्त से लेकर समूह की अनेक परिस्थितियों में समान रूप से सम्पन्न होने की क्षमता थी। गीत की इसी क्षमता ने उसे अमर बनाया और काव्य को जन्म दिया।

काव्य गीत का साहित्यिक रूप है। मौलिक रूप में लोक गीत के रूप में ही काव्य का जन्म हुआ था। किन्तु नागरिक सभ्यता के साथ जब व्यक्तित्व की इकाई एक स्पष्ट संज्ञा बन गई तो जीवन के भावों की अभिव्यक्ति सामूहिक उद्गार न होकर व्यक्तिगत साधना बन गई। साहित्यिक काव्य इसी व्यक्तिगत साधना का फल है। व्यक्तिगत साधना होते हुए भी सूरदास, तुलसीदास, मीरा आदि के जैसे काव्यों में सामाजिक चेतना के भावों की विपुल अभिव्यक्ति हुई है। इन कवियों के काव्यों में व्यक्तिगत दृष्टिकोण का आग्रह स्फुट रूप में नहीं है। उनका दृष्टिकोण जन समाज के दृष्टिकोण के साथ एक रूप हो गया है। उनकी वाणी में सबको अपनी आत्मा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। बिना प्रयत्न के देश में इन काव्यों के इतने प्रचार और इनकी इतनी लोक-प्रियता का यही कारण है। इसके विपरीत जिन काव्यों में जन-समाज की व्यापक चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं है, अथवा जिनमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण अधिक स्फुट है वे व्यक्तिगत रुचि के द्वारा कुछ विशेष पाठकों में ही प्रचलित हुए। इस प्रकार काव्य में लोक-काव्य के स्थान पर आभिजात्य की परम्परा आरम्भ हुई।

व्यक्तिगत साधना का विषय बनकर जिस प्रकार काव्य का सम्बन्ध कवियों और कुछ पाठकों तक सीमित हो गया उसी प्रकार नृत्य, संगीत, आदि में भी साधना और आभिजात्य की परम्परायें विकसित हुईं। प्राचीन और मौलिक सूत्रों से आदिवासियों और ग्रामीणों में लोक नृत्य और लोक संगीत के रूपों में सामूहिक लोक संस्कृति का मौलिक रूप कुछ अंश में शेष रह गया है। सभ्य कहलाने वाले नागरिक समाज में उसके चिन्ह बिल्कुल मिटते जा रहे हैं। स्त्रियों और पुरुषों में सभ्यता का विकास समान रूप से नहीं हुआ है। इसीलिये स्त्रियों के द्वारा मनाये जाने वाले त्योहारों,

पर्वों, उत्सवों और संस्कारों के अवसरों पर नगरों में भी लोक संस्कृति की झाँकी कभी-कभी मिल जाती है। स्त्रियों की शिक्षा और सभ्यता के साथ-साथ यह झांकी विलुप्त हो रही है। नृत्य, संगीत और काव्य की व्यक्तिगत साधना की परम्परा अभी जीवित है, यद्यपि लोक समाज में इसका अधिक प्रभाव नहीं है, और कुछ ही लोग इन कलाओं के आस्वादन में अभिरुचि रखते हैं। नागरिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ नगरवासी साधारण जनों का परिग्रहों का भार तथा उनके उपार्जन की व्यवस्था बढ़ती गयी। साधनों का महत्व बढ़ता गया और साध्य रूपों में कलाओं का स्थान कम होता गया। सुलभ होने के कारण नृत्य और संगीत की अपेक्षा काव्य का प्रचार नागरिकों जनों में अधिक रहा। नृत्य और संगीत की साधना तथा उनको आस्वादन करने वाले विरले ही रहे।

काव्य के इस प्रकार के तीन कारण ये। काव्य का माध्यम भाषा है, जिसका सभ्यता के विकास के साथ परिष्कार ही हुआ है। यह भाषा शब्द रूप में है, जो सामाजिक व्यवहार का माध्यम है। अत: सभ्यता का विकास काव्य के माध्यम के अनुरूप रहा। दूसरे, लिपि ने भाषा और शब्द को स्थायी बनाया। लिखित शब्द स्थायित्व के कारण अधिक सुलभ रहा। तीसरे लिपि रूप में यह काव्य एकाकी के आस्वादन के लिये भी उपलब्ध रहा, नागरिक सभ्यता में मनुष्य का एकान्त बढ़ता गया। उस एकान्त में वह काव्य के माध्यम से अनेक पात्रों के साथ ऐसी आत्मिक सम्बन्ध प्राप्त कर सकता था, जैसा कि नागरिक सभ्यता की बहिर्मुख भौतिकता में सुलभ न था। शब्द में मानवीय भावों को व्यक्त करने की अदभुत शक्ति है। नागरिक सभ्यता के वढ़ते हुए एकान्त में भाव के भूखे मनुष्य को काव्य ही सबसे अधिक सुलभ और स्थायी अवलम्ब था।

नृत्य और संगीत में उनके रूप और माध्यम की कठिनाइयों के कारण ऐसे गुण नहीं हैं कि वे नागरिक की एकान्त अभिरुचि का विषय बन सकें। नृत्य का माध्यम शरीर है। साक्षात् नर्तक की सजीव कला के रूप में ही नृत्य का आस्वादन सम्भव है। संगीत के विषय में भी इसी सीमा तक यह सत्य है। यद्यपि कोई व्यक्ति अकेला भी नाच सकता है किन्तु ऐसा बहुत कम दिखाई देता है, क्योंकि कला के प्रदर्शन का आस्वादन कलाकार स्वयं नहीं कर सकता। आत्माराधन में कला का सौन्दर्य सम्पन्न नहीं होता। इसीलिये सामाजिक प्रदर्शनों की परम्परा सभी कलाओं

के साथ अनुबद्ध है। नागरिक सभ्यता के बढ़ते हुए एकान्त के साथ कला के प्रदर्शन और आस्वादन के योग्य परिस्थितियाँ दुर्लभ होती गयी। उपलब्ध होने पर भी एकान्त के कारण उदासीन और साधनों की उपलब्धि में व्यस्त नागरिकों को काव्य की तुलना में आयास लभ्य नृत्य और संगीत के प्रदर्शनों में न अधिक अभिरुचि होती है और न उनके लिए अवकाश ही अधिक मिलता है। एकान्त साधना के रूप में नृत्य और संगीत में रूप-शैली और सिद्धान्तों की बारीकियों और जटिलताओं का विकास हुआ। इनको समझने के लिए दीर्घ शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता है। यह शिक्षा और अभ्यास साधकों के लिए ही सम्भव है। साधारण नागरिकों को कला के प्रदर्शन के आस्वादन का अवकाश नहीं रहता। शैली की जटिलताओं और बारीकियों के कारण इन साधनामयी कलाओं का आस्वादन और भी कठिन हो गया। पक्के संगीत को समझने में साधारण नागरिक कितने कच्चे हैं यह तो सर्वविदित है। साधारण लोग संगीत में स्वर के माधुर्य को ही समझते हैं। लम्बे झगड़े झमेलों के लिए 'राग' का प्रयोग साधारण जनों के संगीत ज्ञान का उदाहरण है। नृत्य और गान में अधिकांश लोग कलाकार के रूप को ही देखते हैं। कला को बहुत कम समझते हैं।

नृत्य और संगीत की कलाओं के अभिजात रूपों का काव्य के साथ एक और अन्तर है। नृत्य और संगीत कलाकार की साक्षात् उपस्थिति में ही सम्पन्न होते हैं। उनकी शैली को न समझ पाने के कारण कलाकार, उसके भाव अथवा कला में लक्षित पात्रों के साथ हमारा आत्मभाव बहुत कम हो पाता है। कलाकार की साक्षात् उपस्थिति कला में ग्रहीत पात्रों के साथ आत्म भाव में बाधक होती है। प्रदर्शन की परिस्थिति और शैली की अग्राह्यता भेद को बढ़ा कर इस बाधा को और बढ़ाती है। इस भेद और बाधा के कारण नृत्य और संगीत का आस्वादन साधारण जनों के लिये कठिन होता है। दूसरे कला के प्रदर्शनों में भावक ग्राहक निष्क्रिय रहता है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में उसका कोई योग नहीं रहता। इसके विपरीत काव्य में कवि साक्षात् उपस्थित नहीं रहता। पाठक कवि का स्थान ग्रहण करके काव्य के भावों और पात्रों के साथ आत्म भाव का लाभ करता है। काव्य की भाषा पाठक की भाषा से अधिक दूर नहीं

होती। यदि भाषा में अधिक भेद होता है तो काव्य में पाठक की रुचि नहीं होती। इसके साथ-साथ कवि का स्थान ग्रहण कर पाठक मानों काव्य की रचना स्वयं करता जाता है। नृत्य और संगीत की तुलना में काव्य भावों की सम्पन्न कला है। वह भावों की मानसिक सृष्टि है। अतः पाठक बार-बार उसके सृजन में भाग ले सकता है। नृत्य और संगीत के प्रदर्शन शारीरिक और ऐन्द्रिक व्यापार अधिक हैं। अतः उनके सृजनात्मक सौन्दर्य में मानसिक रूप से भाग लेना दर्शकों के लिए सुगम नहीं है। अस्तु शैली की सूक्ष्मता और जटिलता तथा कलाकार और भावक के भेद एवं भावक की निष्क्रियता के कारण नृत्य और संगीत के अभिजात रूप लोक प्रिय नहीं हो सकते। इनके विपरीत कारणों से ही लोक संगीत और लोक नृत्य आदिम जातियों में अधिक लोक प्रिय थे।

उक्त कारणों से नागरिक सभ्यता में नृत्य और संगीत के प्रति अभिरुचि कम होती जा रही है। दोनों के सौन्दर्य को समझने के लिए जिस शिक्षा और ज्ञान की आवश्यकता है। उसमें साधारण लोगों की अभिरुचि बहुत कम है। साधारण लोग इन कलाओं में रूप के सौन्दर्य और स्वर के माधुर्य से ही अधिक आकर्षित होते हैं। इसका एक प्रमाण यह है कि पुरुषों की अभिरुचि स्त्रियों के नृत्य में ही अधिक दिखाई देती है। अच्छन महाराज अथवा उनके अनुज शम्भु महाराज के जैसे कला पूर्ण नृत्य में भी पुरुषों की रुचि अधिक नहीं हती। इसी कारण सिनेमा में भी प्रायः स्त्रियों का ही नृत्य दिखाया जाता है। सिनेमा में अधिकांश लोग कला से नहीं, वरन् रूप से आकर्षित होते हैं। सिनेमा के संगीत में भी कला के सौन्दर्य की अपेक्षा स्वर का माधुर्य और भावों की रूमानी संवेदना ही अधिक प्रभावशाली रहती है। नृत्य और संगीत से जहां एक ओर अपरोक्षता की संजीवता रहती है, वहां दूसरी ओर उनके रूप क्रियात्मक और संवेदनात्मक होने के कारण उनका स्थायी परम्परा बनना कठिन होता है। इसलिये शास्त्रीय नृत्य और संगीत की परम्परा बहुत विरल रही है। 'भाव' संवेदना की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। अतः काव्य की परम्परा अधिक विपुल और स्थायी रही है। सिनेमा के आविष्कार ने अभिनय के साथ-साथ नृत्य और संगीत को भी अधिक स्थायी माध्यम दिया है। किन्तु वह माध्यम बाह्य और संवेदनात्मक है। अतः इसके द्वारा नृत्य, संगीत आदि का अपने

आप में स्थायित्व तो बढ़ गया किन्तु मन के भावों के स्थायित्व में अधिक अन्तर नहीं पड़ा। दूसरी ओर सिनेमा के माध्यम ने नृत्य और संगीत की सजीव क्रिया और उसके सजीव कलाकारों को परोक्ष बना दिया। काव्य में तो कलाकार परोक्ष रहता ही है। अच्छे काव्य में वह भाव रूप में भी अप्रत्यक्ष रहता है।

अस्तु लोक कला के ह्रास के साथ-साथ नागरिक सभ्यता के विकास के द्वारा शास्त्रीय कलाओं का विकास हुआ। लोक कलाओं में अनेक लोग भाग लेते थे। कलाकार और भावक का भेद नहीं था। अतः अपरोक्षता के साथ-साथ उनमें एक सजीवता भी थी। लोक कलाओं में शैली और रूप की जटिलताएँ भी न बढ़ी थी। अतः साधारण लोग विना शिक्षा के अवकाश के समय में उनमें भाग ले सकते थे। उपकरणों का परिग्रह और जीविका की व्यस्तता कम होने के कारण प्राचीन सभ्यता में अवकाश भी अधिक था। छोटे समूहों में निकट परिचय के कारण लोक कलाओं के लिए अपेक्षित एकात्मता भी सदा और सहज प्राप्त थी। शास्त्रीय कलाओं में कलाकार और भावक के भेद के साथ-साथ शैली और रूप की जटिलता की भी बाधा है। नागरिक सभ्यता के विकास के साथ परिग्रह का आडम्बर बढ़ता गया, और जीविका के उपार्जन की व्यस्तता भी बढ़ती गयी। लोगों के पारस्परिक परिचय और सम्बन्धों की निकटता का भी ह्रास हुआ। अवकाश के क्षण कम होते गए। व्यस्त जीवन की व्यवस्था में मन की स्वतंत्रता भी कम हुई। परिग्रह के साधनों की महिमा और व्यस्त जीवन की व्यवस्था ने व्यक्ति के गौरव को कम किया। विज्ञान के प्रभाव से उद्योगों का विकास हुआ। साधनों का उत्पादन इतना बढ़ा कि साधन ही साध्य बन गए। जीवन की व्यस्तता में व्यवस्था के कारण व्यक्ति की स्वतंत्र महिमा विलीन हो गई। साधन-मुख और स्वार्थमय दृष्टिकोण तथा अपरिचय अथवा वाह्य सम्बन्ध के कारण मनुष्य का अपरोक्ष सम्बन्ध भी अर्थहीन हो गया।

नागरिक और औद्योगिक सभ्यता की यह एक विचित्र विडम्बना है, कि व्यक्तित्व के पृथकत्व और महत्व से आरम्भ होकर वह व्यक्तित्व के गौरव को चूर्ण कर रही है। इस विडम्बना का कारण यह है कि नागरिक सभ्यता का आरम्भ व्यक्तित्व के स्वार्थमय और वाह्य रूप को

लेकर हुआ। निकट परिचितों के जिस सहज और घनिष्ठ आत्मभाव में व्यक्तित्व की आन्तरिक महिमा सम्पन्न होती है, वह आत्मभाव नागरिक सभ्यता में मन्द होता गया। विज्ञान और उद्योगों के विकास ने इसे और भी कम किया। यन्त्रों के आविष्कार के पूर्व नागरिक सभ्यता में भी कुछ मानवीय सम्पर्क शेष थे, जो कुछ परिमाण में आत्मभाव के अवसर बन सकते थे। यन्त्रों के आविष्कार ने साधनों के उत्पादन को पूर्णतः परोक्ष बना लिया। उत्पादन करने वाले हाथों को हम जानते ही नहीं, अतः साधनों और उपकरणों में उत्पादक के भाव योग का पूर्णतः अभाव है। इस अभाव के कारण साधन केवल साधन रह गए हैं। उनका प्राकृतिक उपयोग मात्र है। उनका कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं है। साधनों का सांस्कृतिक मूल्य उनके परिग्रह अथवा उनसे प्राप्त होने वाली सम्वेदना में नहीं है, वरन् उन चिन्मय भावों में है, जिनके साधन केवल निमित्त हैं। चेतना के ये भाव केवल साधनों की प्राकृतिक सम्वेदना से प्राप्त नहीं होते। न वे व्यक्तित्व की प्राकृतिक इकाई में और एकान्त में सम्पन्न होते हैं। वे भाव मनुष्यों के निकट और घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्धों में उत्पन्न और समृद्ध होते हैं।

नागरिक और औद्योगिक सभ्यता में मनुष्य का व्यक्तित्व और जीवन के साधन प्राकृतिक इकाई बन कर भाव शून्य हो गए हैं। अवकाश और स्वतन्त्रता की कमी के साथ-साथ भाव शून्यता के कारण भी जीवन नीरस हो गया है। व्यस्तता और व्यवस्था के भार से आक्रान्त चेतना कलात्मक सौन्दर्य के सृजन और आस्वादन में समर्थ नहीं रहती, वह भावहीन होकर नीरस और उदासीन हो जाती है। कलाओं में समाज की अभिरुचि के ह्रास के ये ही कारण हैं। जीवन के उपकरण भावों के अनुषंग से शून्य होने के कारण केवल प्राकृतिक सम्वेदना के साधन हैं। वे कोई आन्तरिक तृप्ति या उल्लास नहीं देते। इसीलिए आज का सभ्य मनुष्य साधनों से समृद्ध होकर भी मन से दीन है। मन की सम्पत्ति चेतना के भाव हैं। वे भौतिक उपकरणों से नहीं, वरन् आन्तरिक और आत्मीय सम्बन्धों से प्राप्त होते हैं। इन सम्बन्धों की प्रचुरता के कारण ही प्राचीन सभ्यता में साधनों की दृष्टि से दीन होते हुए भी मनुष्य मन से समृद्ध था। भावों की इस समृद्धि में ही प्राचीन लोक कलाओं की समृद्धि हुई थी।

इन लोक कलाओं के सौन्दर्य से ही प्राचीन लोक संस्कृति सम्पन्न थी। आज साधनों के आडम्बर और अम्बार में मनुष्य का मन अकेला और दीन है। यान्त्रिक उद्योगों के परोक्ष उत्पादन के कारण जीवन के साधन भाव शून्य हैं। परिचय और सम्बन्ध के अभाव के कारण मनुष्यों का साक्षात् सम्पर्क भी अर्थ हीन उपचार है। उसकी अपरोक्षता अर्थहीन होने के कारण परिणाम में वह परोक्ष के समान ही है। आत्मीय और घनिष्ट सम्बन्ध होने पर परोक्ष स्मृति और कल्पना के द्वारा अत्यन्त समृद्ध भावों की सृष्टि का अवसर बनता है। लोक-गीत और साहित्यिक काव्य दोनों ही इस परोक्ष भाव सृष्टि के सौन्दर्य से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से सभ्यता का यह अपरोक्ष सम्पर्क परोक्ष से भी अधिक हीन है। समाज में अधिकांश लोग साधनों का उत्पादन करके श्रम के द्वारा जीविका अर्जित करते हैं। यान्त्रिक उद्योगों में श्रमिकों के लिए उत्पादन भाव शून्य बन गया है। श्रम में पराधीनता अधिक और अवकाश कम है। अतः उपभोगताओं की भांति श्रमिकों का जीवन भी स्वतंत्र चेतना के कलात्मक सौन्दर्य के सृजन और आस्वादन में असमर्थ है। उद्योगों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कार्य करने वालों की दिशा भी भिन्न नहीं है। आज कितने अधिकारियों, कर्मचारियों, श्रमिकों और व्यापारियों की कला में रुचि है। इनमें किसी के जीवन में भी कला का क्या स्थान है।

किन्तु इसमें इन सबका दोष नहीं इनकी असमर्थता है। सभ्यता की गति ने साधनों को समृद्ध किन्तु भाव हीन बना कर तथा व्यक्तित्व को शून्य बना कर इन्हें कला के अयोग्य बना दिया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता चाहे वह रही हो किन्तु जीवन की अनावश्यक जटिलताओं के कारण मानसिक स्वतन्त्रता मन्द है। व्यस्त जीवन में अवकाश का अभाव है। ऐसे जीवन में कला का अवसर कहां है। इसीलिए जहां एक ओर कलाओं शास्त्रीय रूपों का विकास हुआ है, वहां उस समाज में कलाओं में मन्द होती गई है। शास्त्रीय कलाओं की बढ़ती हुई जटिलताएँ को कलाओं से और दूर कर रही हैं। ऐसी स्थिति में लोक का अवगाहन सांस्कृतिक जागरण की एक नयी दिशा प्रतीत सही होते हुए भी यह दिशा अधिक आशामय नहीं है। कारण सभ्यता की उन स्थितियों में ही वर्तमान है,

जिन्होंने समाज में कलात्मक रुचि को मन्द किया है। लोक-संस्कृति और लोक-कलाओं की पुकार ऐसी ही लगती है, जैसे कोई अपने बचपन को याद करे। लोक-संस्कृति सभ्यता का बचपन ही है। लोक-कलाएं बचपन के समान ही सरल और आनन्दमय हैं। वय के बढ़ जाने पर बचपन को वापिस लाना सम्भव नहीं है इसी प्रकार सभ्यता के बढ़ जाने पर लोक-संस्कृति और लोक-कलाओं का जागरण सम्भव नहीं है। नागरिक कलाकार अभिनय और अनुकरण के रूप में ही लोक-कलाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से लोक-कलाओं का यह रूप शास्त्रीय कलाओं के समान ही है। इनके अभिनय और अनुकरण में शैली का बहुत महत्व रहता है। किन्तु शैली और रूप का उत्कर्ष व्यक्तिगत साधना में ही अधिक हो सकता है। समूह में यह अधिक सम्भव नहीं है, इसीलिए लोक-कलाओं का प्रदर्शन साधना के रूप में कम और कौतूहल के रूप में अधिक हो रहा है। नागरिक जनता में उसके प्रति कलात्मक अभिरूचि की अपेक्षा मनोरजन की भावना ही अधिक है। दर्शन करने वाले कलाकारों और प्रेक्षण करने वाले नागरिकों के मन में उस सभ्यता के प्रति कोई आदर का भाव नहीं है। जिस सभ्यता का प्रतिनिधित्व लोक-कलाएँ करती हैं, आदर और अनुराग की अपेक्षा इन सब में कौतूहल और उपचार ही अधिक है।

राजधानियों में कभी-कभी आदिवासियों और ग्रामीणों को आमन्त्रित करके लोक-कला के मौलिक प्रदर्शनों का भी प्रयत्न किया जाता है। ये प्रदर्शन कलाकारों की दृष्टि से तो लोक कला का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु राजधानियों के कृत्रिम वातावरण में इनकी स्वाभाविकता मन्द हो जाती है। प्रदर्शन बन कर लोक-कला का रूप मिथ्या हो जाता है। लोक-कला का मौलिक रूप प्रदर्शन नहीं है। लोक-कला जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में स्वतंत्र चेतना के भावों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। लोक-कला में कलाकार और भावक का भेद नहीं होता। उसकी रचना में सभी समान रूप से भाग लेते हैं। कलाकार ही भावक होते हैं। राजधानियों में लोक-कला के प्रदर्शन में जो कलाकारों और भावकों का भेद रहता है, वह लोक-कला की मौलिक स्थिति के अनुरूप नहीं है। इस भेद के कारण ये प्रदर्शन कलाकारों के

लिए आदेश के पालन तथा प्रेक्षकों के लिए कौतूहल और मनोरंजन के साधन रहते हैं। आदेश का पालन कलात्मक सृष्टि की स्वतन्त्रता को भंग करके उसे अस्वाभाविक बनाता है। कौतूहल और मनोरंजन का दृष्टिकोण कला के मौलिक महत्व को कम करता है। इन कलाकारों और उनकी सभ्यता का नागरिकों की दृष्टि में अधिक आदर भी नहीं है। औद्योगिक सभ्यता का विस्तार ग्रामों में भी हो रहा है। ग्रामीण सभ्यता के साथ-साथ लोक-संस्कृति और लोक-कला के आधार भी उच्छिन्न होते जायेंगे। अन्त में लोक-कला केवल अभिनय के शास्त्रीय रूप में रह जाएँगी। नागरिक सभ्यता के कलाहीन जीवन में इसका मान भी कलाओं के अन्य शास्त्रीय रूपों से अधिक न होगा। कला नागरिक सभ्यता का प्रखर प्रश्न चिन्ह है।

१६–अन्तर्राष्ट्रीयता और संस्कृति

दो विश्वव्यापी युद्धों के कारण वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व बहुत बढ़ गया है। देशों की राजनीति कुछ ऐसी एक दूसरे से उलझ गई है, कि अब किसी देश में होने वाली आन्तरिक घटना को अथवा दो देशों के बीच मैत्री और शत्रुता के सम्बन्ध को अन्य देश तटस्थ दृष्टि से नहीं देखते। प्रत्येक घटना को इस दृष्टि से देखा जाता है कि विश्व की राजनीतिक गतिविधि पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? कौनसी शक्तियाँ इससे प्रबल होंगी और कौनसी शक्तियाँ इससे दुर्बल होंगी, विश्व की व्यापक राजनीति पर इस घटना का क्या प्रभाव पड़ेगा ? साथ ही प्रत्येक देश उस घटना को इस दृष्टि से भी देखता है कि हमारे हित अहित पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? उदाहरण के लिए चीन के गृह-युद्ध में जब चांग-काई शेक पराजित हुए और चीन साम्यवादी हो गया तो इसे केवल चीन की एक आन्तरिक घटना नहीं समझा गया। साम्यवादी रूस को एक प्रबल साथी मिल गया। अत: विश्व राजनीति में उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। एशिया के देशों में अपने एक साथी के अभ्युदय से गर्व और आशा की किरणें फूटीं। रूस के विरोधी पश्चिमी देशों में चिन्ताएँ बढ़ गईं। साम्यवादी रूस का बल बढ़ना इनको सह्य नहीं है। इसीलिए पश्चिमी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन को स्थान देने का विरोध कर रहे हैं, और अमरीका फार्मोसा में पड़े हुए चांगकाई शेक की आड़ में नये चीन का विरोध कर रहा है।

दूसरा उदाहरण नासिर के मिश्र और संयुक्त अरब संघ का है। फारोह के अन्तिम उत्तराधिकारी बादशाह फारूक को निर्वासित कर जब कर्नल नजीब ने मिश्र में प्रथम बार प्रजातंत्र की स्थापना की, तो विश्व के देशों के सामने एक विराट प्रश्न चिन्ह खड़ा हो गया। कर्नल नासिर ने अरब गणराज्य की स्थापना की, तो यह प्रश्न चिन्ह और बड़ा हो गया। अरबों की नव जागरित राष्ट्रीयता का विश्व की राजनीति पर और अन्तत: अपने देश पर क्या प्रभाव पड़ेगा, सभी देश इस दिशा में सोचने लगे। इसी प्रकार जब मार्शल टीटो का मास्को से मतभेद हुआ और

यूगोस्लाविया साम्यवादी संघ से अलग हो गया, तो पश्चिमी राष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए। उनकी दृष्टि में रूस का बल इससे कुछ कम हुआ। हाल में जो तिब्बत में घटनायें हुई हैं, उनकी ओर भी सब देश शंका से देख रहे हैं। भारत के निकट होने के कारण तिब्बत की घटनाओं का सम्बन्ध भारत से सबसे अधिक है। पड़ौसी होने के नाते चीन के साथ सम्बन्ध भारत के लिए महत्वपूर्ण है। पश्चिमी राष्ट्रों की दृष्टि से यदि तिब्बत में चीन को सफलता मिलती है, तो साम्यवादी चीन की शक्ति कुछ और बढ़ जाती है, जो उनके लिए आशंका की बात है। इसी प्रकार कोरिया, काश्मीर, अल्जीरिया, हंगरी आदि संसार के किसी भी देश में कोई भी घटना होती है, तो सभी देश उसे इस दृष्टि से देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। युद्ध, क्रान्ति आदि की घटनओं को ही नहीं, वरन् विभिन्न देशों में होने वाले चुनावों के प्रति भी दूसरे देश उत्सुक रहते हैं। इन चुनावों में किस दल की जीत होती है, इसका प्रभाव उस देश के भाग्य पर ही नहीं पड़ता, वरन् दूसरे देशों के साथ उसके राजनीतिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य देशों की शिक्षा, व्यापार, उद्योग, शासन आदि सम्बन्धी गतिविधियों में भी देशों की रुचि बढ़ रही है। क्योंकि इनका भी देश की राजनीति और अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव पड़ता है।

विश्व के युद्धों के अतिरिक्त विज्ञान ने भी इस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ाने में योग दिया है। विज्ञान ने ऐसे आविष्कार किए हैं, जिनसे देशों के बीच यातायात अधिक बढ़ गया है, और यानों की गति बढ़ जाने के कारण तेज भी हो गया है। यह भी कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने ही युद्ध को भी विश्व व्यापी बनाया है। वायुयानों और बमों के आविष्कार से ही आधुनिक युद्ध अधिक भयंकर और प्रभावशाली हो गया है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ विज्ञान मनुष्य जाति के भाग्य का निर्णायक बन गया है। इसीलिए नए वैज्ञानिक आविष्कारों को सभी देश उत्सुक दृष्टि से देखते हैं। रूस और अमेरिका द्वारा छोड़े जाने वाले बालचन्द्रों को अन्य देश ऐसी ही आशंका और उत्सुकता से देखते हैं, जैसे अनिष्ट योगों में आकाश में उदय होने वाले धूमकेतुओं को देखते हैं। ऐसी आशा करते हैं कि इन बाल चन्द्रों की प्रगति से

विश्व मंडल के ग्रहों और नक्षत्रों का परस्पर सम्बन्ध बढ़ जाएगा। उस समय हमारा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण बन जाएगा। दृष्टिकोण के विस्तार में महान आविष्कारों का कर्त्ता मनुष्य कितना तुच्छ प्राणी रह जाएगा, यह कल्पना करना कठिन है। युद्ध और यात्रा के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोणों से भी हम दूसरे देशों के वैज्ञानिक आविष्कारों को देखते हैं। शिक्षा, चिकित्सा तथा अन्य निर्माणकारी दिशाओं में भी दूसरे देशों में बहुत से कल्याणकारी आविष्कार हो रहे हैं। इन आविष्कारों से अन्य देश भी लाभ उठा सकते हैं। राजनीतिक आशंकाओं के अतिरिक्त कल्याण की आशाओं की दृष्टि से भी हम दूसरे देशों की गतिविधियों को देखते हैं। विश्व के देशों में जहाँ परस्पर विरोध और संघर्ष की आशंका रहती है, वहाँ दूसरी ओर सहयोग की कल्याणकारी दिशायें भी खुल रही हैं।

अस्तु आशंका और आशा दोनों ही दिशाओं में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विश्व के देशों में बढ़ता जा रहा है। किन्तु सम्भवतः भारतवर्ष में इस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का आग्रह सबसे अधिक है। राष्ट्रीयता का जन्म योरुप में हुआ। योरुप में सभी देशों में राष्ट्रीयता की भावना इतनी प्रबल है कि उनके जीवन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही प्रधान है। यद्यपि राजनीतिक प्रसंगों में इन देशों के नेता और इनकी जनता अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में भी रुचि लेती है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण में उनकी राष्ट्रीय भावना को भारतवर्ष की भाँति अभिभूत नहीं कर रखा है। अन्तर्राष्ट्रीयता केवल अपने प्रसंग में स्थान रखती है। वह समस्त जीवन, साहित्य और संस्कृति पर छाई नहीं है। यद्यपि योरुप के विभिन्न देशों की संस्कृति में बहुत अधिक समानता है, फिर भी प्रत्येक देश अपनी संस्कृति की विशेषता पर गर्व करता हैं। वह दूसरे देशों की संस्कृति से निराली मानता है। उस संस्कृति के रूपों को अपनाने और स्वीकार करने में गर्व का अनुभव करता है। अमेरीका जैसा देश भी, जिसकी वस्तुतः ऐसी कोई विशेष संस्कृति नहीं है जो योरोपीय संस्कृति से सहसा अलग की जा सके, अपनी संस्कृति की विशेषता का अनुरोध करता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक और उचित है। संस्कृति का क्षेत्र विरोध का क्षेत्र नहीं है। अतः यदि कोई देश उसकी विशेषता पर गर्व करता है, तो उससे कोई हानि नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि अपनी संस्कृति को

दूसरों की संस्कृति से श्रेष्ठ मानना उचित नहीं है। संस्कृतियों की तुलना नहीं की जा सकती। सुन्दरता के क्षेत्र में श्रेष्ठ और हीन का प्रश्न असंगत है। किन्तु विरोध और श्रेष्ठता की भावना को छोड़ कर अपनी संस्कृति का आदर करना और उस पर गर्व करना अत्यन्त उचित है। प्राकृतिक आवश्यकताओं और सामाजिक उपयोगिताओं के बाद जीवन में संस्कृति का ही विशेष महत्व है। संस्कृति जीवन की अपूर्व विभूति है। वह प्राकृतिक आवश्यकताओं और सामाजिक उपयोगिताओं को भी सुन्दर और आनन्दमयी बना देती है। अपनी संस्कृति को अपना कर ही प्रत्येक देश और समाज अपने जीवन की पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

सदियों की पराधीनता के कारण भारतवासियों में अपनी संस्कृति के प्रति भी एक हीन भावना समा गई है। मुसलमानों के पास भारतीयों को प्रभावित करने योग्य कोई श्रेष्ठ शिक्षा और संस्कृति न थी। किन्तु अंग्रेज एक श्रेष्ठ संस्कृति का दम्भ ले कर आए। भारत के प्राचीन दर्शन और संस्कृति की विकृत आलोचना करके उसकी हीनता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अंग्रेजी-शिक्षा के प्रभाव से हम अपनी संस्कृति से दूर होते गए। हम अपने देश के गौरव और संस्कृति की महिमा को इतना भूल गए कि विदेशी संस्कृति को अपनाने और विदेशी बनने में हमें गर्व का अनुभव होने लगा। विश्व के एक बहुत बड़े भाग में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव और विश्व की राजनीति में पश्चिमी देशों के प्रभुत्व ने पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति को और प्रभावशाली बनाया। इससे हमारी हीन भावना और बढ़ी और हम पश्चिम का अनुकरण करने लगे। कुछ वर्ष पूर्व पंडित जवाहरलाल नेहरू भी विदेशों में विदेशी वेष-भूषा धारण करना आवश्यक समझते थे। दो महा-युद्धों के बाद विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखना आवश्यक हो गया, किन्तु दूसरे देश में यह अन्तर्राष्ट्रीयता राजनीति तक ही सीमित है। संस्कृति के क्षेत्र में सभी देश अपनी विशेषताओं को अपनाने में गर्व का अनुभव करते हैं। अपनी हीन भावना के कारण भारतवर्ष ही अन्तर्राष्ट्रीयता से इतना अभिभूत है कि राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपनी संस्कृति की उपेक्षा कर रहा है, अथवा उसे अपनाने में लज्जा का अनुभव कर रहा है। जलवायु के अनुसार अनुकूल न होते हुए भी भोजन, वस्त्र, गृह-निर्माण, रहन-सहन आदि सबमें हम

विदेशी रूपों को अपना कर विदेशी बनते जा रहे हैं। गर्मी में मोटी पतलून पहनते हैं और गर्म चाय पीते हैं। शीशे के मकानों में रहते हैं। चाहे धूप की चमक के कारण शीशों पर कागज लगाना पड़ता है। हमारे नगर विदेशी नगरों के समान बनते जा रहे हैं। विदेशी ढंग के होटल नृत्यशालायें आदि बढ़ रही हैं। नई दिल्ली तो न्यूयार्क सी दिखाई देती है। कनाट प्लेस पर खड़े होकर ऐसा लगता है कि मानों हम लन्दन या न्यूयार्क के बाजार में हों, अन्य क्षेत्रों में भी इस विदेशीयता का प्रभाव बढ़ रहा है। इलियट के सिद्धान्त हमारे काव्य के आदर्श हैं। हमारी चित्रकला पिकासो से प्रेरणा ले रही है। अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर हम अपने राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूपों को भूल कर सभी क्षेत्रों में विदेशी रूपों को अपना रहे हैं।

नगरों की सभ्यता और शिष्टाचार का रूप ही विदेशी नहीं बनता जा रहा है, हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भी अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को छोड़ कर विदेशी बनते जा रहे हैं। फैशन के नाम पर सिर से चोटी गायब हो रही है। यज्ञोपवीत की महिमा भी कम हो रही है। शिखासूत्र के साथ और भी सांस्कृतिक चिन्ह लुप्त हो रहे हैं। तिलक लगाने में लज्जा लगती है। बड़े-बड़े विद्वान् और नेता भी पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से हाथ जोड़ना छोड़ रहे हैं और हाथ मिलाने की प्रथा अपना रहे हैं। विवाह, उत्सव, पर्व, त्योहार आदि में भी अपने सांस्कृतिक आचारों में हमारी श्रद्धा कम हो रही है। शिक्षितों और नागरिकों में वेष-भूषा आदि की दृष्टि से विदेशीयता का प्रभाव बढ़ रहा है। ग्रामीणों में परम्परा के प्रभाव से कुछ प्राचीन प्रथाएँ चली आ रही हैं। स्त्रियां अपने पारिवारिक संस्कारों में उनका पालन कर रही हैं। किन्तु प्राचीन संस्कृति के इस अनुशीलन में सजग सार्थकता और श्रद्धा की अपेक्षा रूढ़ि का पालन अधिक है। सांस्कृतिक परम्पराओं का परिपालन मात्र पर्याप्त नहीं है। उनके महत्व को समझने पर और उसे श्रद्धा में प्रतिष्ठित करने पर ही सांस्कृतिक सौन्दर्य जीवन में बना रह सकता है, अन्यथा सांस्कृतिक परम्पराएँ क्षीण हो जाती हैं, अथवा उनका परिपालन नीरस व्यापार बन जाता है।

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सांस्कृतिक रूपों और आचारों का बाहरी दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। तिलक लगाना, हाथ जोड़ना,

चरण छूना, सप्तपदी, ग्रन्थिवन्धन स्वस्तिक आदि का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। ये सब उसी प्रकार निरर्थक हैं, जिस प्रकार हाथ मिलाना, सलाम करना, टाई लगाना आदि हैं। संस्कृति के रूपों का वाहरी व्यवहार की दृष्टि से कोई महत्व नहीं होता। प्राकृतिक लाभ की दृष्टि से इनमें कोई लाभ नहीं है। किन्तु मनुष्य का जीवन प्राकृतिक लाभ में ही पूर्ण नहीं होता। प्राकृतिक सुख के अतिरिक्त वह मन का हर्ष और आनन्द भी चाहता है। भौतिक उपकरण और प्राकृतिक क्रियाएँ इस आनन्द का आधार अवश्य हैं, किन्तु वे अपने आप में इस आनन्द की स्रोत नहीं वन सकतीं। दूसरी ओर संस्कृति के रूप और आचार जो प्राकृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़ते, वे ही इस अलौकिक आनन्द के निमित्त वनते हैं। विचार करने पर इन निरर्थक रूपों में भी कुछ सार्थकता दिखाई दे सकती है। किन्तु इनकी महिमा और आनन्द-पूर्णता इस सार्थकता के कारण ही नहीं है। शास्त्रों में कहीं इनके अर्थ की व्याख्या नहीं की गई है। जो अशिक्षित स्त्री पुरुष इनका पालन करते हैं, वे इनके अर्थ को नहीं जानते। फिर भी इन आचारों का पालन और इन रूपों का आदर करने में उन्हें अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इसका क्या रहस्य है? आनन्द मन और आत्मा की विभूति है। प्राकृतिक उपयोगिता के भौतिक उपकरण सुख दे सकते हैं। यह सुख व्यक्तिगत, सीमित और अल्पस्थायी है। प्राकृतिक अनुभव की अवधि तक ही वह रहता है। किन्तु आनन्द चिरन्तन और असीम है। किन्हीं भी उपकरणों के साथ आत्मीयता और परिचय उन्हें आनन्द का निमित्त वनाता है। जिन रूपों और आचारों में उपयोगिता कम होती है, वे और भी अधिक आनन्द के निमित्त वनते हैं। सांस्कृतिक सौन्दर्य और आनन्द का अद्भुत रहस्य है। इसी रहस्यमय सूत्र के आधार पर युग युगान्तर से संस्कृति के अनेक निमित्त चले आ रहे हैं। उपयोगिता का क्षेत्र संघर्ष का क्षेत्र है। अतः सांस्कृतिक रूपों के निरुपयोगी निमित्त समाज में सद्भाव और एकता के आधार वनते हैं। उनमें संघर्ष का प्रश्न नहीं है। परिचय और स्मृति के दीर्घ इतिहास की आत्मीयता और सामाजिक सद्भाव इन निरुपयोगी सांस्कृतिक रूपों के आनन्द के रहस्य हैं। प्राकृतिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण को छोड़ कर ही हम इन निमित्तों का मर्म समझ सकते हैं। भौतिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपना लेने

के कारण हम इस मर्म को भूलते जा रहे हैं। किन्तु इस कारण हमारे जीवन का आनन्द भी मन्द होता जा रहा है।

अपने प्राचीन सांस्कृतिक रूपों और आचारों को अपनाने का अभिप्राय यह नहीं है कि हम संकुचित राष्ट्रीयता, धार्मिक रूढ़िवादिता अथवा सांस्कृतिक रूढ़िवादिता का समर्थन करें। अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रों के बीच मुख्यतः राजनीतिक सम्बन्ध है। राष्ट्रीयता इसकी आधार शिला है। विश्व की एक राज्य व्यवस्था हो जाने पर अन्तर्राष्ट्रीयता का कोई प्रश्न न होगा। जब तक राष्ट्र अलग-अलग हैं, राष्ट्रीय भावना रहेगी। संकुचित होने पर यह राष्ट्रीयता राष्ट्रों के बीच अच्छे सम्बन्ध में बाधक होती है। संकोच का कारण सदा स्वार्थ और अभिमान होता है। राजनीति के क्षेत्र में इनकी सम्भावनायें हो सकती हैं। किन्तु संस्कृति के क्षेत्र में यह आवश्यक नहीं है। संस्कृति विरोध का क्षेत्र नहीं है। अतः संस्कृति के क्षेत्र में राष्ट्रीयता बाधक नहीं, वरन् साधक है। प्रत्येक राष्ट्र की विशेष परम्पराओं में ही संस्कृति के रूप खिलते हैं। अनेक-रूपता में ही संस्कृति का सौन्दर्य है। अतः दूसरे राष्ट्रों का विरोध और अपमान न करके अपने राष्ट्र के सांस्कृतिक वैभव पर गर्व करने वाली राष्ट्रीयता उचित ही नहीं, आवश्यक है। एक देश के विभिन्न भागों में भी संस्कृति के रूप अलग-अलग हो सकते हैं। इनकी रक्षा करना संस्कृति के सौन्दर्य को समृद्ध बनाना है। एक-रूपता प्रकृति का लक्षण है। राजनीति और राज्य व्यवस्था में एक-रूपता से कुछ संघर्ष मिट सकते हैं और कुछ सुविधायें अथवा लाभ हो सकते हैं। किन्तु संस्कृति की एक-रूपता संस्कृति के सौन्दर्य की घातक है। विरोध के क्षेत्र में एक-रूपता से लाभ हो सकता है। किन्तु संस्कृति अविरोध और सामंजस्य का क्षेत्र है। अतः उससे एकरूपता का कोई प्रयोजन नहीं है। अनेक रूपों में फलने फूलने में ही उसकी शोभा है। एकरूपता आने पर संस्कृति का सारा सौन्दर्य और प्रयोजन नष्ट हो जाएगा। एक और समान रूप में विविधता, विशेषता और आत्मीयता की वह परम्परा नहीं रहेगी जो संस्कृति को सुन्दर बनती है।

इसी प्रकार संस्कृति का अभिप्राय धर्मवादी रूढ़िवादिता से भी नहीं है। विश्वास पर आश्रित होने के कारण धर्म रूढ़ि अवश्य बन जाता है। किन्तु धर्म भी विरोध का क्षेत्र नहीं है। इस दृष्टि से वह संस्कृति के

समान है। धर्म के क्षेत्र में जो दोष और विरोध पैदा हुए हैं उनका कारण धर्म नहीं वरन् प्रकृति के वे दोष है। जिन्हें अधर्म कहा जा सकता है। अपने विरोधहीन रूपों में धर्म के उपकरण संस्कृति के अवलम्ब बन सकते हैं। धर्म के अतिरिक्त जीवन और आचार के अन्य रूप भी संस्कृति के उपादान बन सकते हैं। संस्कृति सौन्दर्य का विशेष रूप है, जो जीवन के प्राकृतिक और भौतिक आधारों से लेकर धर्म और आचार के उद्धानों तक में साकार हो सकता है। भारतीय संस्कृति की विशेषता तो इतनी व्यापक है कि वह जीवन के सभी रूपों में समाई हुई है। संस्कृति के विशेष रूपों के सौन्दर्य से जीवन के सभी धर्म सुन्दर बन जाते हैं। अतः जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाने के लिये संस्कृति के इन विशेष रूपों को अपनाना आवश्यक है। परम्परागत होने के कारण रूपों को रूढ़ि कहा जा सकता है। किन्तु परिचय और अभ्यास से संस्कृति के इन रूपों का सौन्दर्य कम नहीं होता, वरन् बढ़ता है। यही संस्कृति के सौन्दर्य का अद्भुत रहस्य है।

२०—हमारी अद्भुत लोक-संस्कृति

आधुनिक सांस्कृतिक धारणा में प्रायः ग्रामीण और वन्य लोगों की संस्कृति को लोक-संस्कृति माना जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यों यह लोक-संस्कृति पीछे छूटती गई है, अथवा नागरिक लोग उससे दूर होते गए हैं। इस प्रकार यह लोक-संस्कृति एक अ-नागरिक संस्कृति है। नागरिक समाज के जीवन में इस लोक-संस्कृति का उतना स्थान और महत्व नहीं है जितना कि उन ग्रामीण लोगों तथा वन्य जातियों के जीवन में है जो इस संस्कृति को अपनी सत्ता का अभिन्न अंग मानते हैं।

पश्चिमी देशों में लोक-संस्कृति और नागरिक सभ्यता का यह भेद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कदाचित् पश्चिम में ऐसी लोक-संस्कृति अधिक समृद्ध नहीं थी जो समाज के सामान्य जीवन में ओत-प्रोत हो तथा इस कारण जो नागरिक सभ्यता के विकास के बाद नागरिक जीवन में भी सुरक्षित और समादृत बनी रही। किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति इतनी समृद्ध और सार्थक रही है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन से उसका विच्छेद नहीं हुआ। वह ग्रामीण और वन्य जीवन में ही सीमित नहीं रह गई है। समाज के सामान्य जीवन से उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि नागरिक जीवन में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना हुआ है। यह भारतीय लोक-संस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है जिसकी ओर संस्कृति के व्याख्याताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर नगरों के निवासी अब अपनी इस लोक-संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं, यद्यपि अब तक यह लोक-संस्कृति नागरिक जीवन की नीरसता में मधुरता और सौन्दर्य का संचार करती रही है।

हमारी यह अद्भुत लोक-संस्कृति वास्तविक अर्थ में एक लोक-संस्कृति है। लोक का अभिप्राय एक देश के सम्पूर्ण समाज से है। सम्पूर्ण समाज की संस्कृति को ही वास्तविक अर्थ में लोक-संस्कृति कहा सकता है। जो संस्कृति सम्पूर्ण समाज में आदर नहीं पाती तथा केवल

ग्रामीण और वन्य समाज में ही शेष रह जाती है उसे लोक संस्कृति न कहकर ग्रामीण संस्कृति अथवा वन्य संस्कृति कहना चाहिए। सामूहिक नृत्य के उदाहरण के द्वारा इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है। सामूहिक नृत्य विशेष रूप से ग्रामीण और वन्य संस्कृति में ही शेष रह गए हैं। नागरिक सभ्यता ने उन्हें त्याग दिया है।

किन्तु सामूहिक नृत्य का यह उदाहरण एक अपवाद जैसा है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोक संस्कृति के ऐसे अनेक रूप हैं, जो ग्रामीण और नागरिक समाज में समान रूप से पाए जाते हैं। लोक संस्कृति के कुछ रूपों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि नगरों की अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण नागरिक जीवन में इनका रूप अधिक भव्य बन जाता है। होली, दीपावली आदि के पर्व इसके उदाहरण हैं। नगरों में इनकी शोभा ग्रामों की अपेक्षा अधिक होती है।

हमारे तीज, त्यौहार, पर्व, व्रत, उत्सव, संस्कार, मेले, तीर्थ आदि हमारी इस अद्‌भुत लोक संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार के समाजों में इनका समान महत्व है। दोनों ही समाज लोक संस्कृति के इन रूपों का समान रूप से निर्वाह करते हैं जैसा कि अभी कहा जा चुका है। अनेक बार लोक संस्कृति के कुछ रूप ग्रामीण समाज की अपेक्षा नागरिक समाज में अधिक जन-संख्या और अधिक समृद्धि के कारण अधिक भव्य रूप में सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के कुछ रूपों की भूमिका मूलतः ग्रामीण कृषक समाज में बनी थी। किन्तु इस भूमिका के ऊपर इस लोक-संस्कृति का विकास ऐसे सुन्दर रूपों में हुआ कि ये नागरिक जीवन में भी सहज भाव से समाहित हो गए हैं।

दीपावली, होली आदि के पर्व हमारी इस अद्‌भुत लोक संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। संसार की किसी अन्य संस्कृति में ऐसे पर्व देखने को नहीं मिलेंगे। प्रायः कहा जाता है कि संसार के अन्य देशों में भी रंग का पर्व होता है तथा दीपक जलाए जाते हैं। कदाचित् दूसरे देशों की ये प्रथाएँ हमारी समृद्ध परम्परा का आंशिक अनुकरण मात्र है। हमारी दीपावली केवल दीपकों का पर्व नहीं है। दीपकों का जलना केवल उसका एक अंग है। कदाचित् अन्यत्र इन दीपकों की माला नहीं बनाई

जाती और न दीपोत्सव को 'दीपमालिका' कहते हैं। अन्य देशों में दीपकों के द्वारा लक्ष्मी पूजन नहीं होता। हमारी दीपावली में दीपोत्सव और लक्ष्मी पूजन के अतिरिक्त 'धन्वंतरि-त्रयोदशी', 'नरक-चतुर्दशी', 'यम-दीपन', घरों की सफाई-पुताई, भित्ति आलेखन, मिष्टान वितरण, खील-बताशे, नवीन वस्त्र निर्माण, देव-मन्दिरों तथा पड़ौसियों के घरों में दीप-दान आदि अनेक प्रथाएँ सम्मिलित हैं जो उसे विदेशों के दीपोत्सव की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। दीपावली की प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा तथा उसके बाद आने वाली भ्रातृ द्वितीया उसे और अधिक सम्पन्न बनाती है। दीपावली की इन सभी प्रथाओं का पालन ग्रामों और नगरों में समान रूप से होता है।

इसी प्रकार हमारी होली केवल रंग का पर्व नहीं है। यह रंग भी केवल प्राकृतिक रंग नहीं है। इसके पीछे हृदय के भावों का रंग है और श्रीकृष्ण के भावमय जीवन की पवित्र भूमिका है। इसके अतिरिक्त वसन्त-पंचमी से होली की स्थापना, रंग की एकादशी से होली के गीतों का आरम्भ होना, पूर्णिमा के होलिकादाह के पूर्व कन्याओं द्वारा कई दिन तक नित्य होलिका पूजन, एकादशी का आमलकी पूजन, पूर्णिमा का होलिका-दहन, नवान्न की आहुति, प्रतिपदा का धूलि वन्दन, अतिथियों का आमन्त्रण, अपरिचितों का कण्ठ-मिलन, भ्रातृ द्वितीया आदि ऐसी प्रथाएँ हैं जो दीपावली की प्रथाओं की भाँति होली के पर्व को भी अत्यन्त सम्पन्न और सार्थक बनाती हैं। ऐसे सम्पन्न और सार्थक पर्वों का उदाहरण संसार के किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता।

दीपावली और होली के अतिरिक्त अन्य अनेक तीज, त्यौहार, पर्व आदि भारतीय जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। एक प्रकार से हमारा सम्पूर्ण वर्ष ही पर्वों और उत्सवों का निरन्तर क्रम है। कुछ दिन के अन्तराल से नित्य-प्रति नए पर्व और उत्सव आते रहते हैं। संगीत के स्वरों की भाँति ये पर्व एवं उत्सव अनेक प्रकार के होते हैं तथा इन्हीं के साथ-साथ समय-समय पर पारिवारिक संस्कारों, मेलों आदि के संवादी वाद्य हमारी जीवन्त लोक-संस्कृति को एक सम्पन्न संगीत का रूप देते हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की दुर्गा पूजा, कौमार्य वन्दना, मातृ-पूजा आदि से आरम्भ होकर अक्षय तृतीया, वट-सावित्री, गंगा-

दशहरा, व्यास-पूर्णिमा, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, गणेश-चतुर्थी, ऋषि-पंचमी, अनन्त चतुर्दशी, पितृ-पक्ष, शारदीय नवरात्र, दीपावली, गोवर्धन पूजा, मकर संक्रान्ति, वसन्त-पंचमी, और शिवरात्रि के स्वर-सोपानों से होकर होली के लोकपर्व में हमारी लोक संस्कृति की रागिनी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है। लोक संस्कृति की इस परम्परा में व्रत, पर्व उत्सव, त्यौहार आदि संगीत के विभिन्न स्वरों की भाँति ऐसे क्रम में सँजोए हुए हैं कि लोक संस्कृति की यह योजना लोक जीवन की एक सुन्दर रागिनी बन जाती है।

नवरात्रि की रहस्यमय शक्ति-पूजा के शान्त और मन्द स्वर से लोक-संस्कृति की इस रागिनी का आरम्भ होता है। शक्ति ही जीवन का आधार है। मातृत्व उसका मूल है। कौमार्य के अभिनन्दन से समाज में शक्ति की परम्परा पोषित होती है। अतः इन तीनों के अभिनन्दन से वर्ष का आरम्भ करना अत्यन्त उचित है। गणित की मूल संख्याएँ नौ ही होती हैं। अतः नौ दिन की यह शक्ति-पूजा वस्तुतः प्रतिदिन की शक्ति-पूजा की प्रतीक है। शक्ति के अनेक रूप हैं। इन अनेक रूपों में शक्ति हमारे जीवन और हमारी संस्कृति का आधार है। नवरात्र के इस व्रत का ग्राम और नगर के लोग समान रूप से पालन करते है। देवी के तीर्थो में होने वाले मेले इस व्रत में उत्सव का संपुट देते है, और इसकी विभूति को व्यवहारिक जीवन में अन्वित करते हैं।

अक्षय तृतीया भी एक प्रकार से शक्ति की आक्षय परम्परा के प्रस्तार की प्रतीक है। यह परशुराम की जयन्ती के रूप में भी बनाई जाती है। घड़ा, सत्तू, पंखा, ऋतुफल आदि का दान शक्ति परम्परा में दान के महत्व को सूचित करता है और व्रत की विभूति को सामाजिक सम्बन्धों में अन्वित करता है। वट सावित्री का व्रत नारी की संजीवनी महिमा को अमर बनाता है। सत्यवान को यम के पाश से लौटाने वाली सावित्री भारतीय नारी का आदर्श बन गई है। ग्राम और नगर सभी स्थानों की स्त्रियाँ सावित्री के व्रत का पालन करती हैं। इस अवसर पर कोई भारी मेला या उत्सव तो नहीं होता। जीवन-मरण का गम्भीर अवसर इसके लिए उपयुक्त भी नहीं है। फिर भी घर में इस व्रत के निमित्त से कुछ उत्सव का वातावरण भी बन जाता है।

गंगा दशहरा कोई व्रत न होकर गंगा स्नान का पर्व है। ग्रामीणों के लिए ज्येष्ठ के अवकाश काल में गंगा यात्रा और गंगा स्नान एक धार्मिक पर्व बन जाते हैं। गंगा के निकट के नगर निवासी भी इस पर्व के पुण्य में भाग लेते हैं। गंगा तट के मेले इस पुण्य पर्व को एक उत्सव भी बना देते हैं, तथा इसे आर्थिक एवं सामाजिक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं। पिछले तीन व्रतों के बाद गंगा दशहरा के उत्सव में संस्कृति की रागिनी का स्वर बदल जाता है। व्यास-पूर्णिमा गुरु-वन्दना का पर्व है। प्राचीन शिक्षा-परम्परा में गुरुओं का बड़ा योग रहा है। उन्हीं के के तप-त्याग से निरुपयोगी होते हुए भी विद्या की परम्परा पोषित रही। आषाढी पूर्णिमा का यह पर्व उन्हीं गुरुओं की महिमा का स्मारक है। स्वराज्य में इसकी प्रथा मन्द हो चली है। किन्तु इस प्रथा का पुनरुज्जीवन राष्ट्र के पुनरुज्जीवन में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

रक्षा बन्धन का पर्व वर्ष का पहला सामाजिक पर्व है। श्रावणी का उपाकर्म और बहनों की राखी इसके दो पक्ष हैं। ये दोनों क्रमशः धार्मिक और सामाजिक उत्तरदायित्व के सूचक हैं। वैदिक उपाकर्म को तो लोग प्रायः भूल चले हैं, किन्तु बहनों की राखी ग्राम और नगर दोनों के घर-घर में एक अद्‌भुत आनन्द की सृष्टि करती है। बहिन का सम्बन्ध एक अत्यन्त मधुर और पवित्र सम्बन्ध है। भारतीय संस्कृति में इसका सबसे अधिक आदर किया जाता है। रक्षा-बन्धन का पर्व विवाहित स्त्रियों के पीहर के साथ सम्बन्ध को प्रतिवर्ष नया कर देता है और उनके शील की मर्यादा को सुरक्षित बनाता है। यह सुन्दर पर्व हमारी लोक संस्कृति का भी रक्षा-बन्धन है। झूले के गीत और मधुर व्यंजन इस पर्व के माधुर्य का विस्तार करते हैं।

रक्षा-बन्धन के आठ दिन बाद जन्माष्टमी का धार्मिक पर्व आता है। इसमें व्रत और उत्सव दोनों का समन्वय होता है। घरों और मन्दिरों में श्रीकृष्ण की झाँकियाँ सजाई जाती है, और उत्सव के आनन्द में व्रत का पारण होता है। गणेश चतुर्थी में गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र में इसकी विशेष महिमा है। किन्तु मंगल के देवता के रूप में गणेश समस्त भारत में पूजे जाते हैं। ऋषि-पंचमी ऋषियों के संस्मरण का पर्व है। इसमें वन्य आहार के द्वारा ऋषियों का स्मरण किया जाता है। अनन्त

चतुर्दशी अनन्त परम्परा का व्रत है। ये दोनों व्रत के रूप में जी माने जाते है। इनकी सात्विकता के कारण कदाचिद् इनमें उत्सव का संगम नहीं हो पाया।

अनन्त चतुर्दशी के दूसरे दिन से पितृ-पक्ष का आरम्भ होता है। पितरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण भी एक सामाजिक सत्कार और पारिवारिक उत्सव का अवसर बन जाता है। गरीब अमीर सभी घर-घर पितरों का श्राद्धोत्सव करते हैं। यह रक्षाबन्धन के समान ही एक व्यापक और सार्वभौमिक कृत्य है तथा हमारी लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है।

पितृ पक्ष के बाद शारदीय नवरात्र का आरम्भ हो जाता है जो वासंतिक नवरात्र की आवृत्ति है। यह आवृत्ति जीवन में शक्ति के महत्व का समर्थन करती है। शक्ति का तत्व अत्यंत रहस्यमय है किन्तु तान्त्रिक विद्वानों से लेकर ग्रामीण नर-नारियों तक असंख्य लोग नवरात्र का व्रत करते है। कार्तिक की कृष्ण चतुर्थी से दीपावली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। करवा चतुर्थी सौभाग्य का व्रत है। उसके बाद अहोई अष्टमी वात्सल्य का व्रत है। सौभाग्य और वात्सल्य दोनों का भारतीय संस्कृति में अपार महत्व है। ग्राम और नगर की शिक्षित और अशिक्षित, गरीब और अमीर सभी स्त्रियाँ इन व्रतों को करती है। धन्वन्तरि त्रयोदशी का आयुर्वेदिक पर्व साधारण जनों के लिये नये पात्र खरीदने का पर्व बन गया है। किन्तु अपने इस नये रूप में यह बहुत व्यापक है। नरक चतुर्दशी का यमदीप अमावस्या की दीपावली का सूत्रधार बनता है। अमावस्या की रात में लक्ष्मी पूजन की दीप मालाएँ आकाश के नक्षत्रों से स्पर्धा करती है। एक वर्ष के बाद लीप-पोत कर स्वच्छ बनाये हुये घर-द्वार दीपकों की ज्योति से जगमगा उठते हैं। श्रम, स्वास्थ्य, स्वच्छता, नियम और प्रकाश की यह महिमा ही लक्ष्मी पूजा का मर्म है। राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक दीपावली का आलोक जीवन में उल्लास भरता है। रक्षा बन्धन के बाद दीपावली दूसरा व्यापक लोक पर्व है। प्रतिपदा की गोवर्धन पूजा कृष्ण युग के गोपालन की स्मृति को हरा कर देती है। घर-घर में गोवर्धन की परिक्रमा का अभिनय होता है। भ्रातृ द्वितीया दीपावली के उल्लास पर्व पर एक

सांस्कृतिक मर्यादा का तिलक रचती हैं। एकादशी के देवोत्थान में भारत के भाग्य-देवता जाग उठते हैं और वर्ष की महत्वपूर्ण फसल के संरक्षण में लग जाते हैं।

दीपावली के पर्व में लोक संस्कृति की रागिनी मध्यम सप्तक के पंचम स्वर तक पहुँच जाती है। इसके वाद उसका मन्द्र सप्तक की ओर उतार होता है। ग्रीष्म के साथ विरोध के कारण भारतवासियों के लिये शीतकाल कठोर होता है। ग्रामीण जनों का शीतकाल धूप और आग का सेवन करते वीतता है। इसीलिये दापावली के वाद दो मास तक कोई विशेष पर्व नहीं आता। मकर संक्रान्ति से सूर्य उत्तरायण होता है। संस्कृति की रागिनी मध्यम से तार की ओर वढ़ती है। माघ स्नान और संक्रान्ति के व्रतदान से रागिनी का नया आलाप आरम्भ होता है। मकर संक्रान्ति के वाद शिवरात्रि का महान लोक पर्व आता है। कृष्ण के मन्दिर ग्रामों में नहीं हैं। किन्तु शिव मन्दिर गाँव-गाँव होने के कारण शिवरात्रि का पुण्य ग्रामीण जनों के लिये भी सुलभ हो जाता है। गंगोत्री से लेकर रामेश्वरम् तक शिवार्चन की यात्राऐं सम्पूर्ण भारत के धार्मिक मानस को एक पवित्र उल्लास से आन्दोलित कर देती है।

वसन्त-पंचमी से होली की भूमिका आरम्भ हो जाती है। आमलकी एकादशी से रंग लीला का सूत्र पात हो जाता है। होली का दहन नवान्न यज्ञ कृषि और धर्म की संगति है। अपरिचितों के कण्ठ मिलन, उन्मुक्त धूलि वन्दन, स्वच्छन्द रंग लीला और विमुक्त लोक गायन में संस्कृति की रगिनी अपने उच्चतम तार स्वर पर पहुँचती है। चैत्र की भ्रातृ द्वितीया पुनः मर्यादा का तिलक देकर उसे सम पर आने का संकेत करती है। वर्ष की रागिनी का अवसान होता है और नव वर्ष के नवरात्र से नये वर्ष की रागिनी आरम्भ हो जाती है।

वर्ष की इस अविच्छिन्न पर्व परम्परा की सांस्कृतिक रागिनी को जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि के संस्कारों तथा मेलों, यात्राओं आदि के उद्योगों की तानें और आलापें और भी सम्पन्न एवं सुन्दर वना देती हैं। भारतीय लोक संस्कृति उस प्रकार जीवन का एक अंग मात्र नहीं है जिस प्रकार संस्कृति की आधुनिक धारणा में कला, धर्म, दर्शन आदि को जीवन

का अंग माना जाता है। लोक संस्कृति के सभी रूप जीवन में समवेत हैं। पर्व, व्रत, संस्कार आदि सभी जीवन की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। साक्षात् और वास्तविक जीवन ही इनमें सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लेता है। वर्षारम्भ के नवरात्र से लेकर वर्षान्त के होली तक के सभी पर्व, व्रत और उत्सव साक्षात जीवन में समाहित होते हैं। उनके विमित्त से समय समय पर जीवन ही पर्व और उत्सव का रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय लोक संस्कृति की यह एक अद्भुत विशेपता है जो उसे संसार की संस्कृतियों में अनुपम बनाती है।

जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि साक्षात् जीवन के संस्कार हैं। इनके सम्बन्ध में होने वाले समारोह व्यक्ति और समाज के जीवन को उत्सव का रूप देते हैं। शास्त्रों में तो गर्भाधान से ही संस्कारों का आरम्भ होता है। किन्तु आज भी प्राय: जात कर्म का संस्कार सभी घरों में होता है। जन्म जीवन का आरम्भ है। जात कर्म के द्वारा आरम्भ से ही जीवन को सांस्कृतिक रूप मिलता है। जात कर्म के बाद चूड़ा-कर्म कर्ण-वेध आदि बढ़ते हुये जीवन के पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करते हैं। उपनयन संस्कार शिक्षा में सांस्कृतिक सौन्दर्य का समन्वय करता है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के लोग इन संस्कारों का निर्वाह करते हैं, यद्यपि सामाजिक उदासीनता के कारण इनका महत्व कम होता जा रहा है। किन्तु अब भी इनका बहुत कुछ सौन्दर्य शेप है। अनेक घरों में जातकर्म, चूड़ा मर्म, कर्ण वेध और उपनयन के संस्कार समारोह के साथ होते है। इस समारोह में व्यक्ति का जीवन ही नहीं वरन् परिवार, कुटुम्ब और परिचित समाज का जीवन भी कुछ समय के लिये सांस्कृतिक सौन्दर्य से भर जाता है।

इन संस्कारों में सबसे बड़ा विवाह का संस्कार है। विवाह जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण संबंध है। भारतीय समाज में उसे एक विस्तृत और महत्वपूर्ण भूमिका में प्रतिष्ठित किया गया है। दो व्यक्तियों का विवाह-सम्बन्ध परिवार, कुटुम्ब और समाज के लिये एक अपूर्व उत्सव बन जाता है। विवाह का ऐसा समारोह अन्य किसी देश में नहीं होता। अग्नि-वेदी, पुरोहित, वेद मंत्र सप्तपदी आदि विवाह को धार्मिक पवित्रता प्रदान करते है। दूसरी ओर स्वजनों का सौहार्द, गीत, वाद्य, भोज आदि उसे

एक उत्सव का रूप देते हैं। इस प्रकार विवाह का प्राकृतिक सम्बन्ध एक विशाल सांस्कृतिक उत्सव बन जाता है। अन्त्येष्टि की अधिक चर्चा उचित नहीं है फिर भी इतना विचारणीय है कि जिस रूप में अन्त्येष्टि का संस्कार होता है उस रूप में वह शोक ग्रस्त घर से मृत्यु की अपवित्रता और उसकी विभीति का प्रभाव अपने धार्मिक प्रक्रिया के द्वारा बहुत कुछ दूर कर देता है। दूसरी ओर जिस श्रद्धा और सद्भावना के साथ मृतक का अन्तिम संस्कार होता है उसकी कल्पना ही प्रत्येक जीवित मनुष्य को अपनी नियति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सांत्वना प्रदान करती है। मृत्यु जीवन का अ-निवार्य अन्त है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्रद्धा आदि के रूपों में जिस प्रकार भारतीय परम्परा में मृत्यु की इस अ-निवार्य नियति का समाधान किया गया है तथा उसे सुन्दर और सह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है उससे जितनी अधिक सांत्वना मर्त्य मनुष्य को मिल सकती है उससे अधिक सांत्वना की आशा अन्य किसी समाज में नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जात कर्म से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त जीवन को सुन्दर बनाते है। संस्कार का अर्थ परिमार्जन अथवा शोधन है। किन्तु संस्कार संस्कृति का मौलिक बन्धु है अतः इन संस्कारों में परिमार्जन के साथ-साथ सौन्दर्य का सन्निधान भी होता है। पर्व और संस्कार दोनों मिलकर जीवन को द्विगुणित सुन्दर बनाते है। पर्वों की गति वर्ष के कालानुक्रम के अनुसार है। संस्कारों की गति व्यक्ति के आयुक्रम के अनुसार होती है। अतः प्रायः दोनों का संगम होता है। गान-वाद्य की संगति की भाँति दोनों की संगति जीवन और लोक संस्कृति की रागिनी को मनोहर बनाती है। संस्कार साक्षात् जीवन के पर्व हैं। इनमें सांस्कृतिक सौन्दर्य को जीवन के यथार्थ में अन्वित किया जाता है। पर्वों में सांस्कृतिक सौन्दर्य में जीवन के यथार्थ को द्विविध और पारिपूरक प्रक्रिया के द्वारा जीवन और सौन्दर्य का द्विगुणित समन्वय जीवन को अपार सौन्दर्य प्रदान करता है।

पर्वों और संस्कारों के अतिरिक्त तीर्थ दर्शन, तीर्थ स्नान, यात्रा, मेले आदि भी लोक जीवन को अनेक प्रकार से सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं। तीर्थ धर्म के पीठ है। भारत में सर्वत्र इतने तीर्थ फैले हुये हैं कि

सम्पूर्ण भारत को 'धर्म भूमि' कहा जा सकता है। पुण्य अवसरों पर तीर्थों में मेले भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थों में धर्म और अर्थ का संगम होता है। तीर्थ यात्रा, तीर्थ दर्शन और तीर्थ स्नान की प्रथा भारत में बहुत प्रचलित है। ग्राम और नगर सभी स्थानों के निवासी तीर्थों में श्रद्धा रखते है। यह तीर्थ सेवन हमारी लोक-संस्कृति का एक धार्मिक अंग है और उतना ही लोक प्रिय एवं महत्वपूर्ण है जितने कि पर्व, उत्सव, संस्कार आदि हैं। यह भारतीय जीवन की पवित्र भावना का द्योतक है। हमारे व्रतों और पर्वों में भी धार्मिक भावना ओत-प्रोत है। तीर्थ सेवन उस भावना की संगति को पूर्ण करता है तथा देश की भूमि के साथ हमारी एकात्मता स्थापित करता है। पर्वों, व्रतों और उत्सवों की भाँति तीर्थ सेवन के अवसरों की बहु संख्यकता धार्मिक भावना का जीवन के साथ व्यापक सामंजस्य स्थापित करती है।

तीर्थों के अतिरिक्त भी अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े मेले लगते हैं। मूल रूपों में तो ये मेले आर्थिक व्यवसाय के अस्थायी केन्द्र हैं जो समय समय पर सक्रिय होकर आर्थिक जीवन की गति विधि को संतुलित करते है। किन्तु साधारण जनों, विशेषतः बालकों और स्त्रियों, के लिये ये मेले आर्थिक व्यवसाय के साथ-साथ विहार और आमोद के केन्द्र भी बन गये है। बड़े नगरों का तो दैनिक बाजार ही मेले के समान होता है किन्तु ग्रामों और छोटे नगरों के जीवन में इन मेलों का बड़ा महत्व है। इनके निवासियों के लिये ये मेले एक नई चहल-पहल और नये उल्लास का अवसर लेकर आते है। समय-समय पर आकर ये मेले लोक जीवन में एक नई स्फूर्ति और नवीन प्रसन्नता भर जाते हैं।

इस प्रकार पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार, तीर्थ, मेले आदि के अनेक रूपों से युक्त हमारी लोक संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसकी तुलना कदाचित् ही किसी देश की संस्कृति कर सकेगी। सांस्कृतिक रूपों की विविधता और विपुलता इस समृद्धि का एक लक्षण है। किन्तु संस्कृति की समृद्धि का एक दूसरा लक्षण भी है जिसकी दृष्टि से भी हमारी लोक संस्कृति अनुपम और अतुलनीय है। संस्कृति की समृद्धि के इस दूसरे लक्षण को जटिलता कह सकते हैं। जटिलता का अर्थ उलझन नहीं वरन् अनेक तत्वों और पक्षों का संगम है। जटाओं में अनेक केश तन्तु मिल जाते हैं इसीलिये

जटिलता उलझन के अतिरिक्त तत्वों और पक्षों की अनेकता की भी सूचक है। हमारी लोक संस्कृति के अनेक रूपों में देश, काल, मानवीय संबंध, उपकरण, विधि, निमित्त, रंग, संगीत, देवता आदि अनेक विशेष तत्वों एवं पक्षों का संगम रहता है। ये सब मिलकर सांस्कृतिक आचार के प्रत्येक रूप को जटिलता की दृष्टि से सम्पन्न बना देते हैं। यही सम्पन्नता हमारी दीपावली और होली की विदेशों में प्रचलित रंग—लीला और दीपोत्सव से भेदक है। जटिलता की दृष्टि से संस्कृति के ऐसे सम्पन्न रूप कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेंगें। संस्कृति के जटिल रूपों की विपुलता तो और भी अधिक दुर्लभ है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है। हमारी यह लोक संस्कृति जीवन से समवेत है। यह कहा जा सकता है कि यह लोक संस्कृति जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। लोक संस्कृति की परम्परा में संस्कृति का सौन्दर्य जीवन में ही समवेत हो गया है। इस प्रकार हमारी यह लोक संस्कृति उस अभिजात संस्कृति से भिन्न है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार संस्कृति का एक मात्र रूप समझा जाता है। यह अभिजात संस्कृति जीवन का सांस्कृतिक पर्याय नहीं है वरन् जीवन का एक अंग मात्र है। धर्म, दर्शन, कला आदि इसके पक्ष है। ये सम्पूर्ण लोक जीवन के साथ समवेत नहीं होते वरन् जीवन के अंग ही बने रहते हैं। इस प्रकार यह अभिजात संस्कृति जीवन और संस्कृति का आंशिक रूप है। इस धारणा के अनुसार लोक संस्कृति ग्रामीण और वन्य समाज में शेष रह गई है। नागरिक जीवन के लिये वह केवल अध्ययन और कौतूहल की वस्तु है।

किन्तु हमारी भारतीय लोक संस्कृति इतनी समृद्ध और परिष्कृत है कि ग्रामीण और नागरिक समाज उसे समान आदर से अपनाते रहे है। नागरिक समाज ने इस संस्कृति का तिरस्कार करने के स्थान पर इसके अनेक रूपों को अपने वैभव से समृद्ध बनाया है। नगर की दीपावली, होली, नागरिक मेले, नागरिक तीर्थ, नागरिक विवाह आदि इसके उदाहरण हैं। इतनी विशाल और समृद्ध लोक संस्कृति का नागरिक जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सांमजस्य कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। इस दृष्टि से हमारी लोक संस्कृति संसार में अद्भुत और अतुलनीय है।

इस लोक संस्कृति की एक अन्य विशेषता बड़ी महत्वपूर्ण है। चित्रकला, संगीत, साहित्य, धर्म आदि जो अभिजात संस्कृति के अंग माने जाते हैं, वे भी इसके जीवन्त रूप में समवेत हो गये है। भित्ति-चित्रण, भूमि आलेखन आदि चित्रकला के साधारण रूप इसमें समन्वित हैं। लोक गीतों के रूप में विपुल काव्य साहित्य इस लोक संस्कृति में समाविष्ट हो गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त गीता, रामायण, आल्हा, ढोला जैसे श्रेष्ठ साहित्य के ग्रंथ भी इस लोक संस्कृति की विभूति बन गये हैं। इन ग्रंथों का विद्वानों में जितना आदर है उतने ही वे जनता में भी लोक प्रिय है। ग्रामों और नगरों के लोग समान श्रद्धा के अनुसार इनका पाठ और गायन करते हैं। भारतीय आकाशवाणी से लोक साहित्य का जितना प्रसारण होता है उतना कदाचित् ही किसी अन्य देश की आकाशवाणी से होता होगा। सूर, तुलसी, मीरा आदि की रचनाओं में श्रेष्ठतम साहित्य का जैसा लोक प्रिय रूप मिलता है वैसा कदाचित् ही किसी अन्य देश में मिल सकेगा। धर्म का भी हमारी लोक संस्कृति में अद्‌भुत समवाय हुआ है।

अस्तु, भारतीय परम्परा में लोक संस्कृति का एक ऐसा श्रेष्ठ और सम्पन्न रूप विकसित हुआ है कि वह नागरिक जीवन में भी लोक प्रिय बनी रही है। नागरिक जीवन में व्याप्त ऐसी समृद्ध लोक संस्कृति का किसी भी अन्य देश में उदाहरण मिलना कठिन है। संस्कृति का निर्माण और प्रचार विराट और महान् संकल्प शक्ति के द्वारा होता है। प्राचीन भारत की जिन आर्ष विभूतियों ने अपने विराट और महान संकल्प के द्वारा इस अद्‌भुत लोक संस्कृति का निर्माण और प्रचार किया वे हमारे लिये सदैव वन्दनीय रहेंगे।

२१—भारतीय संस्कृति में निवृत्ति और प्रवृत्ति के सूत्र

संस्कृति मनुष्य की रचना है। देह और प्रकृति की दृष्टि से मनुष्य को भी पशु कहा जा सकता है। मनुष्य के जीवन और स्वभाव में भी भोजन, काम, शयन आदि पशु-धर्म वर्तमान रहते हैं। इन पशु-धर्मों में मनुष्य की सचेष्टता को 'प्रवृत्ति' कहते है। इनसे पशु-धर्मों में मनुष्य की चेष्टा ही नहीं रहती वरन् इनमें उसका राग भी रहता है। इन धर्मों अथवा कर्मों से वैराग्य को दर्शनों में 'निवृत्ति' कहा जाता है।

संस्कृति की स्थिति प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में है। संस्कृति इन दोनों में समन्वय स्थापित करके मनुष्य के रचनात्मक जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। रचनात्मकता ही मनुष्य की मुख्य विशेषता है। पशु-पक्षी भी कुछ निर्माण करते हैं। किन्तु उनके निर्माण में रूप सामान्य, स्थिर एवं नियत हैं। उनमें न विविधता है और न विकास। अनादि काल से पशु का जीवन प्रकृति द्वारा निर्धारित तथा सीमित एवं सामान्य धाराओं में चल रहा है।

इसके विपरीत मनुष्य समाज के जीवन में आदिकाल से अब तक निरन्तर विकास होता रहा है। निर्माण के रूपों एवं उसकी दिशाओं की विविधता तथा नवीनता निरन्तर इस विकास को सम्पन्न बनाती रही है। निर्माणशील विकास की यह निरन्तर प्रगति ही मनुष्य समाज का गौरवपूर्ण इतिहास है। यह रचनात्मक विकास ही मनुष्य को सृष्टि का मुकुट बनाता है तथा मनुष्य-समाज के जीवन को सौन्दर्य एवं सम्पन्नता प्रदान करता है।

मनुष्य के इस रचनात्मक जीवन को ही 'संस्कृति' का नाम दिया जाता है। 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस धारणा का समर्थन करती है। 'संस्कृति' मनुष्य की साम्यपूर्ण कृति अथवा रचना है। 'साम्य' मनुष्यों का परस्पर अनुकूल भाव है जो संस्कृति की रचनाओं को सम्भव बनाता है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की भाँति प्रवृत्ति की प्रेरणा संस्कृति

में भी रहती है, किन्तु पशुओं की भाँति केवल प्रवृत्ति के आधार पर संस्कृति का निर्माण एवं विकास सम्भव नहीं होता। निवृत्ति के द्वारा मर्यादित होकर ही प्रवृत्ति सांस्कृतिक रचनाओं की ओर अग्रसर होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के पवित्र संगम पर ही संस्कृति का अक्षयवट स्थित एवं फलित होता है। संगम की धारा की भाँति ही संस्कृति की गति भी मन्द होती है। धर्म, लोक-संस्कृति आदि संस्कृति के कुछ लोक-सुलभ तथा लोकप्रिय रूप तो संगम की भाँति ही सुगम एवं अवगाह्य होते हैं।

किन्तु संगम की त्रिवेणी की भाँति ही संस्कृति के संगम में भी निवृत्ति की गंगा की ही प्रधानता रहती है। प्रवृत्ति की यमुना संस्कृति के इस संगम में अपने जीवन को अर्पित करके विलीन एवं कृतार्थ हो जाती है। संगम का यह रूपक संस्कृति के स्वरूप एवं समन्वय को एक सुन्दर तथा पवित्र रूप में व्यक्त करता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह समन्वय ही संस्कृति का वांछनीय रूप है, यद्यपि यह समन्वय सभी संस्कृतियों में समान रूप से चरितार्थ नहीं हुआ है। विश्व की अनेक प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृतियाँ इस समन्वय का समाहार नहीं कर सकीं। प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण वे अधिक सम्पन्न भी न बन सकीं।

भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सबसे अधिक और सबसे सुन्दर समन्वय हुआ है। इसी कारण भारतीय संस्कृति सबसे अधिक समृद्ध एवं सम्पन्न है। यह समन्वय अत्यन्त कठिन है। अनेक संस्कृतियाँ इस समन्वय में असफल रही है। अतः इतना स्वीकार करना होगा कि भारतीय संस्कृति में भी समन्वय के अतिरिक्त प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की विषमता प्रकट होती रही है। इसी समन्वय और वैषम्य का विवेचन भारतीय संस्कृति के विवेकपूर्ण अध्ययन में अभीष्ट है।

संस्कृति मनुष्य समाज के रचनात्मक जीवन का समग्र रूप है। जीवन अखण्ड एवं अविभाज्य है। किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए मनुष्य-समाज के इस अखण्ड सांस्कृतिक जीवन को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। अधिक सतर्कता के लिए हम इन्हें सांस्कृतिक जीवन के तीन पक्ष कह सकते हैं। इन तीन पक्षों को आचार, अभिजात संस्कृति तथा लोक-संस्कृति के नाम से पृथक् किया जा सकता है।

आचार का अर्थ केवल बाह्य कर्म नहीं है वरन् उसको प्रेरित करने वाला आन्तरिक चरित्र एवं नैतिक मूल्यों का विश्वास है। कला, साहित्य, दर्शन आदि अभिजात संस्कृति के रूप है। धर्म लोक-संस्कृति में समाहित हो जाता है। लोक-संस्कृति के मुख्य अंग पर्व, संस्कार, लोक-गीत, लोक-नृत्य आदि हैं, जिनमें सभी लोग भाग लेते हैं। अभिजात संस्कृति की रचनायें व्यक्तिगत होती है तथा उनका धरातल सामान्य जनता के स्तर से प्रायः ऊँचा होता है। अभिजात संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहता है। नई-नई रचनायें उसे सम्पन्नतर बनाती रहती हैं। इसके विपरीत लोक संस्कृति में पुराने ही रूपों की पुनः पुनः रचना होती है। लोक-संस्कृति में रूपों की आवृत्ति सभी को कर्तृत्व का अवसर देती है। किन्तु आवृत्ति के कारण लोक-संस्कृति का विकास बहुत कम होता है। धर्म और आचार लोक संस्कृति के अधिक निकट हैं। वे भी प्रायः रूढ़ रहते हैं। युगों के बाद ही उनमें कुछ अल्प विकास सम्भव होता है।

संस्कृति के उक्त तीन रूपों के अनुसार ही भारतीय संस्कृति का निवृत्ति-प्रवृत्ति-मूलक विवेचन उपयोगी होगा। आचार संस्कृति का मूल एवं स्तम्भ है। उसी पर अभिजात संस्कृति और लोक-संस्कृति की शाखायें फलती-फूलती हैं। आचार चेतना और स्वभाव का आन्तरिक निर्माण है। वह व्यवहार में व्यक्त होता है, किन्तु आन्तरिक भाव ही उसका मुख्य स्रोत है। वह आचार चरित्र के सद्गुणों के द्वारा लक्षित होता है। सामाजिक व्यवहार में वे गुण फलित होते है। आचार का निर्माण निवृत्ति के द्वारा ही होता है। निवृत्ति द्वारा मर्यादित प्रवृत्ति सदाचार बनती है। अपने स्वार्थ और सुख का संवरण कर हम सदाचार की ओर अभिमुख होते है। दूसरे के लिए प्रवृत्ति के रूप में हम अपने निवृत्ति-मूलक आचार का फल प्रदान करते हैं। सत्य, अहिंसा, दया, उदारता, सहिष्णुता, प्रेम, त्याग आदि उस आचार के अनुग्राहक भाव हैं। सेवा, दान, आतिथ्य, उपकार आदि उसके व्यवहार हैं।

भारतीय आचार में वेदान्त तथा अन्य दर्शनों के प्रभाव से निवृत्ति की प्रधानता रही है। किन्तु लोकाचार में निवृत्ति और प्रवृत्ति का अधिक सन्तुलित समन्वय फलित हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक आचार में तो प्रवृत्ति की ही प्रधानता। वैदिक यज्ञ और उपासना के लक्ष्य एवं

भाव लौकिक ही अधिक थे। यज्ञ का स्वरूप ही कर्ममय था। वैदिक प्रार्थनाओं में देवताओं से अन्न, धन, पुत्र आदि की बार-बार याचना की गई है। उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध सम्प्रदायों के प्रभाव से भारतीय आचार में निवृत्ति की महिमा बढ़ने लगी। उपनिषदों में यज्ञ, कर्म, धन, सन्तान आदि वैदिक लक्ष्यों का अवमूल्यन हुआ तथा तप, त्याग, ध्यान, योग, वैराग्य आदि की अध्यात्म के साधक आचार के रूप में प्रतिष्ठा की गई। वैदिक ऋषि मन्त्रों के गायक कवि थे तथा यज्ञों के कर्त्ता पुरोहित थे। किन्तु उपनिषदों के ऋषि आत्मा के एकान्तवासी आराधक तथा तपस्वी साधक थे।

निवृत्ति की यह औपनिषदी परम्परा भारतीय आचार में एक स्थायी प्रभाव बन गई। इसी परम्परा में जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ तथा निवृत्ति का प्रभाव संवर्धित हुआ। इन धर्मों के प्रभाव से तपस्वी मुनि नागरिक जीवन के आराध्य आदर्श बन गए। कहा जाता है कि बुद्ध ने छः वर्ष की कठोर तपस्या के बाद यह अनुभव किया कि शरीर को सुखाने से कोई लाभ नहीं। किन्तु वस्तुतः बुद्ध के गृहत्याग, संन्यास और भिक्षु-वेश ने निवृत्ति के आदर्श को ही बल दिया। बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण निवृत्ति की ही पराकाष्ठा है। जैन धर्म में तप की कठोरता एवं कृच्छ्रता अधिक स्पष्ट है। प्रव्रज्या, केशलुंचन, मरणान्त अनाहार व्रत आदि इसके उदाहरण हैं। जैन लोक-समाज में भी आहार-सम्बन्धी व्रतों का प्रचलन बहुत है।

इस प्रकार उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध धर्मों के प्रभाव से भारतीय आचार में निवृत्ति की महिमा बढ़ी। निवृत्ति का प्रभाव अंशतः स्थायी रहा। विरक्त मुनि, तपस्वी, योगी, परिव्राजक संन्यासी और भिक्षुक साधु भारतीय समाज के पूजित आदर्श तथा आध्यात्मिक नेता बन गए। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, तथा महात्मा गान्धी का अर्वाचीन नेतृत्व निवृत्ति की इसी प्रतिष्ठा के परिणाम हैं। राम, कृष्ण और नेहरू की प्रतिष्ठा में भी त्याग का संपुट रहा है और वह उनके वैभव के प्रभाव को वैराग्य की विभूति से समन्वित करता रहा है।

निवृत्ति की इस धारा को गीता और धर्म शास्त्रों ने सन्तुलित बनाने का प्रयास किया। गीता में कर्मयोग की प्रतिष्ठा की गई।

किन्तु कर्म को आवश्यक तथा अनिवार्य मानते हुए भी गीता के निष्काम कर्मयोग में निवृत्ति का प्रभुत्व बना रहा है। गीता के समन्वय में भी निवृत्ति का पक्ष प्रबल है। धर्म-शास्त्रों की आचार-व्यवस्था अधिक सन्तुलित प्रतीत होती है। चार आश्रमों के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम के यौवन काल में जीवन के उपभोग एवं पंच-महायज्ञ आदि के रूप में प्रवृत्ति को धर्म-शास्त्रों में पर्याप्त महत्व दिया गया है। जो स्त्री-सम्पर्क उपनिषदों में तथा उनसे भी बढ़कर जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में वर्जनीय माना गया है वह धर्मशास्त्रों के गार्हस्थ धर्म में आदर का स्थान पाता है। संस्कारों के रूप में मुख्य लौकिक मूल्यों को धर्मशास्त्रों में उचित स्थान मिला है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास के आश्रमों में निवृत्ति की प्रधानता दिखाई देती है, किन्तु इससे धर्मशास्त्रों का सन्तुलन वस्तुत: अधिक संगत और पुष्ट बनता है। यौवन ही प्रवृत्ति का मुख्य समय है। गार्हस्थ्य में प्रवृत्ति के लिए प्रचुर अवसर मिल जाता है। ब्रह्मचर्य की तपोमयी भूमिका गार्हस्थ की प्रवृत्ति को अधिक सुन्दर, स्वस्थ एवं सफल बनाती है। वानप्रस्थ और संन्यास की निवृत्ति आयु के अनुकूल है तथा जीवन की अधिक सुन्दर परिणति में सहायक हो सकती है। निवृत्ति को उचित एवं अधिक स्थान देकर भी धर्मशास्त्रों के जीवन-दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का ऐसा सन्तुलित समन्वय मिलता है जैसा वर्धमान आयु के अनुसार जीवन को पूर्ण एवं कृतार्थ बनाने के लिए अपेक्षित है।

आचार से सम्बन्धित संस्कृति का एक दूसरा रूप है जिसे पश्चिमी धारणा के अनुसार 'धर्म' कहा जाता है। भारतीय परम्परा में तो धर्म आचार का ही पर्याय है। धर्मशास्त्रों का विषय मुख्यत: आचार है। किन्तु पश्चिमी परम्परा में पैगम्बरों द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय धर्म कहलाते हैं। महावीर स्वामी और बुद्ध ने इस परम्परा का प्रचलन किया। वे पैगम्बर तो नहीं किन्तु पहले धर्म प्रवर्तक हैं। इनकी ही प्रेरणा भारत में अनेक सम्प्रदायों के प्रचलन में फलित हुई। अनेक शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदाय इस परम्परा की शाखायें है। इन सम्प्रदायों में धर्म का अर्थ केवल आचार नहीं वरन् आस्था, उपासना आदि भी है। सेश्वर सम्प्रदायों में ईश्वर के विशेष रूप और उसकी उपासना ही धर्म मानी जाती है। जैन और बौद्ध धर्मों में तो निवृत्ति की ही प्रधानता है। शैव परम्परा में

शिव के प्रभाव और आदर्श के अनुरूप निवृत्ति की प्रधानता होनी चाहिये। शिव का दाम्पत्य शैव-धर्म को प्रवृत्ति का सन्तुलन भी प्रदान कर सकता था। किन्तु औपनिषदीय वेदान्त के प्रभाव से काश्मीर शैव मत में निवृत्ति की महिमा अधिक रही। वामाचार में कुछ तान्त्रिक भ्रान्तियों के कारण कामाचार का सम्मोहन बढ़ता गया, जो सम्प्रदाय के लिए घातक हुआ। दक्षिण में लिंग पूजा में भी इस भ्रान्ति की संभावना रही। किन्तु वस्तुत: शिव के साक्षात् जीवन में तथा शिव-शक्ति के सैद्धान्तिक रूप में शैवधर्म प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के सर्वोत्तम समन्वय का आदर्श बन सकता है।

वैष्णव सम्प्रदायों में यह समन्वय अधिक सफल रूप में प्रकट हुआ है। यह समन्वय शैवधर्म की प्रेरणा से ही सम्भव हो सका है। वैष्णव धर्म की लक्ष्मी शिव की शक्ति का ही सुन्दर एवं सौम्य रूप है। वैष्णव मतों की सीता, राधा, लक्ष्मी आदि भगवान की अह्लादिनी शक्ति का रूप मानी जाती हैं। शिव के समान सफल दाम्पत्य की प्रतिष्ठा तो वैष्णव सम्प्रदायों में नहीं हो सकी। वैदिक विष्णु का मूल रूप तथा राम और कृष्ण का असफल दाम्पत्य इसमें बाधक रहा। फिर वैदिक स्रोत तथा राम और कृष्ण के चरित्र के यथार्थ के कारण वैष्णव धर्मों में निवृत्ति को प्रधानता न मिल सकी। राम और कृष्ण के राजसी अनुषंगों ने लौकिक वैभव को धर्म का सहकारी बनाया। खुले शिव मन्दिरों के विपरीत वैष्णव मन्दिर राज प्रासादों के अनुरूप बनाये गये। पूजा के षोड़शोपचारों के द्वारा लौकिक पदार्थों का धर्म में समादर हुआ। शंख, घड़ियाल, भजन, कीर्तन, आरती, प्रसाद आदि के द्वारा प्रकृति के धर्म धर्म में समन्वित हुये। वल्लभ सम्प्रदाय में भोजन, प्रसाद, शृंगार आदि में राजसिकता का वैभव अधिक दिखाई देता है तथा प्रवृत्ति प्रमुख प्रतीत होती है। किन्तु सामान्यत: सिद्धान्त और आचार दोनों की दृष्टि से वैष्णव सम्प्रदाय प्रवृत्ति और निवृत्ति के शैव समन्वय को एक सुन्दर, मधुर और लोक-प्रिय रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

धर्म को कला, साहित्य आदि के साथ अभिजात संस्कृति का अंग माना जाता है। किन्तु वस्तुत: धर्म लोक संस्कृति का ही अंग है। धर्म और लोक संस्कृति में भी कला एवं साहित्य का संगम मिलता है, किन्तु कला, साहित्य, दर्शन आदि अभिजात संस्कृति के अभिजात रूप हैं। कला

और साहित्य रचनात्मक हैं। दर्शन विचारात्मक है। अतः वह अधिक अभिजात बन जाता है। कला और साहित्य की रूप-रचना भी श्रेष्ठता की सीमाओं की ओर बढ़कर अधिक अभिजात बन जाती हैं तथा वे लोक-समाज की सामर्थ्य से बाहर हो जाते हैं। किन्तु कला और साहित्य के विषय जीवन से ही लिये जाते हैं। जीवन में प्रवृत्ति की ही प्रधानता रहती है। अतः कला और साहित्य में प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। जीवन के लौकिक विषय ही प्रायः कला और साहित्य के रूपों में साकार होते है।

जीवन का समग्र चिन्तन होने पर दर्शन में भी प्रवृत्ति को स्थान मिल सकता है, किन्तु दर्शन के एकांगी होने पर प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति दोनों में से किसी की भी अवहेलना संभव है। भारतीय दर्शनों में प्रायः प्रवृत्ति की अवहेलना संभव हुई है। भारतीय परम्परा में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा है जो पूर्णतः प्रवृत्ति-परक है तथा जिसमें निवृत्ति के लिये तनिक भी स्थान नहीं है। चार्वाक दर्शन पूर्णतः भौतिकवादी है। वह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण, भौतिक जगत को ही सम्पूर्ण सत्य तथा सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानता है। आत्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि अलौकिक बातों में उसका विश्वास नहीं है। चार्वाक दर्शन के पूर्व वैदिक दर्शन में प्रवृत्ति की प्रधानता है। स्वर्ग आदि की अलौकिक कल्पना वेदों में अवश्य की गई है, किन्तु वह स्वर्ग भी सुख का लोक है। वैदिक प्रार्थनाओं में देवताओं से अन्न, धन, पुत्र आदि की याचना की गई है जो वेदों की प्रवृत्ति परकता को प्रामाणित करती है। यज्ञों का लक्ष्य की लौकिक लाभ है।

किन्तु उपनिषदों के वेदान्त दर्शन में भारतीय दर्शन प्रवृत्ति की लौकिकता से विमुख होकर निवृति की ओर अधिक झुक गया है। वेदों के मन्त्र कवियों और पुरोहितों की रचनायें है जो लोक-जीवन से सम्पृक्त रहते थे। उपनिषद वनवासी मुनियों के अध्यात्मिक चिन्तन है। उनमें धन, सन्तान, यज्ञ, कर्म आदि की भर्त्सना की गई है तथा आत्म-साधन और मोक्ष को ही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। आत्मा समस्त लौकिक विषयों से अतीत है, अतः आत्म-साधना प्रवृत्ति का तिरस्कार तथा निवृत्ति का अनुसरण है। आत्म-साधना के उपकरण तप, त्याग आदि भी निवृत्ति मार्ग के अंग हैं। छन्दोग्य उपनिषद के ऋषि याज्ञवल्क्य का संन्यास,

नचिकेता द्वारा यम के लौकिक वरदानों का अस्वीकरण आदि प्रसंग उपनिषद दर्शन की निवृत्ति-परकता के उदाहरण हैं।

इस प्रकार उपनिषद् काल से ही भारतीय दर्शन निवृत्ति की दिशा में बढ़ने लगा था। जैन और बौद्ध दर्शनों में निवृत्ति की ही प्रधानता रही। मुनिवृत्ति और भिक्षुत्व के प्रचार एवं सम्मान ने निवृत्ति एवं वैराग्य को जीवन का परम स्पृहणीय आदर्श बना दिया। वैदिक षड् दर्शनों में भी पूर्वगामी दर्शन की निवृत्ति-परकता का प्रभाव बना रहा। द्वैतवादी होते हुए भी तथा प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता मानते हुये भी सांख्य एवं योग दर्शनों का बल निवृत्ति तथा वैराग्य पर ही अधिक है। विषयों से निवृत्ति के द्वारा ही इनका अभीष्ट कैवल्य प्राप्त होता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन यथार्थवादी हैं। वे परमाणु-निर्मित भौतिक जगत को सत्य मानते हैं। किन्तु उनका अभीष्ट अपवर्ग भी निवृत्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है। पूर्वमीमांसा दर्शन आरम्भ में वैदिक कर्मकाण्ड से प्रभावित रहा तथा स्वर्ग एवं लौकिक लाभ को लक्ष्य मानता रहा, किन्तु आगे चलकर उसने भी अन्य दर्शनों के मोक्ष को अपना लक्ष्य बना लिया। शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त स्पष्टत: निवृत्तिपरक है। रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि के सगुण वेदान्तों में भक्ति के मार्ग से प्रवृत्ति का कुछ अधिक आदर मिला। भक्ति से समन्वित होकर लौकिक विषय पवित्र बन गये। शैवदर्शन का शिव-शक्ति का साम्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का ही सिद्धान्त है। किन्तु वेदान्त के प्रभाव से काश्मीर का शैवमत निवृत्ति प्रधान बन गया जबकि वामाचार में प्रवृत्ति का स्वैराचार तान्त्रिक रहस्य से अंचित होकर धर्माचार बन गया।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्राय: निवृत्ति की ही प्रधानता रही। किन्तु कला एवं साहित्य में प्रवृत्ति को भी पर्याप्त स्थान मिला। कला के लौकिक विषयों में प्रवृत्ति के विविध रूप ही कला के उपकरण बने। स्थापत्य की कला तो स्वरूप से प्रवृत्ति मूलक है। मूर्त्ति-कला, चित्रकला, संगीत आदि में धर्म के प्रभाव से भक्ति, वैराग्य आदि को भी स्थान मिला। किन्तु सगुण और वैष्णव वेदान्तों के दम्पत्ति-देवताओं की भक्ति लौकिक दाम्पत्य का आदर्श बन गई। दाम्पत्य के मार्ग से श्रृंगार आदि प्रवृत्ति-मूलक भाव कला के धार्मिक रूपों में भी प्रवेश पा गये। खजुराहो

आदि के मन्दिरों की शृंगारमयी मूर्त्तियां इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। कृष्ण की लीलाओं ने भक्ति में शृंगार को अवसर दिया। मन्दिरों की चित्रकारियों में रासलीला के चित्र अंकित हैं। संगीत में कृष्णलीला के शृंगार का वहुत प्रभाव है। अजन्ता की चित्रकला में भी शृंगार के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। राजपूत, मुगल, काँगड़ा आदि शैलियों की चित्र-कलायें अधिक स्पष्ट रूप से लौकिक एवं प्रवृत्ति मूलक हैं। मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीत आदि सभी कलाओं में प्रवृत्ति के अन्तर्गत शृंगार की ही प्रमुखता है। कदाचित् शृंगार ही कला के अधिक अनुरूप है। शिव के लास्य तथा कृष्ण की रासलीला के सूत्र से नृत्य कला में भी शृंगार का ही प्रभाव अधिक है। अन्य गौण कलाओं में प्रवृत्ति के अन्य पक्षों को भी कुछ स्थान मिला है।

भारतीय साहित्य पर धर्म, दर्शन और लोक-जीवन तीनों का ही प्रभाव है। धर्म और दर्शन के प्रभाव से निवृत्ति एवं वैराग्य के काव्य भी रचे गए है। वैराग्य शतक, रम्भाशुक-सम्वाद, प्रवोधचन्द्रोदय आदि वैराग्य-प्रधान काव्यों के उदाहरण हैं। हिन्दी में भी कवीर, तुलसी, आदि के काव्यों में वैराग्य का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। किन्तु वैष्णव धर्म ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का जो समन्वय प्रस्तुत किया उसके प्रभाव से धार्मिक साहित्य में निवृत्ति की प्रधानता न रह सकी। भगवत-पुराण तथा संस्कृति के अन्य कृष्ण काव्यों में शृंगार की प्रमुखता मिलती है। गीत-गोविन्द भी भक्ति और शृंगार के संगम का एक उत्तम उदाहरण है। भागवत के प्रभाव से हिन्दी के कृष्ण काव्य में शृंगार की गहरी छाया पड़ी। तुलसी के काव्य में शृंगार को प्रधानता नहीं मिली। रामचरित के उदाहरण से अन्य लौकिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों के आदर्श तुलसी ने प्रतिष्ठित किए। भक्ति और लोकधर्म का संगम हुआ। रीतिकालीन हिन्दी काव्य शृंगारपरक तथा अर्वाचीन हिन्दी साहित्य प्रमुखतः प्रवृत्ति-मूलक है। संस्कृत साहित्य में भी कुछ अपवादों में छोड़कर प्रवृत्ति को अपना विषय वनाया है। महाभारत, रामायण, रघुवंश, किरात, नैषध आदि महाकाव्यों के विपय लौकिक हैं। इनमें शृंगार के साथ-साथ प्रवृत्ति के अन्य अनेक अंगों का वर्णन है। अन्य कलाओं की भांति साहित्य में भी प्रवृत्ति की ही प्रधानता रही है। किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर

प्रवृत्ति का यह परिग्रह अमर्यादित नहीं है। प्रवृत्ति की इस मर्यादा में निवृत्ति का लोकोचित समन्वय अनुष्ठित हुआ है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह समन्वय लोक-संस्कृति में अधिक सुन्दर, संगत एवं लोक-ग्राह्य रूप में हुआ है। लोक-संस्कृति संस्कृति का लोकप्रिय और जीवन्त रूप है। रचना और परम्परा दोनों की दृष्टि से वह अभिजात संस्कृति की तुलना में अधिक प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक होती है। अभिजात संस्कृति के अंगभूत कला, साहित्य, दर्शन आदि की रचना व्यक्तियों के कृतित्व के रूप में होती है। निरन्तर नवीन कृतित्व के द्वारा इस रचना का क्रम उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार अभिजात संस्कृति प्रगतिशील भी है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति में नवीन रचनाओं के द्वारा प्रगति नहीं होती। लोक-संस्कृति की परम्परा में नवीन रचनाओं के स्थान पर प्राचीन रूपों और भावों की पुनः पुनः आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति के अवसर लोक-जीवन के पर्व बन जाते हैं। पर्वों के अतिरिक्त व्रत, संस्कार, मेले, तीर्थयात्रायें आदि इस लोक-संस्कृति के मुख्य अंग हैं। प्रतीकवाद के आधार पर लोक-संस्कृति के अनेक रूप, निमित्त एवं उपादान लोक-जीवन में सौन्दर्य, मंगल एवं आनन्द के संचारक बनते हैं।

पर्व-संस्कृति इस लोक-संस्कृति का सबसे प्रमुख रूप है। इसमें लोक-संस्कृति की सामाजिकता अधिक स्फुट रूप में प्रकट होती है। सम्पूर्ण समाज एक साथ एक ही समय में पर्वों को सम्पन्न करता है। रक्षा-बन्धन, दीपावली, होली आदि पर्वों के अवसर पर तो सम्पूर्ण लोक-सागर उल्लास एवं आनन्द की तरंगों में लहराता है। अन्य अनेक छोटे पर्व तरंगों की लय को जीवन की रागिनी का उतार-चढ़ाव प्रदान करते हैं। इन पर्वों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अत्यन्त सुन्दर समन्वय मिलता है। पर्व-संस्कृति में जीवन के लौकिक उपादानों को निवृत्ति की सीमारेखा से मर्यादित कर मंगल एवं आनन्द का साधन बनाया जाता है। व्रतों में निवृत्ति की यह मर्यादा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। व्रत एक प्रकार से प्रवृत्ति से सापेक्ष निवृत्ति के अनुष्ठान है। कुछ समय के लिए प्रवृत्ति के मोह से विरत होना ही इनका लक्ष्य है। ये व्रत प्राकृतिक जीवन में संयम का आधार बनकर उसे संस्कृत बनाते हैं। संस्कृति वस्तुत प्रवृत्ति एवं

निवृत्ति का समन्वय ही है। व्रत इस समन्वय में संकल्प और निष्ठा के द्वारा बहुत योग देते हैं। लोक-परम्परा में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के व्रत अधिक हैं। वे उनके पातिव्रत, वात्सल्य आदि को सुदृढ़ कर लोक-जीवन में मंगल का अनुष्ठान करते हैं। इन व्रतों से नारी के लौकिक एवं प्राकृतिक धर्म पवित्र बनते हैं। इन व्रतों के द्वारा सामाजिक जीवन के सौन्दर्य और सुख में नारी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सराहनीय है।

पर्वों और व्रतों की परम्परा वर्ष के दिन-क्रम की एकरूपता को विविधता से अंचित कर हमारे वर्ष-काल को सांस्कृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न बनाती है। संस्कारों का क्रम व्यक्ति के जीवन के विकास के अनुरूप है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कार माने जाते हैं। इनमें नामकरण, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये मनुष्य के जन्म, विद्यारम्भ, विवाह और मरण को सांस्कृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न करते हैं। विद्यारम्भ को छोड़कर अन्य सभी संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य के प्राकृतिक जीवन से है। प्राकृतिक जीवन प्रवृत्तिपरक होता है। संस्कारों के द्वारा जीवन की प्रवृत्ति सुन्दर, मंगलमय और सांस्कृतिक बनाती है। इन संस्कारों में निवृत्ति की अल्प मर्यादा को ग्रहण कर प्राकृतिक मानवीय जीवन को सभ्य और संस्कृत बनाने का प्रयत्न किया गया है। निवृत्ति इनकी मर्यादा मात्र है। जीवन के प्राकृतिक धर्म ही इन संस्कारों के मुख्य उपादान हैं। जन्म और विवाह के देहधर्म इनके द्वारा सुन्दर एवं संस्कृत बनते हैं। मृत्यु के शोक को ये संस्कार मृतक तथा उसके आत्मीयों के लिए सह्य बनाते हैं। संस्कारों के आयोजन व्यापक अर्थ में नहीं वरन् सीमित अर्थ में सामाजिक होते है। संस्कारों की सीमित सामाजिकता पर्वों की व्यापक सामाजिकता की सांस्कृतिक रागिनी में मीड़ों और तानों की तीव्रता की लहरें रचकर लोक-जीवन की रागिनी को सुन्दर एवं सम्पन्न बनाती है।

मेले लोक-संस्कृति के आर्थिक पक्ष को साकार बनाते हैं। अर्थ मनुष्य के प्राकृतिक एवं प्रवृत्तिमय जीवन का उपकरण है। अर्थ परिग्रह का उपादान है। परिग्रह एक प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अतः अर्थ प्रवृत्ति का ही पोषक है। निवृत्ति से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। तीर्थ

स्थानों पर होने वाले मेलों में धर्म का कुछ योग मिल जाता है, जो उनकी स्फुट आर्थिकता को कुछ सीमा तक सांस्कृतिक बना देता है। दान, दक्षिणा आदि अर्थ की प्रवृत्ति का निवृत्ति से समन्वय करते हैं। तीर्थों के मेलों और तीर्थ-यात्राओं में धर्म की मर्यादा प्रवृत्ति में निवृत्ति का संगम करती है। धार्मिक निष्ठा और भावना इस संगम की अलक्ष्य सरस्वती कही जा सकती है। धर्म की गंगा के वेग से एक बार प्रवृत्ति की यमुना का प्रवाह मन्द होकर उसमें समाहित हो जाता है। इस प्रकार मेले, विशेषत: तीर्थों के मेले तथा तीर्थ यात्रायें, लोक-संस्कृति के ऐसे रूप हैं जिनमें प्रकट रूप में प्रवृत्ति की प्रचुरता दिखाई देते हुए भी निवृत्ति की मर्यादा का सुदृढ़ समन्वय होता है। इनमें धर्म के मार्ग से अर्थ और प्रवृत्ति का संस्कार होता है जो प्रवृत्तिमय प्राकृतिक जीवन को निवृत्ति की मर्यादा के द्वारा सांस्कृतिक बनाता है।

लोक-संस्कृति के इन सभी रूपों में प्रतीकों की महिमा व्याप्त रहती है। प्रतीकों की स्थापना अल्प रूप में प्रचुर तात्पर्य के समन्वय से होती है। कलात्मक रचनाओं, जीवन के कर्मों तथा लोक के उपादानों में भाव एवं अभिप्राय का अतिशय अनुष्ठित होने पर सरल प्रतीक प्रचुर भाव के वाहक बन जाते हैं। प्रतीकवाद के मार्ग से ही लोक-जीवन के पर्व, संस्कार आदि व्यापक सौन्दर्य के अवसर बनते हैं। प्रतीकों की महती अर्थवत्ता जीवन के सीमित अवसरों एवं उपकरणों को व्यापक जीवन में अन्वित करती हैं। इसी अन्वय के द्वारा प्रतीकों के सरल रूप लोक-संस्कृति के सम्पन्न आधार बनते हैं। स्वस्तिक, श्रीयन्त्र आदि के प्रतीक जीवन के उपकरणों को मंगल, साम्य आदि से अंचित करते हैं। पर्वों और संस्कारों में प्रयुक्त कलश, पत्र, पुष्प, फल आदि प्राकृतिक उपकरण सांस्कृतिक सौन्दर्य के तिमित्त बन जाते है। तिलक, चरणवन्दन आदि के व्यवहार आचार में धर्म की पवित्रता का संचार करते है। वट, पीपल, गौ, पर्वत, नदी आदि का पूजन भूत प्रकृति को संस्कृति का सौन्दर्य प्रदान करता है। इस प्रकार अनेक प्रतीकों से सम्पन्न लोक-संस्कृति में सम्पूर्ण प्राकृतिक जीवन संस्कृति का सुन्दर पीठ बन गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय एक व्यापक रूप में सम्पन्न हुआ है। यही

समन्वय संस्कृति का उद्देश्य भी है, यद्यपि कदाचित् ही किसी अन्य देश की संस्कृति में यह समन्वय इतने सम्पन्न रूप में प्रतिष्ठित हो सका है। पर्वों, व्रतों, संस्कारों, मेलों, तीर्थयात्राओं और प्रतीकों की इतनी प्रचुरता किसी भी अन्य देश की संस्कृति में नहीं मिल सकेगी। आचार और धर्म का ऐसा उदात्त एवं उदार रूप भी अन्यत्र मिलना कठिन है। अभिजात संस्कृति के अंगभूत कला, साहित्य, दर्शन आदि ही अन्य समाजों में संस्कृति के उदाहरण के रूप में मिलते हैं। अतः इन्हीं को संस्कृति मानने की प्रथा आधुनिक अध्ययन में चल पड़ी है। भारतीय परम्परा में आचार, धर्म, अभिजात संस्कृति और लोक-संस्कृति के चतुरंग से सम्पन्न संस्कृति का वैभव विलोकनीय है। इस सम्पन्न संस्कृति में प्रवृत्ति में निवृति का जितना सुन्दर संगल मिलता है वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। अपवाद के रूप में भारतीय कला एवं साहित्य के कुछ उदाहरणों में प्रवृत्ति की अतिरंजना मिलती है। प्रवृत्ति केवल प्राकृतिक जीवन है। निवृत्ति के समन्वय से ही जीवन सांस्कृतिक बनता है, यद्यपि निवृत्ति की पूर्णता प्रायः असम्भव है। भारतीय धर्म एवं दर्शन में निवृत्ति की पूर्णता को जीवन का लक्ष्य बनाया है; इस दृष्टि से ये एकांगी और अव्यावहारिक है। किन्तु इनकी एकांगी अतिरंजना के प्रभाव से ही भारतीय संस्कृति के अन्य रूपों में प्रवृत्ति को निवृत्ति की मर्यादा के द्वारा संस्कृत बनाया जा सका है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय ही उच्छृंखल मानव जीवन को मर्यादित एवं प्राकृत जीवन को सांस्कृतिक बनाता है, यह भारतीय संस्कृति का महान सन्देश है।

२२–संस्कृति का केन्द्र नारी

संस्कृति मनुष्य की सुन्दर और मंगलमयी कृति है। मनुष्य का जीवन आत्मा और प्रकृति का संगम है। प्रकृति की सहज और स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य जीवन के प्राकृतिक धर्मों का निर्वाह करता है। प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्यों और पशुओं का जीवन बहुत कुछ समान है। पशुओं का जीवन पूर्णतः प्राकृतिक है। वे प्रकृति से ऊपर उठकर जीवन में संस्कृति का विकास नहीं कर सके हैं। लाखों वर्षों की अवधि में पशुओं का जीवन प्रकृति की सीमित मर्यादा में ही सीमित रहा है। पीढ़ी दर पीढ़ी पशुओं के जगत में उसी सीमा की आवृत्ति होती रहती है। उनका जीवन आगे नहीं बढ़ता।

इसके विपरीत मनुष्यों के जीवन में पिछले कुछ हजार वर्षों में ही बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई है। संस्कृति मनुष्य जीवन की इसी अभिवृद्धि की संज्ञा है। यह वृद्धि प्राकृतिक प्रेरणा के द्वारा नहीं होती, वरन् आत्मा की संकल्प शक्ति के द्वारा होती है। विकासवाद नैसर्गिक विकास को मानता है। किन्तु उसमें भी आत्मिक शक्ति की अन्तर्निहित प्रेरणा हो सकती है। इस प्राकृतिक विकास की गति बहुत मन्द होती है। पिछले हजारों वर्षों में पशु-पक्षियों और वृक्षों के प्राकृतिक जगत में कोई महत्व-पूर्ण विकास नहीं हुआ है। किन्तु मनुष्य समाज के जीवन में बहुत अभि-वृद्धि हुई है।

इस अभिवृद्धि के अनेक रूप हैं किन्तु सभी रूपों में यह अभिवृद्धि रचनात्मक होती है। मनुष्य की अन्तर्गत आत्मा की संकल्प शक्ति इसकी मूल प्रेरणा है। यह संकल्पशक्ति स्वरूपतः रचनात्मक है। कदाचित् प्रकृति के रूप भी इसी के प्रतिफल हैं। मनुष्य जीवन में प्रकृति के आधार पर आत्मा की संकल्पशक्ति संस्कृति के भव्य रूपों की रचना करती है। संस्कृति का यह कृतित्व एक ओर मनुष्य की प्रकृति का संस्कार करता है तथा दूसरी ओर कला, धर्म, दर्शन आदि के अमूल्य रत्नों से जीवन का भण्डार भरता है। संस्कृति का संस्कार प्राकृतिक प्रवृत्तियों का उन्नयन

करता है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की रचनायें जीवन के क्षितिज पर अनेक ऊर्ध्व और सुन्दर लोकों का उद्‌घाटन करती हैं।

जीवन्त लोक-संस्कृति में प्रकृति के उन्नयन तथा सांस्कृतिक रचना का संगम होता है। लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को सुन्दर बनाती है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों का परिष्कार नैतिकता को जन्म देता है, जो मानवीय जीवन का आधार है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि के ऊर्ध्व लोक मनुष्य को संस्कृति के अनन्त अन्तरिक्ष में विहार का अधिकारी बनाते हैं। जीवन्त लोक-संस्कृति इस अन्तरिक्ष की वह आकाशगंगा है, जो लोक-जीवन की धरती से इन ऊर्ध्व लोकों का सेतु बनाती है। लोक-संस्कृति के क्षितिज पर इन ऊर्ध्व लोकों का आलोक संध्या के इन्द्रधनुषी मेघों की रचना करता है, जिनमें जीवन (जल) के उज्ज्वल कण बहुरंगी बनकर लोक की दिशाओं को आलोकित एवं अलंकृत करते हैं।

इस प्रकार संस्कृति की रचनात्मकता तीन रूपों में प्रकट होती है। इस रचना के सूक्ष्म तत्व नैतिकता बन कर प्राकृतिक प्रवृत्तियों का उन्नयन करते हैं। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में संस्कृति के अभिजात रूप खिलते हैं। इन अभिजात रूपों का वैभव लोक की निधि बनकर लोक-संस्कृति को जन्म देता है। संस्कृति के अभिजात रूप की रचनाओं में नारी का अधिक कृतित्व नहीं दिखाई देता। इस क्षेत्र में पुरुषों की ही अधिक प्रभुता रही है। किन्तु नैतिकता के निर्माण में नारी का सूक्ष्म और गम्भीर योग रहा है। चाहे नैतिकता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और शास्त्रों का निर्माण नारी ने न किया हो। किन्तु वास्तविक सामाजिक जीवन में नारी के शील, संयम, त्याग और वात्सल्य एक महती प्रेरणा का काम करते रहे हैं। नारी नैतिकता की प्रतिपादक भले ही न हो, किन्तु नैतिकता की प्रतिष्ठा में उसका मौलिक योग असंदिग्ध है।

मातृत्व और गार्हस्थ्य के उत्तरदायित्व के कारण नारी को साहित्य, दर्शन आदि की रचना का अधिक अवकाश न मिल सका। किन्तु कला, और धर्म की अभिजात संस्कृति में उसका विपुल योग रहा है। संगीत और नृत्य की अभिजात कलायें तो बहुत कुछ नारी का विशेष अधिकार रही हैं। संस्कृति रचनात्मक है। ये कलायें सबसे अधिक रचनात्मक हैं।

इस नाते अभिजात संस्कृति के क्षेत्र में भी नारी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आधुनिक युग में नारी के बन्धन और भार कुछ कम हुए हैं तथा संस्कृति के सभी क्षेत्रों में उसका कृतित्व बढ़ रहा है।

किन्तु जीवन्त लोक-संस्कृति तो सभ्यता के आरम्भ से ही नारी का विशेष अधिकार रही है। उसमें नारी का प्रभुत्व और कृतित्व अधिक रहा है। नारी को इस लोक-संस्कृति का केन्द्र कहा जा सकता है। यह लोक-संस्कृति पूर्णतः परिवार की परिधि में सीमित तो नहीं है, फिर भी परिवार ही इसका मुख्य पीठ है। पत्नी और माता होने के नाते नारी इस परिवार का केन्द्र है। अतः नारी सहर्ष ही इस लोक-संस्कृति का केन्द्र बन गई है। परिवार के अतिरिक्त सामाजिक जीवन के जिन क्षेत्रों में यह लोक-संस्कृति चरितार्थ होती है, उन पर भी नारी का बहुत प्रभाव रहा है। पर्व, उत्सव, तीर्थ, मेला आदि को इन क्षेत्रों में गिनाया जा सकता है। परिवार के केन्द्र से भी नारी की महिमा इन क्षेत्रों को प्रभावित करती रही है। इस प्रकार लोक-संस्कृति के क्षेत्रों में नारी का ही प्रभुत्व अधिक रहा है।

इसका कारण यह है कि साक्षात् जीवन के साथ नारी का सम्बन्ध पुरुष की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ है तथा प्राकृतिक दृष्टि से भी नारी का अस्तित्व रचनात्मक है। निसर्ग ने नारी के शरीर और अस्तित्व को सृजनात्मक बनाया है। वह सृजन का स्रोत है। इसके विपरीत पुरुष सृजन का निमित्त मात्र है। पालन में नारी का सृजन धर्म और अधिक समृद्ध हो जाता है। पालन प्रसव से भी अधिक रचनात्मक है। उसमें सांस्कृतिक निर्माण का भी सन्निधान रहता है। माता के रूप में नारी बालक में नैतिकता के संस्कार भी जागरित करती है। अनेक रूपों में नारी का मातृत्व और धातृत्व पुरुष की तुलना में कहीं अधिक रचनात्मक है।

नारी की यह रचनात्मकता साक्षात् जीवन में चरितार्थ होती है। इसी कारण संस्कृति के क्षेत्र में भी उसकी रचनात्मकता साक्षात् जीवन के सम्बन्ध को लेकर ही सफल हुई है। लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन का ही सांस्कृतिक रूप है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि की अभिजात संस्कृति जीवन के कुछ वास्तविक तथा काल्पनिक तत्वों को ग्रहण कर उनमें

सांस्कृतिक सौन्दर्य का सन्निधान करती है। जीवन उसका आंशिक विषय बन जाता है। वह रचना के 'रूप' में जीवन के अंश का समन्वय करती है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को ही साध्य मानकर उसमें सांस्कृतिक रूप का सन्निधान करती है। अभिजात संस्कृति रचना को सजीव बनाने का प्रयत्न करती है, जबकि लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को सांस्कृतिक बनाती है। अतः लोक-संस्कृति को जीवन्त संस्कृति कहना अत्यन्त उचित है।

अभिजात संस्कृति और लोक-संस्कृति का यह भेद बहुत कुछ पुरुष और नारी के अस्तित्व एवं स्वभाव की भिन्नता के अनुरूप है। साक्षात् जीवन और लोक के सन्दर्भ में नारी की मौलिक रचनात्मकता ने उसे जीवन्त लोक-संस्कृति का केन्द्र बना दिया है। विश्व के समाजों में लोक-संस्कृति का आनुपातिक विकास तथा भारतीय लोक-संस्कृति का विपुल रूप संस्कृति के सन्दर्भ में नारी की इस केन्द्रीयता को प्रमाणित करती है।

सामान्यतः लोक-संस्कृति संसार के सभी आदिम समाजों की मौलिक विभूति है। सभ्यता के आरम्भ काल में ही संसार के सभी समाजों में किसी न किसी रूप और परिमाण में लोक-संस्कृति का विकास हुआ। किन्तु इस भूमण्डल के सभी भागों की प्राकृतिक स्थिति एकसी नहीं है। संस्कृति का विकास मुख्यतः मनुष्य के संकल्प से होता है। प्राकृतिक स्थिति की भिन्नता के अतिरिक्त संस्कृति की दिशा में सभी समाजों का अध्यवसाय भी एक समान नहीं रहा। इस प्रकार प्रकृति परिस्थिति तथा आत्मिक संकल्प की विभिन्नता के कारण संसार के विभिन्न भागों में लोक-संस्कृति का विकास विभिन्न रूपों एवं परिमाणों में हुआ है।

अधिक ठंडे अक्षांशों के शीत एवं अनुर्वर भूभागों के निवासियों के जीवन में जीविका का संघर्ष इतना अधिक रहा कि वे संस्कृति की दिशा में अधिक विकास नहीं कर सके। भूमध्य रेखा के अत्यन्त उष्ण प्रदेश में अधिक गर्मी के कारण लोग व्याकुल रहे तथा सघन वनों के कारण सभ्यता का अधिक विकास नहीं कर सके। प्राचीनकाल में सभ्यता और संस्कृति का विकास कर्करेखा के निकटवर्ती प्रदेशों में ही हो सका। दक्षिणी चीन, भारत, ईरान, मैसोपोटामिया, मिस्र, ग्रीस और मैक्सिको, जो प्राचीन सभ्यता के केन्द्र रहे हैं, कर्करेखा के क्षेत्र में ही हैं। इन सब

देशों में भारतवर्ष सबसे अधिक विशाल, उपजाऊ, समृद्ध, सुन्दर और सुरक्षित है। इसी कारण प्राचीनकाल में अभिजात संस्कृति और लोक-संस्कृति दोनों का सबसे अधिक उत्कर्ष भारतवर्ष में ही हुआ। आधुनिक युग में विज्ञानों की सहायता से सभ्यता का विकास सरल हो जाने के कारण अभिजात संस्कृति का समधिक विकास लगभग सभी देशों में सम्भव हो सका है। किन्तु लोक-संस्कृति की जितनी समृद्धि भारतवर्ष में हुई, उतनी संसार के किसी अन्य देश में सम्भव नहीं हो सकी।

प्रकृति की उदारता तथा संकल्प की क्षमता के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था में परिवार और नारी का महत्व भी इसका कारण है। अधिक शीत और अधिक उष्ण प्रदेशों में जीविका के संघर्ष के कारण समाज में पुरुष की प्रधानता रही। कर्करेखा के अन्य प्रदेश भी नारी को इतना मान नहीं दे सके, जितना कि उसे प्राचीन भारत की समाज-व्यवस्था में मिल सका। कृषि की प्रधानता ने परिवार को स्थिर तथा नारी को गृहस्वामिनी बनाया। उदार सांस्कृतिक धारणाओं के द्वारा एक दिव्य दाम्पत्य की कल्पना सम्भव हो सकी। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी आदि देवता इस दिव्यदाम्पत्य के आदर्श एवं प्रेरक बने। अनुसूया, सीता, सावित्री, दमयन्ती आदि के आदर्श नारी की प्रेरणा बने। शक्ति-परम्परा से प्रेरित होकर नारी का मातृत्व उसकी महिमा का आधार बना। पार्वती-परमेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधे-श्याम आदि के युग्मों में नारी की प्राथमिकता भाषा के संस्कारों में प्रमाणित होती है। लक्ष्मी आदि दिव्यशक्तियों के रूप में नारीत्व की महिमा धर्म के दिव्य लोक में भी प्रतिष्ठित होती है। पिता की तुलना में माता की महत्ता नारी की श्रेष्ठता को हमारे सामाजिक आचार की परम्परा में रूढ़ बनाती है।

इसके अतिरिक्त समस्त सांस्कृतिक आचार में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका हमारी परम्परा की विशेषता है। कृषि की प्रधानता तथा अन्य कारणों से परिवार ही लोक-संस्कृति का केन्द्र रहा है। लोक-संस्कृति के पर्व, व्रत, उत्सव, संस्कार आदि परिवार के पीठ पर ही सम्पन्न होते रहे हैं। परिवार की सीमा से बाहर नगर और ग्राम के सार्वजनिक स्थल भी सांस्कृतिक पर्वों के क्षेत्र बन जाते हैं, फिर भी परिवार के केन्द्र से उनका सूत्र विच्छिन्न नहीं होता। एक प्रकार से संस्कृति के इस विस्तार में

परिवार को समाज के साथ संगति स्थापित होती है तथा संस्कृति के आनन्द का विस्तार होता है।

गृहस्वामिनी होने के नाते नारी हमारी इस लोक-संस्कृति का केन्द्र रही है। लोक-संस्कृति के क्षेत्र में नारी की यह केन्द्रीयता अनेक रूपों में प्रकट होती है। बहुत कुछ सीमा तक नारी संस्कृति की परम्परा की रक्षक और संचालक है। लोक-संस्कृति की सम्पूर्ण परम्परा शास्त्रीय नहीं है, पर्व, व्रत, त्यौहार, संस्कार आदि के अनेक आचार-विधान स्त्रियों की स्मृति एवं उनके निर्देश के आधार पर ही चलते हैं। सम्पूर्ण लोक-संस्कृति पौरोहित्य और शास्त्रों के अधिकार में सीमित नहीं है। शास्त्र-कारों ने भी लोक-संस्कृति के आचारों के प्रसंग में स्त्रियों के अधिकार को स्वीकार किया है। बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में पुरोहितों को आदेश दिया है कि लोक-संस्कृति के आचारों के अवसर पर उन्हें वही करना चाहिए, जो स्त्रियाँ कहें (यथा स्त्रियः ऊचुः) बौधायन का यही आदेश उस जनप्रवाद का आधार है, जिसे प्रायः बुढ़ियापुराण कहा जाता है। सारांश यह है कि स्त्रियाँ विशेषतः वृद्धायें लोक-संस्कृति के अधिकांश आचारों और विधानों की अधिष्ठात्री है। इस प्रकार वे लोक-संस्कृति की संचालक होने के साथ-साथ रक्षक भी हैं।

किन्तु इसके साथ-साथ वे संस्कृति के आचारों की निर्वाहक तथा संस्कृति के गौरवमय अनुग्रह की पात्र भी हैं। हमारी लोक-संस्कृति के अनेक रूप हैं। पर्व, उत्सव, व्रत, संस्कार आदि इनमें मुख्य हैं। लोक-संस्कृति के अधिकांश रूप परिवार के पीठ पर ही सम्पन्न होते हैं। लोक-संस्कृति के अधिकांश आचारों का संचालन, निर्देशन, निर्वहन और पालन स्त्रियाँ ही करती हैं। कुछ आचारों में पुरोहितों का भी सहयोग रहता है, किन्तु पुरोहितों के शास्त्रीय विधानों के साथ-साथ तथा उनके अतिरिक्त अनेक विधि-विधान स्त्रियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं। पुरोहितों के विधानों में भी स्त्रियों का भाग एवं उनकी भूमिका रहती है। पुत्रजन्म, विवाह आदि के अवसरों पर पुरोहितों का कार्य तो थोड़ा ही होता है। इन अवसरों के विपुल आचार स्त्रियों के द्वारा ही संचालित और पालित होते हैं। माता, पत्नी, बहन, आदि विभिन्न रूपों में नारी ही लोक-संस्कृति के अधिकांश नाटकों की नायिका रहती है।

नारी की इस भूमिका के कार्य अनेक हैं तथा वे सम्पूर्ण सांस्कृतिक आचार की गतिविधि में पद-पद पर सम्पन्न होते हैं। तिलक, आरता, अर्घ्य, ग्रन्थि-वन्धन आदि नारी के द्वारा सम्पन्न होने वाले ऐसे कार्य हैं, जो सम्पूर्ण सांस्कृतिक पर्व के पारायण को अनेक वार आवृत्त होने वाले सम्पुष्ट बीज की भाँति पूर्ण एवं सफल बनाते हैं। सांस्कृतिक पर्वों और संस्कारों की व्यापक भूमिका स्त्रियों के द्वारा सम्पन्न होने वाले भूमि-आलेखन, भित्ति-लेखन, गायन-नर्त्तन आदि के द्वारा निर्मित्त होती है। इनके अतिरिक्त संस्कार के वीच अनेक अवसरों पर नारियां पात्र का तिलक करती हैं। वहनें आरता उतारती हैं। भाभियाँ काजल लगाती हैं। बहनें कन्यादान आदि के अवसर पर दम्पत्तियों का ग्रन्थि-वन्धन करती हैं। नृत्य, गायन, शृंगार, हास्य-विनोद, आतिथ्य आदि के द्वारा नारियाँ साँस्कृतिक पर्वों की व्यापक, सुन्दर एवं मंगलमयी भूमिका रचती हैं।

इस प्रकार संस्कृति की परम्परा का स्मृति में धारण और व्यवहार में रक्षण करने के अक्तिरिक्त नारियां सांस्कृतिक आचारों के प्रसंग में अनेक विधियों का निर्वाह भी करती है। इन दो रूपों में लोक-संस्कृति के क्षेत्र में नारियों की केन्द्रीयता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरे रूप में संस्कृति के क्षेत्र में नारी की केन्द्रीयता कदाचित इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस तीसरे रूप में नारी स्वयं साँस्कृतिक सौन्दर्य के अनुग्रह का पात्र बनती है। विवाह, पुत्रजन्म आदि के अवसर इसके मुख्य उदाहरण हैं। दाम्पत्य और वात्सल्य के पर्व एवं व्रत नारी की इस तीसरी भूमिका के महत्व को वढ़ाते हैं। सांस्कृतिक आचारों के धारण, संचालन, निर्वहण और पालन में वह अपने सांस्कृतिक कर्त्तव्य के द्वारा संस्कृति की परम्परा में अपना योगदान देती है तथा समाज को संस्कृति की विभूति प्रदान करती है। किन्तु इस तीसरे रूप में नारी को समाज से प्रतिदान के रूप में जीवन का गौरव और संस्कृति का वैभव मिलता है।

विवाह का सम्वन्ध और संस्कार लोक-संस्कृति में नारी की भूमिका के इस तीसरे रूप का मुख्य सूत्र है। नारी इस सम्वन्ध की केन्द्र है। लोक-संस्कृति के आचारों में नारी की पात्रता के पर्व दाम्पत्य के पीठ पर

हीं सम्पन्न होते हैं। दाम्पत्य स्त्री-पुरुष का शास्त्रविहित और समाज-सम्मत सम्बन्ध है। पारस्परिक होते हुए भी नारी के लिए यह सम्बन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध की और जो कुछ सीमायें हों, किन्तु इस सम्बन्ध ने नारी को आदिम अरक्षित अवस्था से उबार कर सुरक्षित बनाया है। कदाचित् शिव के अनुग्रह से मनुष्य-समाज को सभ्य जीवन का यह वरदान मिला है। इसीलिए स्त्रियाँ अनेक अवसरों पर शिव-गौरी की पूजा करती हैं। विवाह के संस्कार का उत्सव कन्या के घर पर ही अधिक होता है। यह भी विवाह और दाम्पत्य में नारी की केन्द्रीयता का प्रमाण है।

विवाह और दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पर्व एवं संस्कार भारतीय परम्परा में मनाए जाते हैं। उनका क्रम विवाह के बाद भी बना रहता है। दाम्पत्य का सूत्र सहकर्म, ग्रन्थि-बन्धन आदि के रूप में इन अवसरों में अनुस्यूत रहता है। दाम्पत्य के पीठ पर प्रसव और वात्सल्य के पर्व सम्पन्न होते हैं। विवाह की भाँति गर्भ धारण, प्रसव आदि के प्राकृतिक अवसर भी सांस्कृतिक पर्वों के रूप में मनाए जाते हैं। नारी ही इन पर्वों का केन्द्र होती है। प्रसव के बाद सन्तान के नामकरण, चूड़ाकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह आदि की परम्परा में दाम्पत्य और वात्सल्य का प्रस्तार होता है। इस परम्परा में भी नारी ही संस्कृति का केन्द्र बनी रहती है। इस क्रम के द्वारा दाम्पत्य और वात्सल्य के सूत्र संस्कृति की अनन्त परम्परा बन जाते हैं। नारी की केन्द्रीयता का बिन्दु जीवन के क्षितिज की अनन्त सुवर्ण रेखा बन जाता है।

दाम्पत्य और वात्सल्य के सूत्र में गुँथे हुए संस्कृति के इन पर्व-पुष्पों के अतिरिक्त लोक-संस्कृति की परम्परा में व्रतों के ऐसे अनेक पुण्यफल फलते हैं, जिनमें दाम्पत्य एवं वात्सल्य का मधुर रस ही मूर्त्त होता है। अखण्डता दाम्पत्य को दिव्य बनाती है। शिव-पार्वती का अखण्ड दाम्पत्य इसका आदर्श है। अनेक अवसरों पर दाम्पत्य की इस अखण्डता की रक्षा के लिए स्त्रियाँ व्रत रखती हैं तथा प्रायः शिव-पार्वती की पूजा करती हैं। गनगौर, हरितालिका तीज, करक-चतुर्थी वट-सावित्री आदि के व्रत स्त्रियों के सौभाग्य के ही व्रत हैं। दाम्पत्य की अखण्डता ही उनका

सौभाग्य है। अहोई अष्टमी आदि वात्सल्य के व्रत हैं। वात्सल्य भी दाम्पत्य का ही प्रस्तार है।

पर्वों और व्रतों के विधान में नारियों के अधिकार की ही प्रमुखता रहती है। इन सबमें उन्हीं का कर्त्तत्व अधिक रहता है। माँग, बिन्दी, चूड़ी, नूपुर आदि के द्वारा शृंगार का प्रसाधन लोक-संस्कृति की परम्परा में नारियों के स्थान को अलंकृत करता है। संस्कृति की परम्परा में नारी की यह केन्द्रीयता और प्रमुखता नारी के परम गौरव का सूत्र तथा भारतीय संस्कृति के विपुल सौन्दर्य का स्रोत एवं समाज के परम मंगल का मंत्र है।

२३–संस्कृति की परम्परा और रक्षा

संस्कृति मनुष्य की रचना है। संस्कृति की रचनाओं में ही मनुष्य-जीवन की समृद्धि होती है। इस दृष्टि से संस्कृति जीवन की समृद्धि है। कला में रूप की प्रधानता होती है तथा विज्ञान एवं शास्त्रों में तत्व को मुख्य माना जाता है। रूप और तत्व भी जीवन के अंग हैं। अतः इनका सम्वर्धन भी जीवन को समृद्ध बनाता है। इसी कारण कला, विज्ञान, शास्त्र आदि को संस्कृति के अन्तर्गत गिना जाता है। किन्तु इनको ही संस्कृति का सर्वस्व मानना उचित नहीं है, यद्यपि संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश ग्रन्थों में संस्कृति को कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, शास्त्र आदि की सामूहिक संज्ञा माना है। इन ग्रन्थों में संस्कृति के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप की उपेक्षा की गई है, जिसे हमने जीवन्त संस्कृति का नाम दिया है। भारतीय संस्कृति के संदर्भ में इस जीवन्त संस्कृति का विचार करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जीवन्त संस्कृति की परम्परा भारतीय जीवन की अनुपम विभूति है। जीवन्त संस्कृति की ऐसी समृद्ध परम्परा कदाचित् ही संसार के किसी अन्य देश में मिल सकेगी।

जीवन्त संस्कृति को समाज में व्यापक होने के नाते लोक-संस्कृति कहा जा सकता है। फिर भी दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर देखा जा सकता है। लोक-संस्कृति अपनी वर्तमान अवस्था में जीवन्त-संस्कृति कही जा सकती है, किन्तु अनेक समाजों की लोक-संस्कृतियाँ ऐतिहासिक बन गई हैं। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और ग्रामीण एवं नागरिक जीवन में समान रूप से व्याप्त होने के साथ-साथ अभी तक समाज की एक जीवन्त परम्परा के रूप में वर्तमान है। यह भारतीय संस्कृति की एक अनुपम विशेषता है।

यह जीवन्त भारतीय संस्कृति रूपों और भावों दोनों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। लोक-संस्कृति तथा जीवन्त संस्कृति में रूप के अल्प आधार में ही विपुल भाव का समवाय होता है, जब कि कला में रूप की प्रधानता होती है। कला में भी रूप और तत्व (भाव) का समन्वय अभीष्ट होता है, फिर भी रूप ही कला की विशेषता है। रूप ही सौन्दर्य

है और कला सौन्दर्य की ही रचना है। सभ्यता और संस्कृति के विकास में कला व्यक्तिगत कृतित्व बन गई है। कलाकृतियों का आस्वादन भी प्राय: व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग किया जाता है। उनकी रचना और उनके आस्वादन में कोई व्यापक लोक-भाव नहीं रहता। कलाकृति में जो कुछ भाव सन्निहित होता है, वह उनके स्वरूप में तत्व के रूप में ही समाहित रहता है। लोक-संस्कृति की रचनाएँ व्यक्तिगत नहीं होतीं। उसके अनेक रूपों की रचना लोक बार-बार करता रहता है। इस व्यापक रचना में विपुल भाव का उदय होता है। उसके आस्वादन में भी लोक-सागर में विपुल भाव के ज्वार उठते हैं। भावोल्लास के इस सागर में लोक-कला की व्यक्तिगत कर्तृत्व से रचित धाराएँ भी निमग्न हो जाती हैं। भारतीय पर्व लोक-संस्कृति के उत्तम उदाहरण हैं। महाभारत, पुराण, आल्हखण्ड, रामचरितमानस, सूर के पद आदि कला की उन धाराओं के उदाहरण हैं, जो इस लोक-संस्कृति के सागर में निमग्न हो जाती हैं।

कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि भी नि:सन्देह संस्कृति के अंग हैं। उनका भी अपना स्थान और महत्व है। किन्तु वे सम्पूर्ण जीवन को लोक-संस्कृति के समान भावनिर्भर नहीं बनाते। कला और साहित्य जीवन के कुछ पक्षों को भावतत्व के रूप में ग्रहण करते हैं। दर्शन जीवन के तत्व का विचार करता है। धर्म भी एकांगी रहता है। इसके विपरीत लोक-संस्कृति साक्षात् जीवन को भावविभोर बनाती है। भारतीय लोक-संस्कृति की यह अद्भुत विशेषता है कि वह सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न रूपों में समाहित कर उसे विपुल भाव से समृद्ध बनाती है। साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन का यह रूपान्तर भारतीय संस्कृति का अद्भुत चमत्कार है। सभी रूपों में संस्कृति का प्रयोजन जीवन को समृद्ध बनाना है। प्रकृति जीवन का निम्नतम रूप है। आत्मा समृद्धिशील है, इसीलिए उसको ब्रह्म कहते हैं। आत्मिक संकल्प से रचित संस्कृति का उद्देश्य जीवन को समृद्ध बनाना ही है। अभिजात संस्कृति भी उसमें अपना योग देती है, किन्तु लोक-संस्कृति संस्कृति का वह जीवन्त रूप है, जो साक्षात् जीवन को ही सौन्दर्य और भाव से संवर्धित करती है। लोक-संस्कृति का सबसे अधिक समृद्ध रूप भारतीय लोक-संस्कृति में मिलता है। वह सम्पूर्ण और साक्षात् जीवन को अमित सौन्दर्य और भाव से भरकर आनन्द के स्वर्गिक क्षितिजों की ओर बढ़ाती है।

सभी रूपों में संस्कृति एक परम्परा है। अभिजात कलाओं में नए-नए रूपों की रचना होती है। इस प्रकार उसमें नवीन रचनाओं की परम्परा चलती है। लोक-संस्कृति में नवीन रूपों की रचना नहीं होती, वरन् पुराने ही रूपों की पुन: पुन: रचना और आराधना होती है। पुराने रूपों की यह व्यापक रचना लोक-संस्कृति को अधिक जीवन्त और लोकप्रिय बनाती है। अभिजात कला समाज के लिए एक धरोहर के समान होती है। उसी रूप में वे उसकी रक्षा करते हैं। लोक-संस्कृति समाज की अपनी सम्पत्ति और विभूति होती है। उसमें उसका अधिक अपनापन और अधिकार होता है। इसीलिए वह अधिक आनन्दप्रद भी होती है। किन्तु व्यक्तिगत न होने के कारण लोक प्राय: इस सामाजिक विभूति की उपेक्षा भी कर देता है। इसीलिए लोक-संस्कृति का प्राय: ह्रास भी होता है।

जिस प्रकार संस्कृति का सबसे अधिक समृद्ध रूप भारतीय परम्परा में मिलता है, उसी प्रकार संस्कृति के ह्रास का सबसे अधिक खेदजनक उदाहरण भी भारत के अतीत और वर्तमान में मिलता है। अत्यन्त प्राचीनकाल में जब आज के सभ्य कहलाने वाले देश बर्बर अवस्था में थे तथा उनकी सभ्यता के इतिहास का आरम्भ भी नहीं हुआ था, मानव सभ्यता के उस आदि काल में भारतवर्ष में एक अत्यन्त समृद्ध संस्कृति की रचना हुई थी। भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, लोक-संस्कृति आदि सभी रूपों में भारत की यह रचना अत्यन्त सम्पन्न थी। प्राचीन काल की अनेक सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ आततायियों के आक्रमण से नष्ट हो गई। अनेक प्राचीन देशों के इतिहास भी बदल गए। उनमें अनेक देश आक्रमणकारियों के द्वारा पराजित होकर उनके आवास बन गए तथा अपनी मौलिकता खो बैठे।

भारत का यह सौभाग्य और प्रताप है कि आक्रमणकारियों के अत्याचार और शासन से शताब्दियों तक पीड़ित रहते हुए भी भारत उक्त देशों की भाँति पूर्णत: पराजित और नष्ट नहीं हुआ। उसका इतिहास विक्षुब्ध और विकृत अवश्य हुआ, किन्तु वह पूर्णत: समाप्त अथवा परिवर्तित नहीं हुआ, जैसा कि दूसरे प्राचीन देशों में हुआ। फिर भी भारत के इतिहास और उसकी संस्कृति को पिछली शताब्दियों में बहुत

आघात पहुँचा। उसके विकास का क्रम रुक गया तथा उसकी संस्कृति की भी बहुत क्षति हुई। संस्कृति की इस क्षति में आक्रमणकारियों की बर्बरता का बहुत हाथ रहा। किन्तु अपनी स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा में इतना विशाल और महान देश इतना असमर्थ रहा, यह भी शोचनीय है। जहाँ वेदों में पराक्रमी इन्द्र की पूजा हुई, असुरसंहारक शिव और विष्णु जहाँ लोकप्रिय देवता बने, जहाँ दुष्टों के विनाशन के लिए राम और कृष्ण के अवतार हुए, वहाँ का विशाल लोक-समाज आक्रमणों से सचेत होकर अपनी स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा नहीं कर सका, यह भारत के इतिहास की एक अत्यन्त शोचनीय विडम्बना है।

यह ठीक है कि आक्रमणकारियों के विरुद्ध भारत के वीरों ने बहुत पराक्रम दिखाया तथा अतुलनीय त्याग, बलिदान और साहस के उदाहरण प्रस्तुत किए। किन्तु इन सबके द्वारा भी भारत की स्वाधीनता की रक्षा नहीं हो सकी। अपने इतिहास की इस विडम्बना के लिए हम परिस्थितियों को भी दोषी नहीं ठहरा सकते। प्राचीन अथवा वर्तमान काल में एक विशाल और शक्तिशाली देश के सामने एक छोटे और दुर्बल देश की पराजय को विवशता कहा जा सकता है। किन्तु भारत के सामने ऐसी विवशता नहीं थी। जिन आक्रमणकारियों ने भारत को पराजित किया, उन्हें हम बर्बर कह सकते हैं, किन्तु वे किसी अधिक संख्या वाले देश के निवासी नहीं थे। जलवायु आदि की दृष्टि से भारतवर्ष संसार का सबसे सुन्दर देश है। अतः भारत में जनसंख्या का बाहुल्य अन्य देशों की तुलना में सदा ही रहा। धर्म और संस्कृति के रूप में एकता के आधार भी प्राचीनकाल से ही विद्यमान थे। इतने विशाल जनसमूह को एकता के इतने आधार चीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश को उपलब्ध नहीं रहे। किन्तु चीन से हमारा ऐसा विरोध नहीं रहा। हिमालय भी अब तक चीन से हमारा रक्षक बना रहा। पश्चिम की दिशा से जिन आक्रमणकारियों ने स्थल और जलमार्ग से आकर हमें बार-बार पराजित किया, वे किसी विशाल देश के निवासी नहीं थे। फिर भी उन्होंने हमें पराजित और शासित किया। पराधीन शासन में हमारी स्वाधीनता के साथ-साथ हमारी संस्कृति की भी बहुत क्षति हुई। आज स्वाधीन होकर हमें अपने इतिहास की इन विडम्बनाओं का विश्लेषण करना होगा। साथ ही यह भी

विचार करना होगा कि आज स्वाधीन होकर भी हम अपनी समृद्ध और मूल्यवान संस्कृति की ओर से क्यों विमुख हो रहे हैं।

अपने इतिहास की विडम्बना और भविष्य की आशंकाओं का मूल हमें आक्रमणकारियों की शक्ति में नहीं, वरन् अपने समाज और समाज के नेतृत्व की दुर्बलताओं में खोजना होगा। इसके साथ-साथ हमें समाज के जागरण और संस्कृति के संरक्षण के उपायों का अनुसंधान भी करना होगा। जो आक्रमणकारी भारत को पराजित और शासित करते रहे, वे किसी बड़े देश के वासी नहीं थे। प्राचीनकाल में पश्चिम में कोई बड़े देश नहीं थे। आज भी अफगानिस्तान से लेकर ब्रिटेन तक कोई बड़ा देश नहीं है। पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में अधिक बड़े राज्य थे। चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन आदि के राज्य जितने विशाल थे, उतने विशाल राज्य पश्चिम में पहले नहीं रहे और अब भी नहीं हैं।

छोटे देशों के शासकों ने किस प्रकार इस विशाल देश को पद-दलित और पराजित किया, यह हमारे इतिहास का एक कठिन प्रश्न है, जिसको हमारे इतिहासकारों और नेताओं ने समुचित ध्यान नहीं दिया। सामान्य रूप से यही कहा जाता है कि भारतीय समाज में संगठन और एकता का अभाव था। संगठन और एकता ही शक्ति के सूत्र हैं। आक्रमणकारियों ने एक-एक राजा को अलग-अलग पराजित कर सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में कर लिया। यह भारत के इतिहास की पर्याप्त व्याख्या तो नहीं कही जा सकती, फिर भी इस संदर्भ में यह सोचना होगा कि धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत कुछ एकता होते हुए भी ऐसा शक्तिशाली संगठन क्यों नहीं हो सका, जिससे आक्रमणकारियों को पराजित कर स्वाधीनता और संस्कृति की रक्षा की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी विचार करना होगा कि बड़े राज्य और अधिक सेना वाले कोई भी राजा अकेले ही आक्रमणकारियों को पराजित क्यों नहीं कर सके। एक बात और भी विचारणीय है कि मुगल-साम्राज्य से पहले के दुर्बल विदेशी शासकों के प्रति भी भारत में विद्रोह क्यों नहीं जग सका।

यह ठीक है कि एकता और संगठन ही शक्ति के सूत्र होते हैं। भारत में इस सूत्र का संवर्धन क्यों नहीं हो सका। एकता और संगठन के

सूत्र का संधान और संवर्धन नेता करते हैं। जहाँ कहीं भी यह सम्भव हुआ है, वहाँ यह नेताओं की प्रेरणा से ही हुआ है। नेता राजनीतिक ही नहीं होते, वरन् कवि, लेखक, विचारक, समाजसेवक आदि भी नेता होते हैं। किसी लक्ष्य की ओर ले जाने वाले को नेता कहते हैं। जब नेता लक्ष्य को सर्वोपरि मानकर और अपने को उसका प्रतिनिधि मानकर समाज को प्रेरित करता है, तो समाज में एकता और संगठन के द्वारा शक्ति जागरित होती है। इस प्रसंग में दो भ्रान्तियाँ हो सकती हैं। इन भ्रान्तियों ने ही भारत के इतिहास को भटकाया। एक भ्रान्ति तो लक्ष्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में हो सकती है कि लक्ष्य समाज को वास्तव में प्रेरित करने योग्य है अथवा नहीं तथा वास्तव में प्रेरित करता है अथवा नहीं। दूसरी भ्रान्ति प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में हो सकती है कि नेता अपने को वास्तव में लक्ष्य का प्रतिनिधि बना सका है अथवा नहीं। अभिप्राय यह है कि नेता लक्ष्य को साध्य मानकर अपने को साधन मानता है अथवा स्वयं ही साध्य बन बैठता है।

इन भ्रान्तियों का निवारण विवाद से नहीं हो सकता। इनका निवारण प्रत्यक्ष परिणाम ही कर सकते हैं। लक्ष्य को सर्वोपरि मानकर उससे प्रेरित होने वाले समाज में निश्चित रूप से एकता और शक्ति जागरित होती है। दूसरी भ्रान्ति का निवारण और भी अधिक सरल है। जहाँ नेता लक्ष्य के प्रतिनिधि होते हैं, वहाँ लक्ष्य से प्रेरित संगठित और सशक्त समाज लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। वहाँ एकता की शक्ति से सुरक्षा, सफलता और प्रगति सम्भव होती है। किन्तु जहाँ नेता लक्ष्य को साध्य नहीं बना पाते और स्वयं ही साध्य बन जाते हैं, वहाँ नेताओं की पूजा होने लगती है और समाज पतन की ओर बढ़ने लगता है। यह विफल नेतृत्व का रूप है। भारत में ऐसा ही विफल नेतृत्व रहा है और उसका कारण यही है कि भारत के नेता एक प्रेरणा के योग्य लक्ष्य को साध्य बनाकर उसके प्रतिनिधि नहीं बन सके। वे अपने को साध्य बना कर स्वयं ही एक पराजित समाज की पूजा के पात्र बन गये।

धार्मिक नेता भी धर्म को एकता का अवलम्ब नहीं बना सके, वरन् इसके विपरीत वे निरन्तर नए धर्म-सम्प्रदाय बनाते रहे और वे इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक के रूप में पूजित रहे। धार्मिक क्षेत्र में तो 'बहवो यत्र

नेतारः' की कहावत चरितार्थ होती रही। सन्तों की जैसी परम्परा भारत में रही, वैसी कदाचित् ही किसी देश में रही होगी। मध्यकालीन भारत में सन्तों का ही नेतृत्व प्रमुख रहा। इसकी छाया हमारे आधुनिक राजनैतिक नेतृत्व पर भी रही। महात्मा गान्धी का नेतृत्व इसी छाया में पलने वाला निष्फल वृक्ष था। आज उस नेतृत्व का कोई भी फल ढूंढ़े भी नहीं मिल सकेगा।

संस्कृति के संदर्भ में यह कहना होगा कि संस्कृति की महिमा और एकता को हमारे नेताओं ने नेतृत्व का आधार नहीं बनाया। सन्त और आचार्य धार्मिक एवं दार्शनिक थे। वे संस्कृति की उपेक्षा करते रहे तथा विश्वजनीन मानवीय भावनाओं के संदेश देते रहे। यह संदेश राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा में सहायक नहीं हो सकते। राष्ट्रीय होने के नाते संस्कृति रक्षा की प्रेरणा बन सकती है, यद्यपि वह स्वयं भी रक्षणीय है। सन्तों और आचार्यों की भाँति हमारे राजनैतिक नेता भी संस्कृति का तिरस्कार करते रहे। भारत की जिस महान और विपुल संस्कृति का परिचय हमने पिछले अध्यायों में दिया है, उसके प्रति श्रद्धा का भाव हमारे धार्मिक, दार्शनिक और राजनैतिक नेताओं के विचारों में नहीं मिल सकेगा।

स्वाधीनता के बाद राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ इतने प्रबल हो गए कि संस्कृति का कोई महत्व नहीं रहा। वह श्रद्धा की आस्पद न रह कर उपचार की वस्तु रह गई। समाज के प्रमुख जनों की राजनैतिकता और आर्थिकता का प्रभाव जनता में बढ़ रहा है। जो जनता अब तक श्रद्धापूर्वक संस्कृति की रक्षा करती रही, वह भी अब उससे विमुख हो रही है। शिक्षा और समाज में पश्चिमी प्रभाव बढ़ रहा है। संस्कृति की परम्परा क्षीण हो रही है। अपनी संस्कृति को खोकर हमारा जीवन कितना शून्य हो जाएगा, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। संस्कृति जीवन की समृद्धि है। किन्तु शिक्षा और परम्परा के द्वारा सुरक्षित रह कर ही वह हमारे जीवन को सुन्दर बना सकती है।
